पूज्यपाद भगवान् महर्षिभरद्वाजकृत—

कर्ममीमांसादर्शन

क्रियापाद और मोक्षपाद

आविष्कर्ता और भाष्यकार

पूज्यपाद भगवान् महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

प्रकाशक

श्रीभारतधर्म महामण्डल

(महामाया-ट्रष्टनिधिसे प्रकाशित)

संवत् २००६]

[मूल्य ५)

मुद्रक—विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस, जतनबर, बनारस।

प्राक्कथन

अघटनघटना-पटीयसी अचिन्त्य अनन्त शक्तिमयी श्रीजगदम्बाकी असीम अनुकम्पासे अनेक आपत्तियों और बाधाओंको अतिक्रमणकर भगवान् महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनका क्रियापाद और मोक्षपाद ज्ञान-पिपासु जिज्ञासुओंके कल्याणके लिये प्रकाशित हो रहा है। इस दर्शनके प्रथम दो पाद, धर्मपाद और संस्कारपाद सभाष्य सम्वत् १९८३ एवं १९८६ में प्रकाशित हुए थे। दैवदुर्विपाकसे अनेक आसुरी बाधाओंके कारण इन दो पादोंका प्रकाशन बन्द हो गया था, और यह अनमोल ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हो पाया था। बड़े आनन्दका विषय है, कि असुर-संहारिणी श्रीजगन्माताकी असीम कृपासे इस वर्ष यह अमूल्य ग्रन्थरत्न प्रकाशित किया जा सका है।

श्रीभारत धर्ममहामण्डलके संस्थापक और संचालक मेरे परमाराध्य गुरुदेवप्रभु परमहंसपरिव्राजकाचार्य परम पूज्यपाद श्री ११०८ भगवान् स्वामी ज्ञानानन्द महर्षिने अपने समाधियोगसे सहस्रों वर्षोंसे लुप्त उपासना मीमांसा-का दर्शन दैवीमीमांसादर्शन तथा इस कर्ममीमांसादर्शनका आविष्कार किया था। महर्षि भरद्वाजकृत यह कर्ममीमांसादर्शन धर्मपाद, संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपाद नामक चार पादोंमें सम्पूर्ण हुआ है। जैसा कि, ऊपर कहा गया है, इसके प्रथम धर्मपाद एवं संस्कारपाद दो भागोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। शेष दो भाग क्रियापाद और मोक्षपाद एक साथ अब प्रकाशित हुआ। इस प्रकार अब यह दर्शनग्रन्थ पूर्ण हुआ, जिससे दार्शनिक जगत्के भारी अभावकी पूर्ति हुई।

जिस प्रकार कोई सम्राट् अपने साम्राज्यके शासन एवं सुव्यवस्थाके लिये विविध विधान बनाता है, और उन्हींके अनुसार अपने राज्यका

शासन करता है, उसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके शासक और सम्राट्, जिनके समान दूसरा कोई शासक नहीं है और जिनके विषयमें श्रुति कहती है कि—

तमीश्वराख्यं परमं महेश्वरम् ।
तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥
पतिं पतीनां परमं परस्तात् ।
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

अर्थात् सब ईश्वरोंके परम महेश्वर, सब देवताओंके परम देवता, सब पतियोंके पति, परेसे भी परे, निखिल ब्रह्माण्डके स्वामी उस परम वन्दनीय देवको हम जानते हैं।

सर्वोपरि शासक एवं अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके नियामक परमात्माका जो विधान है, उसीका नाम कर्म है। भगवान्‌के विधानरूपी इस कर्म-शृङ्खलामें देव-दानव-मानव सभी नाथे हुए बैलकी तरह जकड़े हुए हैं। किसीकी शक्ति नहीं जो परमेश्वरके इस कर्मरूपी विधानका अतिक्रमण कर सके। सभीको अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार शुभाशुभ फलोंका भोग करना ही पड़ता है—

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भगवद्गीतामें कर्मसे प्रकृति और ब्रह्म तथा जीवोंका सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् अन्नसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है, वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञसे वर्षा होती है, यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्म अर्थात्

प्रकृतिसे उत्पन्न जानो, इस कारण सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञमें नित्य विराजमान हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके इस वर्णनमें भगवान् कृष्णचन्द्रने कर्मसे सृष्टि और पालनका रहस्य सूत्ररूपसे बताया है। इतने बड़े कर्मराज्यका विवेचन-करनेवाले दर्शनका महत्त्व सर्वोपरि होगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं; किन्तु काल-प्रभावसे कई सहस्त्र वर्षोंसे वैदिक कर्मकाण्डकी मीमांसाका पूर्वार्द्ध यह कर्ममीमांसादर्शन लुप्त हो गया था। मनुष्य-जातिके सौभाग्यसे ऐश शक्तिसम्पन्न योगीन्द्रशिरोमणि, पूज्यपाद भगवान् स्वामी ज्ञानानन्द महर्षिने अपने समाधियोगसे भगवान् महर्षि भरद्वाजके अनुग्रहसे इसे प्राप्त किया और मानवमात्रके कल्याणके लिये इसपर राष्ट्रभाषा हिन्दीमें विस्तृत प्राञ्जल भाष्यका भी प्रणयन किया।

इस दर्शनके क्रियापाद नामक तृतीय पादमें क्रियाका नैसर्गिक हेतु, उसके विस्तार और विकासका रहस्य, कर्मका साक्षात् फल, क्रियाके भेद और विज्ञान, कर्मका महत्व और स्वरूप क्रियाका अधिष्ठान-निर्णय, सत्त्वादि-गुणोंका अन्योन्याश्रयत्व, गुणके सम्बन्धसे कर्मका स्वरूप, कर्मकी स्वाभाविक गतिका विज्ञान, कर्मका प्राकट्य और रहस्य, कर्मका नित्यत्व, कर्मका जगत्-कारणत्व, कर्मका त्रिविध स्वरूप, प्रकृति-विज्ञानके सम्बन्धसे वर्णाश्रमकी आवश्यकता अधिकार-भेदकी आवश्यकता, जैव एवं ऐश-कर्मका महत्व, चित्ताकाश, चिदाकाश तथा महाकाशके सम्बन्धसे कर्म-संग्रहका विज्ञान, प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण-सम्बन्धसे संस्कारका त्रैविध्य और प्रत्येकका लक्षण, चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशका स्वरूप, जीवके तीनों शरीरके त्रिविध सम्बन्ध-रहस्य. किन-किन कर्मोंद्वारा कौन-कौन देवता तृप्त होते हैं, इसका रहस्य, कर्म-प्रवाहकी विशेष-विशेष गति, चेतन और जड़से कर्मका सम्बन्ध, प्राकृतिक और स्वतन्त्ररूपसे जीवके द्विविध प्रवाह, दोनोंका कार्यक्रम. सहज कर्मका प्रकृतिके अधीन होना, स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चसे कर्मका सम्बन्ध, सृष्टि और लयका नैसर्गिकत्व, सत्त्वगुणके उदयका विज्ञान, उसका फल और धर्मके साथ उसका सम्बन्ध, कर्मका ब्रह्मरूप होना, महायज्ञका लक्षण और उसके

अधिकारी, यज्ञकी विशेषमहिमा, कर्मके शुभ और अशुभरूपसे द्विविध भेद, सृष्टिकी द्विविध गति, शुभा-शुभ गतिका फल, सुख और दुःखका स्वरूप तथा व्यापकत्व, लौकिक और अलौकिकरूपसे मनुष्यकी विविध शक्तिका विकास, द्वन्द्वक्रिया-विज्ञान, मनुष्ययोनिकी सुरक्षाका विज्ञान, बुद्धिका त्रिविध भेद, क्रियाका नियामक कर्मका सादि-सान्तत्व, देश और कालका स्वरूप तथा उसका अनादि-अनन्तत्व, देश-कालके अनुसार क्रियाका तारतम्य, क्रियाका परिणाम और उसका त्रिविध तथा सप्तविध भेद, भोगका स्वरूप तथा भेद, जन्मान्तर गति, और उसकी विशेषता, स्थूल और सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध, भोगकी उत्पत्ति और स्थितिका रहस्य, भोगका अन्त कैसे होता है, व्यष्टि-सृष्टि-निर्णय, कर्मविपाकका रहस्य, और क्रम, समष्टि सृष्टि और उसका त्रिविध तथा सप्तविध विभाग, चतुर्दश लोक-समीक्षा, भूलोकका विस्तृत विवरण, उसका भेद और महत्त्व, मृत्युलोककी महिमा, आर्यावर्त-महिमा, तीर्थमहिमा, ऋषियोंकी महिमा, त्रिविध अधिकारी और त्रिविध भाव, प्रायश्चित्तके द्वारा कर्मनाशका रहस्य, ज्ञात-अज्ञात पाप और पुण्यका विचार, कर्मलोक और भूलोक, धर्मयुद्धकी आवश्यकता, देवासुर-संग्राम, वेदाधिकार निर्णय, साधारण और विशेष-नियम, युक्तायुक्त कर्मविपाकका स्वरूपनिर्णय, तपोवनका महत्व, वर्णा-श्रमका महत्व, अवतारविज्ञान और कर्मका सर्वश्रेष्ठत्वआदि कर्मके रहस्योंकी दार्शनिक मीमांसा की गयी है।

इसके मोक्षपाद नामक चतुर्थ अन्तिमपादमें सृष्टिका मौलिक रहस्य, ईश्वरका स्वरूप, जीवका लक्षण, मोक्षका स्वरूप, बन्धन और मोक्ष दोनोंका हेतु, मुक्तिके प्रसङ्गसे सृष्टिका रहस्य वर्णन, सृष्टिका स्तर, कामका प्रभाव कामजयका महत्व, स्वाभाविक वृत्तियोंका विश्लेषण, कामजनित दृश्यका गुरुत्व, कामके नष्ट करनेका उपाय, अपवर्गका विज्ञान और उसका मूल-तत्व, व्युत्थानका हेतु, क्लेशका हेतु और उससे बचनेका उपाय तथा चरमफल, संस्कारका भेद और उसका हानोपाय-निर्देश, जीवन्मुक्त पुरुषोंमें कर्मकी स्थिति, चित्ताकाशके साथ प्रारब्धका और चिदाकाशके

साथ क्रियमाण कर्मका सम्बन्ध, क्रियमाणकर्मकी विशेषगति और उसके भोगका स्वरूप, महाकाशके साथ सञ्चितकर्मका सम्बन्ध और उसकी गति, चतुर्विध भूतसङ्घके साथ आकाशका सम्बन्ध, कर्मके लयका विज्ञान, कर्मके भोगसे मुक्तिसमीक्षा, प्रवृत्तिधर्मसे निवृत्तिधर्मकी प्रधानता, मुक्तिका उपाय, यज्ञ और महायज्ञका फल, यज्ञशेषका महत्व, मुक्तिपदका स्वरूप, प्रसङ्गोपात्त कर्मका विभाग, ईश्वरका ईश्वरत्व, ब्रह्माण्डके विचारसे देवता और ऋषियोंका असर्वज्ञत्व, केवल ईश्वरका ही सर्वज्ञत्व, कार्य और कारण-ब्रह्मका निरूपण, अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति, इस दर्शनके आविर्भावका कारण और इसका माहात्म्य, दृश्यप्रपञ्चका हेतु, प्रलयका रहस्य, कालकी अवस्थाओं का स्वरूप, देशका रहस्य, देश और कालसे प्रणवका सम्बन्ध प्रणवका विस्तृत माहात्म्य, ज्ञानी और अज्ञानियोंका भेद, निर्विकल्प समाधि, काल तथा समष्टि कर्मकी प्रतिकूलतामें चलनेपर बाधाओंकी उत्पत्ति-का विज्ञान, स्वास्थ्य-सिद्धि और तत्त्वज्ञान-लाभ करनेका उपाय, आति-वाहिक देहकी गतिका द्विविध-भेद, शुक्लागति और उसका त्रिविधभेद, सप्तम लोकसे सूर्यमण्डल-भेद करनेका उपाय, कृष्णागतिका स्वरूप और उसका धारणानुसार त्रिविधभेद, जीवन्मुक्त-गति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और उससे मोक्षकी उत्पत्ति, काल-क्रिया-द्रव्यके द्वारा क्रियाशुद्धि, दानकी त्रिविधशुद्धि, कर्मयोगका स्वरूप, संगीतसे मोक्षका सम्बन्ध, चतुर्विध अवस्था, आत्माके साथ तुरीयावस्थाका सम्बन्ध, त्रिविध कर्मोंके द्वारा त्रिविध मुक्ति, जीवोंकी छः प्रकारकी वृत्तियां, जीवन्मुक्तकी वृत्तियां, सप्तभेदके अनुसार कर्मोंकी सप्त अवस्थाएँ, चतुर्दश प्रकार जीवोंका अज्ञान और ज्ञाना-धिकार-निर्णय, सप्तज्ञान और अज्ञान-भूमियोंका विकास-क्रम, अधिकार-भेद-की आवश्यकता, जीवन्मुक्तके त्रिविध अनुभव-वर्णन, कर्मयोगका विज्ञान, ज्ञानकी असम्पूर्णता होनेपर जन्मान्तरकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञानके उदयसे मोक्षकी प्राप्ति, मोक्षकी अवस्थाका वर्णन, कर्मका हेतु-निर्णय, विश्वका विज्ञान, कालका लय, कर्मयोगसे वासनाका लय, ज्ञानका रहस्य, मुक्ति-प्राप्तिके अनन्तर कर्मके वेगका स्वरूप, कर्मयोगसे पतनकी असम्भावना, उसमें

स्वार्थका नाश और भगवत्कार्यकी सिद्धि इत्यादि तत्त्वज्ञानात्मक विषयोंकी मीमांसा की गयी है।

समस्त सृष्टिप्रपञ्च केवल कर्मका ही विलासमात्र है, परन्तु कर्मके स्वरूपका शृङ्खलाबद्ध दिग्दर्शनकरानेवाला यह कर्ममीमांसादर्शन सहस्रों-वर्षोंसे लुप्त था। यद्यपि पूज्यपाद भगवान्महर्षि जैमिनिकृत एक कर्ममीमांसा-दर्शन उपलब्ध होता है, परन्तु वह उत्तरार्द्ध है, सम्पूर्ण नहीं है; क्योंकि उसमें केवल वैदिक यज्ञोंकी मीमांसा है, जिसकी इस समय समयकी प्रतिकूलता और साधन-सामग्रीके अभावसे विशेष उपयोगिता नहीं रही है। इस समय कर्मके गम्भीर रहस्योंका उद्घाटन करनेवाला कर्ममीमांसाके इस पूर्वार्द्ध दर्शनकी, जिसके प्रणेता भगवान् महर्षि भरद्वाज हैं, जो दर्शनसिद्धान्त बहुकालसे लुप्त था, बड़ी आवश्यकता और उपयोगिता है। इसप्रकार महर्षि भरद्वाजकृत पूर्वार्द्ध और महर्षि जैमिनिकृत उत्तरार्द्ध दोनों मिलाकर कर्म-मीमांसादर्शनकी पूर्ति हुई। भगवत् पूज्यपाद गुरुदेवप्रभुका अनुभव था कि, मन्त्रशक्ति, तपःशक्ति, और योगशक्ति, जिनका वर्णन शास्त्रोंमें आया है, सब सत्य हैं। अब भी मनुष्य सदाचार और उपासनाद्वारा नित्यपितरोंकी कृपा सुगमतासे प्राप्त कर सकता है। शरीर और मनकी पवित्रता, चित्तका तीव्र संवेग, स्थिर धारणा और ध्यानसिद्धि तथा द्रव्यशुद्धि, क्रिया शुद्धि और मन्त्र-शुद्धिद्वारा साधक देवताओंका दर्शन अवश्य प्राप्त कर सकता है तथा अपने नामरूपके अभिनिवेशको त्याग देने और एकतत्त्वके अभ्यासपूर्वक शरणापन्न होनेसे नित्य ऋषियोंके दर्शन कर कृतकृत्य हो सकता है।

यह सर्वविदित है, परमाराध्य भगवान् गुरुदेवप्रभुने दो सौ ग्रन्थ लिखे, किन्तु किसीमें अपना नाम नहीं दिया, न उन्होंने अपना चित्र ही दिया। फोटोके लिये अन्तरङ्ग प्रिय शिष्योंके अत्यन्त दीनतापूर्ण प्रार्थना करनेपर बड़ी कठिनतासे उन्होने फोटो लेनेकी कभी-कभी अनुमति दी। प्राचीन प्रथा तो यह थी कि, शिष्यगण ग्रन्थ लिखते और अपने गुरुके नामसे प्रकाशित करते थे, परन्तु हमारे परमाराध्य गुरुदेवभगवान्की ठीक

इसके विपरीत रीति थी, भगवान् गुरुदेवप्रभु स्वयं ग्रन्थ लिखवाते और अपने प्रिय सुयोग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजके नामसे उनको प्रकाशित करवाते थे, वे स्वयं नाम-रूपसे दूर रहा करते थे। इसी कारण उनके श्रीविग्रहको केन्द्र बनाकर पूज्यपाद भगवान् महर्षि भरद्वाजने कर्ममीमांसा-दर्शनका पूर्वार्द्ध यह दर्शन और पूज्यपाद भगवान् महर्षि अङ्गिराने उपासनाकाण्डका दैवीमीमांसादर्शन इस युगके जीवोंके कल्याणके लिये प्रकाशित किया।

कर्ममीमांसाका पूर्वार्द्ध इस दर्शनके धर्मपादमें एक सौ चौसठ, संस्कार-पादमें दो सौ सोलह, क्रियापादमें तीनसौ पचपन और मोक्षपादमें दो सौ पचास, इसप्रकार इसमें सब मिलाकर नौ सौ पचासी सूत्र हैं, और सृष्टिसे ब्रह्मसद्भावतक कर्मसम्बन्धी सभी विषयोंका विस्तृत, सरल एवं सूक्ष्म विवेचन है। इसके अध्ययनसे कर्मसम्बन्धी कोई भी शङ्का जिज्ञासुओंके अन्तःकरणमें रह नहीं सकती।

प्रकृतिकी नकल करनेका नाम शिल्प, प्रकृतिपर आधिपत्य करनेका नाम सायन्स और जिससे अन्तःराज्यका दर्शन हो सके, उसका नाम दर्शन है। केवल शिल्प और पदार्थविद्या (सायन्स) की उन्नतिसे मनुष्यजाति बहिर्मुखिनी होकर केवल इन्द्रिय-सेवापरायण हो जाती है और अन्तर्जगत्, आत्मा तथा परमात्माको भूल जाती है, यह सत्य आज प्रत्यक्ष हो रहा है। इस समय सायन्सकी यथेष्ट उन्नति हुई है, वायुयान, रेडियो, बेतारका तार, टेलीफोन, एटम बम्ब, आक्सिजन बम्ब आदि इन्द्रिय-सुख तथा नाशके अनेक साधन प्रस्तुत होगये हैं, उसीका अपरिहार्य परिणाम अर्थ-काम लोलुपता, नास्तिकता, ईश्वरपर अविश्वास और अमूल्य मनुष्य-जीवनके समस्त पुरुषार्थ केवल इन्द्रियोंकी भोग-लिप्साकी तृप्तिके लिये नियोजित हो रहे हैं। इसी कारण हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने इन दोनों विषयोंपर विशेष ध्यान न देकर मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये दार्शनिक शिक्षा एवं दार्शनिक ज्ञानकी अभिवृद्धिपर विशेष ध्यान दिया था, जिससे मनुष्योंके त्रिविध दुःखोंकी निवृत्ति और अन्तिम शान्ति मिले, क्योंकि

मनुष्यमात्र केवल सुख और शान्ति पानेके लिये लालायित रहता है परन्तु उसके कर्म ऐसे होते हैं, जिससे उसे निरन्तर दुःख ही मिलता है, अतः त्रितापसे जर्जरित मनुष्य-जातिको आत्यन्तिक सुख-शान्ति प्रदान करना हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियोंका उद्देश्य है। ऐसे विकराल समयमें महर्षि भरद्वाजकृत इस लुप्त कर्ममीमांसादर्शन द्वारा केवल वर्णाश्रमधर्मी हिन्दू जाति ही नहीं किन्तु समस्त पृथिवीकी मनुष्यजातिका कलियुगके अन्ततक मार्गप्रदर्शन होता रहेगा।

यथापूर्व इस पुस्तकका स्वत्वाधिकार दीनदरिद्रोंकी सेवाके निमित्त श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णादानभण्डारको ही रखा गया है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

काशीधाम
महाशिवरात्रि
सम्वत् २००९

श्रीगुरुदेव श्रीपादपद्माश्रिता
विद्यादेवी



इस ग्रन्थके आविष्कर्ता—

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपादश्री१ १ ०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८ सम्वत १९०२

तिरोभाव माघ कृष्ण ५ सम्वत २००७

कर्ममीमांसादर्शन ।

क्रियापाद ।

—:❀:—

दूसरेपादमें सृष्टिप्रवर्त्तक और सृष्टिनिवर्त्तक तथा कर्मवृक्षके बीजरूपी संस्कारका विज्ञान वर्णन करके अब संस्कारमूलक बीजसे उत्पन्न वृक्षरूपी कर्मके विज्ञानका वर्णन इस तृतीय पादमें करते हुए मुक्तिका पथ सरल किया जाता है—

प्राकृतिक कम्पनको क्रिया कहते हैं ॥ १ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है। रजोगुणके कारण प्रकृतिका परिणाम सदा होता रहता है, वह परिणाम कभी सत्त्वसे तमकी ओर और कभी तमसे सत्त्वकी ओर स्वभावसे होता है। जैसे प्रकृति में त्रिगुणका होना स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार यह परिणाम भी स्वभावसिद्ध है। इसी स्वभावसिद्ध स्पन्दनको क्रिया कहते हैं। इस विषयमें स्मृति शास्त्रमें कहा है—

विबुधाः ! साम्प्रतं वच्मि कर्मत्रैविध्यगोचरम् ।
वैज्ञानिकं स्वरूपं वः सावधानैर्निशम्यताम् ॥
स्वभावात् प्रकृतिर्मे हि स्पन्दते परिणामिनी ।
स एव स्पन्दहिल्लोलः स्वभावोत्पादितो मुहुः ॥
सदैवास्ते भवन् देवाः ! स्वरूपे प्रतिबिम्बितः ।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः ॥
अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरङ्गैस्तामसोन्मुखैः ।

प्राकृतिकः स्पन्दः क्रिया ॥ १ ॥

सत्त्वोन्मुखैश्च तैर्देवा ! विद्याऽऽविर्भावमेति च ॥
तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः ।
आघातप्रतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ॥
अगण्यवीचिसंघेषु नैकवैधवबिम्बवत् ।
चिज्जड़ग्रन्थिभिर्देवा ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ॥
जीवप्रवाहपुञ्जोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ।
तदैवोत्पद्य संस्कारो नूनं स्वाभाविको मम ॥
कर्मणा सहजेनैव विश्वविस्तारकारिणा ।
आविर्भावयते सृष्टिं जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ॥

हे देवतागण ! अब मैं आपको त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप बताती हूँ, सावधान होकर सुनो। मेरी प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण ! वही स्वभाव-जनित स्पन्दनका हिल्लोल सदा ही स्वरूपमें वारम्वार प्रतिफलित होने लगता है ; अतः मेरी प्रकृतिके गुणपरिणामके कारण तमकी ओरके तरङ्गसे अविद्या और सत्त्वकी ओरके तरङ्गसे विद्या प्रकट अवश्य होती है। उस समय अविद्याके प्रभावसे वारम्वार तरङ्गोंके घात-प्रतिघातद्वारा जलपूर्ण जलाशयके अगणित तरंगोंमें अनेक चन्द्रबिम्बके प्रकाशके समान-हे देवगण ! स्वतः ही अनेक चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीव-प्रवाहको विस्तार करती है। इसी समय मेरा स्वाभाविक संस्कार अवश्य उत्पन्न होकर संसार-विस्तारकारी सहज कर्म से ही स्थावरजंगमात्मक सृष्टि प्रकट करता है ॥ १ ॥

क्रियाका नैसर्गिक हेतु क्या है सो कहा जाता है :—

शृङ्गार उसका स्वाभाविक हेतु है ॥ २ ॥

जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि, संसारमें अहैतुक पदार्थ कुछ भी नहीं हो सकता ; इस कारण स्पन्दन-जनित कर्मका हेतु क्या है ? कर्मका बीज संस्कार है, अतः स्वाभाविक संस्कारका हेतु क्या है ? यह शंका भी इसीके अन्तर्गत हो सकती है। स्वाभाविक स्पंदन ही यदि संस्कार और कर्म दोनोंका हेतु माना जाय, तो इन दोनोंके मौलिक हेतुके विषयमें अवश्य शंका होगी। दूसरी ओर संस्कार और कर्म-जनित जो दृश्य प्रपंचरूपी संसार प्रकट होता है, उसका प्रधान हेतु क्या है ? संसार क्यों उत्पन्न होता है ? सृष्टिका मौलिक कारण क्या है ? इत्यादि नाना शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। इन सब शंकाओंका समाधान एक ही है कि, प्रकृति-पुरुषात्मक शृंगार इन सबोंका कारण है। यह ब्रह्मशक्ति-प्रकृति जब परमपुरुष परमात्मामें अद्वैतदशामें लीन रहती है, वही सृष्टि-संस्कार-रहित और कर्म-रहित अवस्था है। सच्चिदानन्दरूप परमपुरुष परमात्माके अद्वैत स्व-स्वरूपमें गुप्त शक्तिके समान प्रकृति उनमें लीन रहती है तथा उसकी स्वतंत्र सत्ता रहती ही नहीं जब पराप्रकृति उनसे अलग होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता धारण करती हुई परमपुरुषको आलिङ्गित करती है और पुरुषके ईक्षणके लिये

नैसर्गिको हेतुरस्याः शृङ्गारः ॥ २ ॥

परिणामिनी होतीहै, प्रकृति-पुरुषात्मक शृंगारकी यह अवस्था ही इन सबोंका कारण है।

यथा स्मृतिमे—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्द्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीड़ां चकार ह ॥
नानाप्रकारश्रृङ्गारं श्रृंङ्गारो मूर्तिमानिव।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम् ॥

इच्छामय भगवान्‌ने अपने शरीरको दो रूपोंमें विभक्त किया। बाम भागसे स्त्री और दक्षिण भागसे पुरुष उत्पन्न हुए। उस स्त्रीरूपी मायाको देखकर रासेश्वर सुरसिक भगवान् ने उसके साथ रासलीला की। मूर्तिमान् श्रृंङ्गारकी तरह अनेक श्रृङ्गारसे युक्त हो प्रकृतिके साथ सम्भोग किया। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते है कि, सत्, चित्, आनन्द इन तीनों ब्रह्मके भावोंमेंसे अस्ति और भातिके विचार से सत् और चित् स्वयं वेदनीय हैं, परन्तु आनन्दभाव विना इन दोनोंकी सहायताके वेदनीय नहीं हो सकता है; क्योंकि विना सत्‌की सहायताके चित्‌में और चित्‌की सहायताके सत्‌में आनन्दभाव प्रकट नहीं हो सकता है। इस कारण आनन्द-विलासके लिये प्रकृति-पुरुषात्मक श्रृङ्गारकी आवश्यकता है। यही सृष्टि-प्रपञ्चका मौलिक कारण है। तात्पर्य यह है कि,

आनन्दका स्वतन्त्र अनुभव चित् और सत्की सहायतासे होनेके लिये प्रकृति और पुरुषकी स्वतन्त्र सत्ता आविर्भूत होती है। उसी अवस्थासे प्रकृति विकारको प्राप्त होकर अपनी साम्यावस्था छोड़ती हुई वैषम्यावस्था प्राप्त करके त्रिगुण परिणामको धारण करती है। यही अवस्था संस्कार और कर्म दोनोंका मौलिक हेतु है ॥ २ ॥

उसके विस्तारका कारण कहा जाता है :—

द्वन्द्व-शक्तिके द्वारा उसका विस्तार होता है ॥३॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि कर्म, स्वाभाविक होनेपर भी उसका विस्तार अनन्तशाखाओंसे पूर्ण देखनेमें आता है, इसका रहस्य क्या है? इस श्रेणीकी जिज्ञासाका समाधान यह है कि, प्रथम कर्म प्रकृति पुरुषात्मक शृङ्गारसे स्वतः ही उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर द्वन्द्वशक्तिकी सहायता होनेपर वह बहुशाखामें विस्तृत होने लगता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, द्वन्द्वशक्ति बहिर्जगत्में रजोमूलक आकर्षण और तमोमूलक विकर्षण है और अन्तर्जगत्में वही शक्ति रजोमूलक राग और तमोमूलक द्वेष है। इन शक्तियोंके घात-प्रतिघातसे कर्मका चक्र अनिवार्यरूपसे चलता ही रहता है। स्थूलजगत्में ग्रह-उपग्रह आदिकी गति, जैव जगत्में आवागमनचक्रकी गति और मनुष्यके अन्तःकरणमें

द्वन्द्वशक्त्या वितानम् ॥ ३ ॥

कर्मकी उत्पत्तिका अविराम प्रस्रवण इत्यादि ये सब द्वन्द्व-मूलक कर्मके विस्तार-रहस्यके ही उदाहरण हैं ॥ ३ ॥

उसके विकाशका रहस्य कहा जाता है :—

उसका विकाश मेघोत्पत्तिकी तरह होता है। ॥४॥

मेघशून्य निर्मल आकाशमें सर्वत्र मेघोत्पत्ति हो सकती है। मेघोत्पत्ति होनेपर वही मेघ आकाशको ढक भी लेता है। उस समय आकाश न दिखाई देकर मेघ ही सर्वत्र दिखाई देता है। उसी प्रकार द्वन्द्वशक्तिका विकाश स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें सर्वत्र स्वतः ही होता है। प्राकृतिक तरंगका घात-प्रतिघात ही इसका कारण है ॥ ४ ॥

और भी कहा जाता है :—

रूप और शब्दके द्वारा उसका प्राकट्य होता है ॥५॥

जहां सृष्टि है, वहां रूप और शब्दका होना भी निश्चित है। चाहे सृष्टिकी स्थूल अवस्था हो, चाहे सूक्ष्म अवस्था अर्थात् जहांतक दृश्य प्रपञ्च है, वहांतक रूप और शब्दका सम्बन्ध है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध तो रूपसे ही सिद्ध होता है और रूपके होनेसे नामका होना भी सिद्ध ही है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है :—

"नामरूपे व्याकरवाणि"

अस्या विकाशो मेघवत् ॥ ४ ॥ रूपशब्दाभ्यामसौ ॥ ५ ॥

मैं नामरूपसे प्रकट होता हूँ। और भी—

"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरा
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।"

जो ब्रह्म नाम और रूपके द्वारा प्रकट होकर संसारमें रहता है।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता।"

परमात्मा नाम और रूपके द्वारा प्रकट होता है॥ ५॥

कर्मका साक्षात् फल कहा जाता है:—

ब्रह्माण्ड और पिण्डमें सृष्टि-स्थिति-लय उसके द्वारा होते हैं॥ ६॥

ब्रह्माण्डसृष्टि और पिण्डसृष्टि कर्म ही के अधीन है। एक ब्रह्माण्ड जब प्रलयके गर्भमें लय होता है, उस सयम उस ब्रह्माण्ड के समष्टि कर्मबीज संस्कारराशि प्रकृतिके साथ ब्रह्ममें लीन हो जाती है। उसके अनन्तर जब उस ब्रह्माण्डकी पुनः सृष्टि होती है, तो श्रीभगवान् "यथापूर्वमकल्पयत्" इस श्रुतिवचनके अनुसार उक्त ब्रह्माण्डके पूर्व संस्कारोंमेंसे अङ्कुरित होनेयोग्य संस्कारोंको स्मरण करके उक्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, कर्मही ब्रह्माण्ड-सृष्टिका कारण है। जैसे बीज और वृक्षमें अभेद है, वैसे संस्कार और कर्ममें अभेद है। इन दोनोंमें कर्म-अवस्थाका प्राधान्य है, क्योंकि कर्ममें स्वाधी-

---

तया सर्गस्थितिप्रत्यवहारा ब्रह्माण्डपिण्डयो॥ ६॥

नता है और संस्कार केवल कर्मके अनुसार ही बनता है। इस कारण ब्रह्माण्ड-सृष्टिमें कर्मको ही मूलकारण मानेंगे। दूसरी ओर पिण्डसृष्टि तो कर्मके अधीन है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। "कर्माधीनं जगत् सर्वम्" इस वचनद्वारा भी इस विज्ञानकी पुष्टि होती है। यह तो पहले ही भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक मनुष्यके कर्मबीज संस्कारसमूह किस प्रकारसे सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्धरूपमें परिणत होते हैं और उन तीनोंमें से प्रारब्धकर्म किस प्रकारसे पिण्डको उत्पन्न करता है। सुतरां मनुष्य-पिण्ड और देवपिण्ड ये दोनों प्रारब्धकर्मसे ही उत्पन्न होते हैं। रहा सहज-पिण्ड, वह भी किसप्रकारसे स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अधीन है, सो भी संस्कार-पादमें भलीभाँति सिद्ध हो चुका है। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी उत्पत्ति सर्वथा कर्माधीन है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६ ॥

और भी कहा जाता है :—

आकर्षण और विकर्षण भी ॥७॥

कर्मके साक्षात् फलका एक दूसरा उदाहरण दे रहे हैं कि, परमाणुसे लेकर ग्रह-उपग्रहादिमें और पिण्डसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जो आकर्षण और विकर्षण-शक्ति देखी जाती है, वह भी कर्मका साक्षात् फल है। परमाणु-पुञ्ज जब परस्पर मिलते हैं तो आकर्षण शक्तिके बलसे ही मिलते हैं; वे ही परमाणु-पुञ्ज जब

आकर्षणविकर्षणे च ॥ ७ ॥

पृथक् हो जाते हैं, तब विकर्षणशक्तिके बलसे ही होते हैं। सृष्टिके समय परमाणु-पुञ्ज मिलते हैं और प्रलयके समय वे एक दूसरेसे पृथक् हो जाते हैं। प्रस्तर काष्ठादि साधारण पदार्थोंसे लेकर पृथिव्यादिलोकोंमें सर्वत्र यही क्रिया विद्यमान है और इस क्रियाके मूलमें कर्म विद्यमान है। इसी प्रकार अन्तर्जगत्में रागात्मिका आकर्षण-शक्ति और विद्वेषात्मिका विकर्षण-शक्तियाँ उत्पन्न होकर जो अन्तःकरणको सदा तरङ्गायित करती रहती हैं, ये सब क्रियायें कर्मकी असाधारण शक्तिपर ही निर्भर करती हैं। प्रस्तरादि स्थावर-पदार्थोंमें सहजकर्म, ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टिक्रियामें एवं अन्तःकरणकी वृत्तियोंके विषयमें जैवकर्मकी शक्ति ही कार्यकारिणी होती है ॥ ७ ॥

इस सम्बन्धसे क्रियाका भेद कह रहे हैं :—

ऊर्द्ध्वगामिनी और अधोगामिनी है ॥८॥

अनन्तरूपधारी कर्मसाम्राज्यकी क्रियाके साधारण दो भेद हैं, एक ऊर्द्ध्वगामिनी क्रिया और दूसरी अधोगामिनी क्रिया है। पाप और पुण्य इन दोनों कर्म-शक्ति-जनित क्रियाओंमें पुण्यकी क्रिया ऊर्द्ध्वगामिनी और पापकी क्रिया अधोगामिनी होती है। जन्मान्तर-गतिकी क्रियामेंसे भुवः, स्वः, जन आदि ऊर्द्ध्वलोकोंमें जो गमनकी गति है, वह उर्द्ध्वगामिनी और नरक और प्रेतलोकोंकी गति अधोगामिनी समझना उचित है।

ऊर्द्ध्वगाऽधोगा च ॥ ८ ॥

सूर्यकी उदय-गतिको ऊर्द्ध्वगामिनी और अस्तगतिको अधोगामिनी समझना उचित है। उसी प्रकार जीवपिण्डकी कौमार और यौवन अवस्थाको ऊर्द्ध्वगतिशील और वार्द्धक्यको अधोगतिशील मान सकते हैं। अन्तरराज्यमें भी अक्लिष्ट वृत्तियोंको ऊर्द्ध्वगतिशील और क्लिष्टवृत्तियोंको अधोगतिशील मानेंगे। उसीप्रकार रजकी सत्त्वोन्मुख क्रियाको ऊर्ध्वगतिशील और तमोन्मुख क्रियाको अधोगतिशील स्वीकार करेंगे॥ ८॥

प्रसंगसे शंका समाधान कर रहे हैं :—

कर्म-संस्कारजन्य सृष्टि स्वाभाविक है॥ ९॥

सृष्टि क्रियाको कर्मजन्य भी कह सकते हैं, संस्कारजन्य भी कह सकते हैं, क्योंकि संस्कार कर्मका बीज है और कर्म संस्काररूपी बीजका वृक्ष है। इस कारण सृष्टिको उभयजन्य कहनेमें दोष नहीं होगा। दूसरी ओर जब त्रिगुणात्मिका होना प्रकृतिका स्वभाव है, जब कर्म स्वभावतः प्रकृति-हिल्लोलसे उत्पन्न होता है और जब स्वाभाविक संस्कार स्वतः उत्पन्न होता है जैसा कि, पूर्व अध्यायमें सिद्ध हो चुका है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि, सृष्टिक्रिया जो कर्मसंस्कारजन्य है, वह भी प्रवाहरूपसे होनेसे स्वाभाविक है॥ ९॥

प्रकृत विज्ञानको उदाहरणसे पुष्ट किया जाता है :—

वह मकड़ीके समान और केश-लोमके समान है ॥१०॥

नैसर्गिकी कर्म-संस्कारजा सृष्टिः ॥ ९ ॥

ऊर्णनाभवत् केशलोमवच्च ॥ १० ॥

उदाहरण दिया जाता है कि, जिस प्रकार मकड़ी स्वप्रकृतिके वश स्वतः ही जाला बनाकर बड़ा प्रपञ्च रच लेती है और जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें स्वतः ही केश और लोम प्रकट होते हैं, उसी प्रकार कर्मजन्य सृष्टि-प्रपञ्च स्वतः ही प्रकट होता है ॥ १ ॥

प्रसंगसे कर्मके साथ शक्तिका सम्बन्ध दिखाया जाता है :—

हिमालयके ऐश्वर्यके समान शक्ति कर्मके अधीन है ॥ ११ ॥

जगत्प्रसिद्ध हिमालय पर्वत सब प्रकारके ऐश्वर्योंकी खान है। प्रसिद्ध और पुनीत नद-नदियाँ हिमालयसे निकली हैं, सब प्रकारके रत्नराशि, सब प्रकारके सुवर्णादि धातु तथा अन्यान्य सब खनिज पदार्थ हिमालय के गर्भमें सुगमतासे प्राप्त हैं। सब प्रकारकी वनौषधियाँ हिमालयके सुविशाल वक्षःस्थल-पर उत्पन्न होती हैं। ऐसा कोई वन्य पशु नहीं है, ऐसा कोई पक्षी नहीं और ऐसा कोई उद्भिज्ज नहीं है जो हिमालयके आश्रयसे जीवित न रह सके। इस सामान्य दिग्दर्शनसे यह सिद्ध होता है कि, हिमालय सब ऐश्वर्योंकी खानि है और यह पर्वतराज प्रकृतिका शोभाका तो आकर ही है। ठीक इसी उदाहरणसे समझना उचित है कि, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, सभी शक्तियाँ कर्मके आश्रयसे ही उत्पन्न होती हैं। चाहे यावत् मानवीशक्ति हो, चाहे दैवीशक्ति हो, चाहे शारीरिक शक्ति हो, चाहे मानसिक

शक्तिः कर्मायत्ता हिमालयैश्वर्यवत् ॥ ११ ॥

शक्ति हो, चाहे लौकिक शक्ति हो, चाहे आत्मिक शक्ति हो, चाहे ब्राह्मण-शक्ति हो, चाहे क्षत्रिय-शक्ति हो, चाहे विद्या-शक्ति हो, चाहे धनशक्ति हो, चाहे युद्ध-शक्ति हो और चाहे बुद्धि-शक्ति हो, सब ही कर्मसे प्राप्त होती हैं ॥ ११ ॥

कर्मोत्पत्तिके हेतु विज्ञानको पुष्ट कर रहे हैं:—

सत् और चित्की ओर गमनागमनसे कर्म उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

आनन्द-अनुभवके अर्थ चित्से सत् और सत्से चित्की ओर जो भावतरङ्गकी गति है, वही कर्मोत्पत्तिका कारण है, और उसीको सृष्टिका हेतु कह सकते हैं। यद्यपि कर्मोत्पत्ति तथा सृष्टिका विज्ञान पहले अच्छी तरह समझाया गया है, तथापि कर्मकी महिमाको दृढ़ करनेके अर्थ पुनः कहा जाता है कि, आनन्द बिना सत् और चित् उभयकी सहायता के अनुभव नहीं हो सकता ; इस कारण आनन्दानुभवके निमित्त सत्से चित्की और चित्से सत्की ओरके अनुभवके सम्बन्धसे जो विविध भावक स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव है, उसको कर्मकी उत्पत्तिका मौलिक कारण कह सकते हैं। समाधिस्थ योगी इस विज्ञानको समझ सकते हैं कि, प्रकृतिकी लयावस्थामें जब अद्वैतरूपमें ब्रह्मसद्भावकी दशा रहती है, इस समय सत्, चित् और आनन्द, इन तीनोंकी अद्वैत सत्ता होती है ; इस स्वरूपा-

सच्चितोर्गमागमतः कर्म ॥ १२ ॥

वस्थामें इन तीनों भावोंका पृथक् पृथक् अनुभव असम्भव है। परन्तु जब इन तीनोंका पृथक् पृथक् अनुभव होता है, उस समय चिद्भावका अनुभव और सद्भावका अनुभव अलग अलग पहले होता है। अस्ति और भाति सत् और चित्को अनुभूतिका कारण होता है। इसी दशामें अव्यक्तावस्थाको छोड़ कर ब्रह्म-प्रकृति सूक्ष्मावस्थाको धारण करती है और यही अवस्था कर्मोत्पत्तिका कारण बनती है। यद्यपि प्रकृतिके त्रिगुणके स्पष्ट विकासकी अवस्थामें ही कर्मकी यथार्थ उत्पत्ति होती है, परन्तु इस पूर्वावस्थाको मौलिक कारण मान सकते है॥ १२॥

प्रसगतः कर्मका विशेष महत्त्व कह रहे हैं :—

समष्टि कर्म नदीके प्रवाहके समान जगत्के सामञ्जस्य को रक्षा करता है॥ १३॥

नदीप्रवाह जिस प्रकार नदीमें प्रवाहित जलको नियमित समुद्रमें पहुँचाता हुआ जलके सामञ्जस्यकी रक्षा करता है, नदीप्रवाह जिस प्रकार वर्षाऋतुमे देशको जलप्लावनसे बचाता है और नदीप्रवाह जिस प्रकार जहां जितने जलकी आवश्यकता है, देता हुआ अधिक जलको समुद्रमे पहुंचा देता है; उसी प्रकार ब्रह्माण्डका समष्टिकर्म सदा ब्रह्माण्डकी सामञ्जस्य रक्षा करनेमे प्रवृत्त रहता है। चाहे ऋतुओंकी उत्पत्ति-स्थितिपर लक्ष्य किया जाय, चाहे सूर्यकी गति और शक्तिपर लक्ष्य किया

कर्मसमष्टिर्विश्वसामञ्जस्यकृन्नदीप्रवाहवत्॥ १३॥

जाय, चाहे मेघराशिकी उत्पत्ति, वाष्पराशिका आकाशमें उठना और जल बरसाना आदि क्रियापर विचार किया जाय, चाहे महामारी महायुद्धादि दैवीक्रियाओंका मूल अनुसंधान किया जाय, यही मानना पड़ेगा कि, सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षा करनेके लिये ये सब समष्टि क्रियाएँ हुआ करती हैं ॥ १३ ॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये सबका मूल कह रहे हैं :—

त्रिगुणात्मिका प्रकृति सबका कारण है ॥ १४ ॥

कितनाही सूक्ष्म विचार किया जाय, परन्तु यही कहना पड़ेगा कि, त्रिगुणात्मिका प्रकृति सबका मूलकारण है। अद्वैत-भावापन्न ब्रह्मके स्वरूपावस्थासे द्वैत अवस्थाका जो कुछ परिणाम होता है, सबका कारण प्रकृति है और वह त्रिगुणात्मिका है। यद्यपि लयावस्थामें उसमें गुणका विकास नहीं रहता है, यद्यपि परवर्ती अवस्थामें वह प्रकृति त्रिगुण-भावसे तरङ्गायित हो जाती है, और वही प्रकृति कभी तुरीयावस्था, कभी कारणावस्था कभी सूक्ष्मावस्था और कभी स्थूलावस्थाको प्राप्त होकर स्थूल-सूक्ष्मात्मक जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय- क्रिया सम्पादन करती रहती है, परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि द्वैता-वस्थाका जो कुछ कार्य है, वह सब प्रकृतिके द्वारा होता है ॥१४॥

उनके स्वरूपका विशेष परिचय दे रहे हैं :—

वह विद्या और अविद्यारूपिणी है ॥ १५ ॥

त्रैगुण्यमयी सर्वमूलम् ॥ १४ ॥ सा विद्याऽविद्यारूपा ॥ १५

ब्रह्म-प्रकृति जब ब्रह्मसे अलग होकर द्वैत- प्रपञ्चकी सृष्टि करती है, उससमय अवस्था-भेदसे उसके स्वरूपके दो भेद माने जाते हैं। उन दो भेदोका नाम विद्या और अविद्या है, ज्ञान-जननीको विद्या कहते हैं और अज्ञान जननीको अविद्या कहते है । इस विषयमें ऐसा वर्णन स्मृतिशास्त्रमें है :—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव ।।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः ॥

राजन्! विद्या और अविद्या-भेदसे उसका द्विविध रूप जानो । विद्याके द्वारा जीव मुक्ति लाभ करता है और अविद्याके द्वारा बन्धनको प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

दोनोके अधिष्ठानका रहस्य कहा जाता है : –

सत्त्व और तममें उन दोनोंका अधिष्ठान है ॥ १६ ॥

यद्यपि स्थावर और जङ्गम, जड़ और चेतन सबमें त्रिगुणकी क्रिया समानरूपसे देखनेमें आती है, परन्तु विद्या और अविद्याका राज्य केवल जीव-अन्तःकरणमें माना जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानके साथ ही इन दोनोके अधिष्ठानका सम्बन्ध है। जीव-अन्तः करणमें कहा जाय अथवा सहजपिण्ड, मानवपिण्ड अथवा देवपिण्डमे कहा जाय, जहाँ आत्म-आवरणकारी अज्ञान है, वहाँ अविद्याका अधिष्ठान है और जहाँ आत्मप्रकाशक ज्ञान है, वहाँ विद्याके अधिष्ठानका सम्बन्ध है

तयोरधिष्ठाने सत्त्वतमसी ॥ १६ ॥

ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस विज्ञानको समझनेके अर्थ निम्नलिखित अज्ञान-भूमि और ज्ञान-भूमि-सम्बन्धीय भगवद् वचन विचारणीय है—

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत्।
सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत्॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात् पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा॥
यावज्जीवैरतिक्रांता न सप्ताऽज्ञानभूमयः।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते॥
उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥
तृतीयाऽण्डजजातेश्चाऽज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ॥
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृषु।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः॥
तिस्रस्ता एव कथ्यन्ते उत्तमाधममध्यमाः।

सातों ज्ञानभूमियोंमेंसे प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्न्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पञ्चमी सत्पदा, षष्ठी आनन्दपदा और सप्तमी परात्परा है। जबतक जीवोंने सप्त अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण नहीं किया है, तबतक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदाकी प्राप्ति नहीं होती है। उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञान-भूमि है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञान-

भूमि कही गई है, अण्डजोंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञानभूमि है; परन्तु पांचोंकोषोंकी पूर्णताकी अधिकारिणी मनुष्ययोनिमें ही शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार है। वे ही तीनों उत्तम, मध्यम और अधम अज्ञान-भूमियाँ कहाती हैं ॥ १६ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है :—

गुणोंमें अन्योऽन्याश्रयत्व है ॥ १७ ॥

त्रिगुणसे क्रिया उत्पन्न होनेका जो अतिदुर्ज्ञेय तथा समाधि-गम्य रहस्य है, उसको यथासम्भव समझानेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण गुणमयी प्रकृतिके स्वाभाविक होनेपर भी इन तीनों गुणोंके परस्परमें अन्योन्याश्रयत्व है। जैसे उष्णत्व और प्रकाश ये दोनों गुण अग्निके होनेपर भी और दोनोंकी अलग अलग क्रिया देखनेसे भी यह मानना ही पड़ेगा कि, उन दोनोंकी स्वतंत्रता भी है और अन्योऽन्याश्रयत्व भी है। विना उष्णत्वके अग्निका प्रकाश जिस प्रकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार विना प्रकाशके अग्निका उष्णत्व भी नहीं रह सकता है। इसी उदाहरणसे समझ सकते हैं कि, प्रकृतिके तीनों गुण एक दूसरेका आश्रय लेकर रहते हैं। यथा— स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

अन्योऽन्याश्रयत्वं गुणानाम् ॥ १७ ॥

तमोरजस्तथा सत्त्व गुणानेतान् प्रचक्षते ।
अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योऽन्यानुजीविनः ॥
अन्योऽन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योऽन्यानुवर्तिनः ।
अन्योऽन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥

तम, रज और सत्त्व, ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। ये परस्पर मिले रहते हैं और परस्पर अनुजीवी हैं। अर्थात् एकके बिना दूसरा नहीं रह सकता। ये गुणत्रय परस्पर अन्योन्याश्रयी हैं अर्थात् जैसे एक दण्ड दूसरेके सहारे अधिक भार लेनेमें समर्थ होता है, इसी प्रकार परस्पराश्रयी है ओर अन्योन्यानुवर्ती तथा परस्पर व्यतिपक्त हैं। इस प्रकारसे तीनों गुणोंके परस्पर सम्बन्ध पाये जाते हैं।

गीतोपनिषद्में श्रीभगवान्ने निज मुखसे कहा है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

हे भारत! कभी रजोगुण और तमोगुणको पराजय करके सत्त्वगुण प्रबल होता है, कभी सत्त्व और तमको पराभूत करके रजोगुण प्रबल होता है और कभी सत्त्व और रजको पराभूत करके तमोगुण प्रबल होता है। इससे यही तात्पर्य है कि, एक गुणके उदयके समय अवश्य अन्य दो गुण गौणरूपसे सहायक

बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो त्रिगुणका नियमित परिणाम असम्भव होता ॥ १७ ॥

और भी कहते :—

परस्पर मिथुनत्व भी है ॥ १८ ॥

जैसे एक गुण गौण रहकर मुख्य गुणके दब जानेपर स्वयं मुख्य होकर क्रिया उत्पन्न करता है, जैसा पहले सूत्रमें कहा गया है, उसी प्रकार दो गुण परस्परमें मिलकर भी कार्य करते हैं। जैसे ब्राह्मणजातिके गुण सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्षत्रियजातिमें रजःसत्त्वकी प्रधानता रहती है और वैश्यजातिमें रज और तम मिलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकारसे तीनों गुण परस्परमें मिथुनत्व प्राप्त होकर अनन्त रूप धारण करते हुए कर्मराज्यको अग्रसर करते हैं। अतः तीनों गुण कहीं परस्परमें दो मिलकर, कहीं परस्परमें तीन मिलकर स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्‌में अपने वैभवको फैलाते रहते हैं ॥ १८ ॥

और भी कहा जाता है :—

एक अन्य दोनोंको प्रसव करता है ॥ १९ ॥

जब तीनों गुण परस्परमें मिल मिलकर भी कार्य करते हैं और तीनों परस्परमें मिले हुए भी रहते हैं; दूसरी ओर एक

मिथो मैथुन्यञ्च ॥ १८ ॥

एकमितरयोः क्षेत्रम् ॥ १९ ॥

गुणका उदय-अस्त भी होता रहता है और एकको गौणता होनेसे दूसरेको मुख्यता हो जाती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, एक प्रधान गुण जब गौण होने लगता है, तो वह क्रमशः अन्य दोनों गुणोंका प्रसव करनेवाला बन जाता है और यही कारण है कि, त्रिगुणपरिणामसे नियमितरूपसे सृष्टि, स्थिति और लय-क्रिया तथा दृश्य-प्रपञ्चके अनन्त स्वरूप अपने आप ही बनते रहते हैं। इस विज्ञानको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये यह कहा जा सकता है कि, एक गुण जब अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट रहता है, तो प्रकृतिके परिवर्तनशील नियमके अनुसार उस गुणकी उदय-दशाके साथ उसकी अस्तमितदशाका भी होना निश्चित है। जिस प्रकार प्रातःकाल और सायंकालकी संधिमें एकमें सूर्यका उदय और तारकाराजिका अस्त होना तथा दूसरेमें सूर्यका अस्त होना और तारागणका उदय देखनेमें आता है, उसी उदाहरणके अनुसार औदाहरण यह है कि, एक गुणको उदय करके दूसरे गुण अस्तमित हो जाते हैं। यही इस सूत्रका तात्पर्य है ॥ १९ ॥

गुण सम्बन्धसे कर्मका स्वरूप कहा जा रहा है :—

त्रिगुणजन्य कर्म स्वाभाविक है ॥ २० ॥

जब पूर्व कथित विज्ञानके अनुसार यह भलीभाँति सिद्ध

त्रिगुणजं कर्म नैसर्गिकम् ॥ २० ॥

हुआ कि प्रकृतिके तीनो गुण परस्पर आश्रय करते हुये और परस्पर साथ रहते हुये मुख्य और गौण होकर एक दूसरेको प्रसव करते रहते हैं, तो यह सिद्ध हुआ कि त्रिगुणके कारण प्रकृति सदा परिणामिनी बनी रहती है। जहाँ परिणाम है, वहाँ क्रिया है और जहाँ क्रिया है, वहीं कर्मराज्यका प्राकट्य है। सुतरां त्रिगुणविकारके कारण कर्मका होते रहना स्वभावसिद्ध है ॥ २० ॥

कर्मकी नैसर्गिक गतिके विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं :–

संस्कार और क्रिया बीजाङ्कुरवत् है ॥ २१ ॥

जैसे बीजके साथ वृक्षका सम्बन्ध है, वैसे ही संस्कारके साथ कर्मका सम्बन्ध है। इसको पहले भलीभाँति सिद्ध कर चुके हैं। इस कारण जैसे धान्यबीज और धान्यका अंकुर एक दूसरेसे उत्पन्न होते हुये धान्यसृष्टिकी अनन्तसत्ताको स्थायी रखते हैं, उसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि संस्काररूपी बीज एवं पिण्ड और ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष एक दूसरेको उत्पन्न करते हुये सृष्टिकी अनन्तधाराको स्थायी रखते है ॥ २१ ॥

प्रसङ्गतः कर्मका फल कह रहे हैं :–

संस्कारक्रिये बीजांकुरवत् ॥ २१ ॥

कर्मसे सृष्टिका अस्तित्व है ॥ २२ ॥

कर्मका साक्षात् फल सृष्टि है। जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होगी, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। कर्मसे संस्कार अवश्य ही उत्पन्न होता है और संस्कारसे पुनः कर्मका उत्पन्न होना निश्चित है। इस कारण कर्म ही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक सृष्टिका मूल कारण है। जिस प्रकार जीव अपने पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ही अपने पिण्डरूपी स्थूलशरीरको प्राप्त करता है, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डका पूर्वसमष्टिकर्म जैसा होता है, उसीके अनुसार संस्कार उत्पन्न होकर भगवान् ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें वैसी ही सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा होती है। सुतरां, ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक सृष्टिकर्मपर ही निर्भर करती है ॥ २२ ॥

कर्मका प्राकट्य कहाँसे होता है, उसका रहस्य कहा जाता है—

ब्रह्मके स्वभावसे कर्मका प्राकट्य होता है ॥ २३ ॥

कर्मका समाधिगम्य रहस्य समझानेके लिये श्रीभगवानने निज मुखसे गीतोपनिषद्में कहा है कि—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।

कर्मणा सर्गसत्ता ॥ २२ ॥ कर्मणः प्राकट्यं ब्रह्मस्वभावात् ॥ २३ ॥

तात्पर्य्य यह है कि जो निर्विकार, अद्वैतसत्तासे युक्त, कर्मातीत, भावातीत, बुद्धिसे अतीत पद है, वही अक्षरब्रह्म कहाता है। और उसका जो प्रकृतिरूप स्वभाव है, वही अध्यात्म कहाता है। वस्तुतः ब्रह्म प्रकृति ही अध्यात्म है और वही स्व-स्वभावरूपा है। उसी स्व-स्वभावसे कर्मका साक्षात् सम्बन्ध होनेसे कर्म ब्रह्मरूप है। जैसे कहनेमें आता है कि अमुक व्यक्तिकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव ऐसा है। इस उदाहरणसे औदाहरण यह समझने योग्य है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें जो सम्बन्ध है, ब्रह्मप्रकृति और कर्ममें वही सम्बन्ध है। श्रीभगवान्ने कहा है कि—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

निर्विकार स्व-स्वरूप ब्रह्मपदसे ब्रह्मप्रकृति प्रकट होती है और उस प्रकृतिरूपी ब्रह्मसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। इस कारण सर्वगत ब्रह्म कर्मरूपी यज्ञमें सदा प्रतिष्ठित रहता है। यह कर्मरूपी ब्रह्मका वैज्ञानिक रहस्य है ॥ २३ ॥

फलतः—

इस कारण कर्म नित्य है ॥ २४ ॥

जब ब्रह्म तथा ब्रह्मस्वभाव प्रकृति दोनों नित्य हैं, तो

कर्मातोनित्यम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मप्रकृतिसे स्वतः उत्पन्न होनेवाला कर्म भी नित्य है। चाहे समष्टिकर्म हो, चाहे व्यष्टिकर्म हो, अर्थात् चाहे ब्रह्माण्डसे सम्बन्धयुक्त कर्म हो, चाहे पिण्डसे सम्बन्धयुक्त कर्म हो, प्रकृतिका सहजात होने के कारण प्रवाहरूपसे कर्म नित्य है यह स्वतः ही सिद्ध है। जैसे सृष्टिप्रवाहके विचारसे यही मानना पड़ेगा कि बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज ये दोनों प्रवाह-सम्बन्धसे अनादि हैं, उसी प्रकार अध्यात्म सृष्टिप्रवाह और कर्म दोनों ही अनादि हैं॥ २४॥

कर्मका नित्यत्वविज्ञान और भी पुष्ट किया जाता है—

भूतभावोद्भवकर विसर्गके कारण भी॥ २५॥

भूतभावोद्भवकर विसर्ग, जिससे जीवोत्पत्ति होती है, उसको वेद और शास्त्रोंमें कर्म कहा है। इस कारणसे भी कर्मका नित्यत्व सिद्ध होता है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में कहा है—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मकी स्वभावरूपी प्रकृति तब ही तक अपने प्रकृतित्वकी रक्षा करती है, जबतक वह विकारको प्राप्त नहीं होती। सर्वभूतोंमें तथा सर्व अवस्थामें जो उस प्रकृतिकी एकरस रहनेवाली अवस्था है, वही उसके स्वभावके स्थायित्वकी रक्षक है और प्रकृतिसे विरुद्ध जो उसकी दूसरी अवस्था है, वह

भूतभावकृद्विसर्गाच्च॥ २५॥

विकृति कहाती है। अतः भूतभावको उत्पन्न करनेवाली तथा उसके प्रकृति-भावका त्याग अर्थात् स्व-स्वभावका त्याग करते हुए जो भूतसृष्टिकारी अवस्था है, वह अवस्था ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है। वस्तुतः इसी अवस्थामें कर्म उत्पन्न होकर वह जगत्‌का सृष्टि, स्थिति, प्रलय कराता है। इस विज्ञानको अन्यप्रकारसे भी समझ सकते हैं। सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावोंको एकतत्त्वमयी धारामें दिखानेवाली अवस्था ही विद्या-देवीकी कृपाजनित है और यही अध्यात्म अवस्था है। जब इस एकतत्त्व दशासे सत् चित् और आनन्द तीनोंकी पृथक् सत्ताका अनुभव होता है, जिसके विषयमें पहले कहा गया है, वही अवस्था सृष्टिका कारण है और वही अवस्था ब्रह्मके स्व-स्वभावकी विसर्ग-अवस्था है। उसी अवस्थासे कर्मकी उत्पत्ति होती है और तभी अविद्याका प्रभाव प्रकट होता है। इस अतिगहन विषयको अन्य तरहसे भी समझ सकते हैं। स्वभाव और प्रकृति, ये पर्य्यायवाचक शब्द हैं। लोकमें भी ऐसा देखा जाता है कि, 'अमुकका स्वभाव' कहनेसे जो भाव हृदयमें आता है, "अमुककी प्रकृति" कहनेसे भी वही भाव हृदयमें आता है। अतः यहाँ प्रकृति शब्दवाच्य ब्रह्मस्वभाव ही है। तात्पर्य्य यह है कि सच्चिदानन्दमय अद्वैतसत्ताका प्रकट होना या प्रकट करना यही स्वभाव और यही अध्यात्म है। जब उस अद्वैतसत्तामें द्वैतभाव उत्पन्न हुआ, जब साम्या-वस्थासे प्रकृति वैषम्यावस्थाको प्राप्त हुई, जब त्रिगुण विकारसे

प्रकृति तरङ्गायित होने लगी, वही भूतभावोद्भवकर अवस्था है। इसी अवस्थामें कर्मकी उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥

कर्म कितने प्रकारके हैं सो कहा जाता है—

वह सहज, ऐश और जैव-भेदसे त्रिविध होता है ॥२६॥

दृश्यप्रपञ्चका उत्पादक कर्म तीन प्रकारका होता है। यथा सहजकर्म, ऐशकर्म और जैवकर्म। जिस प्रकार विकार-भावापन्न प्रकृतिका स्वरूप अनन्तरूपमय हो जाता है, उसी प्रकार कर्म भी अनन्तरूपधारी है। जैसे प्रकृतिकी विकृत अवस्थाको त्रिगुणोंके अनुसार तीन प्रकारके नामोंसे विभक्त कर सकते हैं, उसी प्रकार अनन्तरूपधारी कर्मको भी ऊपर लिखित तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। विकारके साथ ही साथ रहने वाला सहजकर्म, सूक्ष्म दैवजगत्से सम्बन्ध रखनेवाला ऐशकर्म और जीवको बन्धन-दशामें रखनेवाला कर्म जैवकर्म कहाता है। इस विषयमें शास्त्रोंमें भी कहा है—

जैवेशसहजाख्याभिस्त्रिधा कर्म्म विभिद्यते ॥
आश्रित्य सहजं कर्म्म भुवनानि चतुर्दश ।
जायते च विराट्सृष्टिर्जङ्गमस्थावरात्मिका ॥
देवासुराधिकारेण द्विविधेन समन्वितम् ।
सञ्जुष्टं नैकवैचित्र्यैर्भूतसङ्घैश्चतुर्विधैः ॥

तत् त्रिविधं सहजैशजैवभेदात् ॥ २६ ॥

सहजाख्यञ्च कर्म्मैव ब्रह्माण्डं सृजते सुराः।
कर्म्मभूमर्त्यल्लोकं हि जैवं कर्म्म दिवौकसः॥
विविधानधिकारांश्च मानवानां यथायथम्।
स्वर्नरकादिकान् भोगलोकांश्च सृजते पुनः॥
मन्निघ्नं सहजं कर्म्म जैवं जानीत जीवसात्।
जीवाः सन्ति पराधीनाः सहजे कर्म्मणि स्वतः॥
जैवे स्वाधीनतां यान्ति जीवाः कर्म्मणि निर्ज्जराः।
सन्त्यतो मानवाः सर्वे पुण्यपापाधिकारिणः॥
आभ्यां विचित्रमेवेदमैशं कर्म्म किमप्यहो।
साहाय्यमुभयोरेव कर्म्मैतत् कुरुते किल॥

कर्म साधारणतः जैव, ऐश और सहजरूपसे तीन भेदोंमें विभक्त है। चतुर्दश भुवन और उनमें स्थावर-जङ्गमात्मक विराट्सृष्टिका प्रकट होना सहज कर्मके अधीन है। सहजकर्म्म ही चतुर्विध भूतसंघ और देवासुररूपी द्विविध अधिकार सहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है। पुनः हे देवगण! जैवकर्म्मद्वारा ही कर्म्मभूमि मनुष्यलोक, मनुष्योंके यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्ग-नरकादि भोगलोकोंकी सृष्टि हुआ करती है। सहजकर्म मेरे अधीन और जैवकर्म्म जीवोंके अधीन हैं, सो जानो। सहजकर्म्ममें जीव स्वतः पराधीन हैं और हे देवगण! जैवकर्म्ममें जीव स्वाधीन हैं, इस कारण सब

मनुष्य पापपुण्य भोगनेके अधिकारी होते हैं । इन दोनोंके अतिरिक्त ऐशकर्म्म कुछ विचित्र ही है। ऐशकर्म्म उभय-सहायक है और वह कर्म्म केवल मेरे अवतारोंमें ही प्रकट होता है ॥ २६ ॥

इस विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

गुण और भावके समान ॥ २७ ॥

जिस प्रकार त्रिगुणके विकार अनेक प्रकारके होनेपर भी उन सबोंको सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन भागोंमें विभक्त करते हैं, जिस प्रकार अन्तःकरणका भावराज्य अनन्तरूप धारण करनेवाला होनेपर भी जब उन सब भावोंका श्रेणीविभाग करेंगे, तब आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इस प्रकार तीन प्रकारसे विभक्त करेंगे। इसी प्रकार कर्मराज्य अनन्त होनेपर भी जब उसको शृङ्खलाबद्ध करेंगे, तब उसको सहज, ऐश और जैवरूपमें विभक्त करेंगे और ऐसा करना पूर्वदृष्टांतके अनुसार युक्तियुक्त है ॥२७॥

अब प्रथमका स्वरूप समझा रहे हैं—

सहजकर्म चतुर्दश भुवनका कारण है ॥ २८ ॥

परिणामिनी प्रकृतिका सहजात सहजकर्म प्रथम ही चतुर्दश

गुणभाववत् ॥ २७ ॥ चतुर्दशभुवननिदानमाद्यम् ॥ २८ ॥

भुवनको उत्पन्न करता है। सहजकर्म विना किसी जैव संस्कारके स्वतः ही प्रकृतिके स्पन्दनके साथ साथ प्रकट होता है। सृष्टिके आदिमें इसी सहजकर्मके द्वारा अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डमय विराट्के विशाल देहमें देशावच्छिन्न विशेषता उत्पन्न होती है, इसी कारण प्रत्येक ब्रह्माण्डके अङ्गरूपसे चतुर्दश भुवन और अंगप्रत्यंगरूपी अनेक लोक और ग्रह-उपग्रह आदि रूपी जीवके वासके उपयोगी स्थूलसमूह स्वतः ही इसीके बलसे बन जाते हैं। जैसे स्वाभाविक संस्कार स्वतः ही प्रकट होता है, उसी प्रकार सहजकर्म स्वतः ही प्रकट होता है। जैसे प्रकृति परिणामिनी होकर स्वतः ही त्रिगुणके कार्य्य प्रसव करती है, वैसे ही सहजकर्म अपने आप ही चतुर्दश-भुवनको निर्माण कर देता है। इस विज्ञानको समझनेके लिये सृष्टिप्रकरणका कुछ रहस्य समझने-योग्य है। सृष्टिके चार स्तर हैं। यथा—प्रकृतिकी लोकमयी सृष्टि, भगवान् ब्रह्माकी ब्राह्मीसृष्टि, ऋषियोंकी मानस-सृष्टि और जीवोंकी मैथुनी सृष्टि। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिमूर्तियोंके प्रकट होनेके पूर्व सगुणब्रह्मकी प्रकृतिकी स्वाभाविक चेष्टासे जो ब्रह्माण्ड-अण्डप्रसवकारी सृष्टि प्रथम होती है, वही प्रथम सृष्टि है। इसीका स्वाभाविक सम्बन्ध सहज कर्मके साथ है। स्मृतिशास्त्रमें इन चारों श्रेणीकी सृष्टिका प्रमाण है। यथा—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवान् उषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥
ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥

इस प्रकारसे अपने ही भीतरसे विविध जीवसृष्टि करनेकी इच्छा जब परमात्मामें हुई, तो प्रथम उन्होंने जल अर्थात् अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न की। उस प्रकृतिमें परमात्माने अपने चित्‌शक्तिरूपी बीजको डाला। जड़प्रकृतिमें इसप्रकार चेतन बीजका संयोग होनेसे अव्यक्त प्रकृति सुवर्ण-निर्मित अण्डकी तरह चमकने लगी। तब उसमें भगवान् ब्रह्माजी प्रकट हुए। उस सुवर्ण-अण्डमें भगवान् ब्रह्माजी रहकर अपने ही आप उस अण्डको दो खण्ड कर देते हैं। उन दोनों खण्डोंसे स्वर्ग और पृथिवीकी सृष्टि वे करते हैं। अण्डके मध्यांशसे आकाश और आठ दिशायें उत्पन्न करते हैं।

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवाऽसृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयः तपसा प्रतिपेदिरे ॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

ब्रह्माने समस्त जीवों तथा देवताओंकी सृष्टि मनसेही की थी

और महर्षियोंने भी आदिकालमें तपस्याके द्वारा मानसी सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्मासे जो अक्षय, अव्यय, वेदमूलक धर्मतन्त्रपरायण सृष्टि हुई थी, जो सनक, सनन्दन आदि सिद्ध, मरीचि, अत्रि आदि प्रजापति तथा उससे उत्पन्न ब्राह्मणगणके रूपमें थी, वह सब सृष्टि ब्रह्माकी मानसिक सृष्टि थी ॥ २८ ॥

उसकी और भी क्रिया कह रहे हैं—

यह पञ्चकोषको उत्पन्न करता है ॥ २९ ॥

जैसे ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवनकी उत्पत्ति सहज कर्मद्वारा होती है, वैसेही पिण्डमें पञ्चकोषकी उत्पत्ति सहजकर्म द्वारा अपने-आप होती है। सृष्टिके आदिमें सगुणब्रह्ममें 'मैं एकसे बहुत होऊँ' ऐसी इच्छा होती है, तो उसी समय सहजकर्मके द्वारा जैसे चतुर्दश भुवनादि जीवके वास-उपयोगी लोक बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जब चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीवभाव प्रकट होता है, तो उसीके साथ ही साथ सहजकर्मद्वारा जीवके भोगस्थलरूपी पञ्चकोष अपने आपही प्रकट हो जाते हैं। यदि माना जाय कि, मनुष्य और देवता आदिको तो देह अपने अपने कर्मके अनुसार मिलता है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यसे निम्नकोटिके उद्भिज्जादि योनियोंमे तो ऐसे पूर्व कर्मकी सम्भावना है ही नहीं ; इस कारण यह स्वतःसिद्ध है कि, अहेतुक सहजकर्म ही जीवपिण्डमें पञ्चकोषोंका उत्पादक है।

पञ्चकोषजननम् ॥ २९ ॥

दूसरी ओर यह विचारने योग्य विषय है कि, मनुष्य और देवता आदिमें केवल स्थूलशरीररूपी अन्नमयकोषका परिवर्तन होता है, अन्य चारों कोष जैसेके तैसे बने रहते हैं और क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करते रहते हैं। इस विज्ञानके अनुसार भी स्वसिद्धान्तकी पुष्टि होती है ॥२९॥

और भी कह रहे हैं—

त्रिविध शरीरका भी हेतु है ॥ ३० ॥

जब सहजकर्म पञ्चकोषका हेतु है, तो त्रिविध शरीरका भी हेतु हुआ। पञ्चकोषही रूपान्तरसे तीनों शरीर बन जाते हैं; यथा अन्नमयकोषही स्थूलशरीर है, प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषको ही सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर कह सकते हैं और आनन्दमयकोषके साथही कारणशरीरका सम्बन्ध मिला सकते हैं। अतः यही सहजकर्म ही जीवके तीनों शरीरोंका निर्माता है ऐसा मानना ही पड़ेगा ॥३०॥

सहजकर्मकी स्थूलक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब उसकी सूक्ष्म क्रियाओंका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

स्त्रीशरीरमें उसका प्रकाश सतीत्वके द्वारा होता है ॥३१॥

जैसे एक ब्रह्माण्डके चतुर्दश भुवनोंकी उत्पत्ति अथवा स्वेदज अण्डज आदि मनुष्योंकी नीचेकी सब योनियों की प्राप्ति

शरीरत्रयहेतुश्च ॥ ३० ॥ तत्प्रकाशः स्त्रीशरीरे सतीत्वतः ॥ ३१ ॥

अहेतुक और सहजकर्मसे स्वाभाविक है ; उसी प्रकार नारी-शरीरमें सहजकर्मका प्रकाश सतीत्वधर्मके द्वारा हुआ करता है ; क्योंकि नारीशरीरके लिये अभ्युदय और निःश्रेयसकी स्वाभाविकरूपसे प्राप्ति सतीत्व-धर्म द्वारा हुआ करती है। नारीके साथ मूलप्रकृति का स्वभावसिद्ध साधर्म्य विद्यमान है। मूलप्रकृति जिसप्रकार पराधीन, परमपुरुष-मुखापेक्षी और परमपुरुषकी शक्तिरूपिणी है, उन्हीं सब धर्मोंकी छाया नारीमें रहना अवश्यम्भावी है ; क्योंकि परमपुरुष और मूलप्रकृतिकी छायारूपसेही पुरुषधारा और नारीधारा सृष्टिमें विद्यमान रहती है । नारीजातिका स्वाभाविक साधर्म्य अस्वतन्त्रता तथा पतिनिर्भरता-मूलक सतीत्व धर्मही है। इस कारण नारीजातिमें सतीत्वधर्मके क्रमविकाश द्वारा सहजकर्मका विकाश होता रहता है ॥ ३१ ॥

इसका साक्षात् फल कह रहे हैं :—

उससे पुरुषभाव लाभ होता है ॥३२॥

नारीधाराके लिये पुरुषधाराकी प्राप्तिही मुक्तिपथकी प्राप्ति है। जिस प्रकार सृष्टि होते समय ब्रह्मप्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर सृष्टि, स्थिति, लय करती हुई महाप्रलय अवस्थामें पुनः ब्रह्ममें लीन होकर अद्वैत स्व-स्वरूपको प्रतिष्ठित करती हैं, उसी आदर्शपर नारीधारा पुरुषधारामें प्रथम मिलती है और उसके अनन्तर पुरुषधारा ब्रह्मसमुद्रमें जाकर अद्वैतभावको धारण

तस्मात् पुरुषभावलाभः ॥ ३२ ॥

करती है। नारीशरीरमें सहजसतीत्वधर्मके प्रभावसे जन्मान्तरमें नारी पुरुष बन जाती है और पुरुषधर्मको प्राप्त होकर ज्ञानयज्ञके प्रभावसे स्व-स्वरूपरूपी मुक्ति-पदकी प्राप्ति जीव कर लेता है। इसमें सहजकर्मका ही महत्त्व है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

सत्प्रेम्णैव सती नारी यथा ब्रह्मण्यं तथा।
पत्यौ तन्मयतामेत्य पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥

जिसप्रकार ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें अभेद भावसे लीन रहती है, उसीप्रकार सती स्त्री उत्तम प्रेमके द्वारा पतिमें तन्मयता प्राप्त होकर पुरुषत्वको प्राप्त करती है ॥ ३२ ॥

दूसरा साक्षात् फल कहा जाता है—

वह पुरुषमें अद्वैत ज्ञानोत्पादक है ॥ ३३ ॥

स्त्री जिसप्रकारसे सहजकर्मप्रदायी सतीत्वधर्मसे पुरुषत्व-लाभ करके स्त्रीयोनिसे मुक्त हो जाती है, उसी प्रकार जो सहजकर्म जीवको उन्नत करता हुआ मनुष्य-योनितक पहुँचा देता है, वही सहजकर्म पुनः तत्त्वज्ञानी पुरुषमें अद्वैतज्ञान उत्पन्न करता हुआ पुरुषको मुक्तिभूमिमें पहुँचाता है। जिसप्रकार नारीशरीरमें सतीत्वधर्मके बलसे अपने आपही जटिल अवस्था-का अतिक्रमण होकर सहजकर्मका उदय होता हुआ मुक्तिका पथ सरल होता है, ठीक उसीप्रकार पुरुषशरीरमें अद्वैतज्ञानका जब उदय होता है, तब कर्मका जटिलत्व दूर होकर मुक्तिमार्ग

अद्वैतज्ञानकृत् पुरुषे ॥ ३३ ॥

सरल हो जाता है। पुरुष धृति, क्षमा आदि साधारणधर्म और वर्णाश्रमधर्मादि विशेषधर्मोंका साधन करते करते क्रमशः जन्म-जन्मान्तरमें शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण ; पुनः कर्मी, उपासक, ज्ञानी, वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ इसी प्रकारसे अग्रसर होकर अद्वैतज्ञानकी प्रतिष्ठाद्वारा सहजकर्मकी पराकाष्ठासे जीवन्मुक्तपदवीको प्राप्त कर लेता है ॥ ३३ ॥

विज्ञानको और भी सरल किया जाता है—

वह जीवभावको उत्पन्न करनेवाला और कैवल्यका कारण है ॥ ३४ ।

सहजकर्म ही प्रकृतिके स्वाभाविक हिल्लोलके साथही साथ चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीवत्व उत्पन्न करता है और क्रमशः जीवको अग्रसर करता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुँचाता है और पुनः जीवन्मुक्तमें उसका उदय होकर वह जीवको मुक्तभी करता है, दूसरी ओर जैसा कि पहले कहा गया है, स्त्रीधाराको पुरुषधारामें परिणत कर देता है और पुरुषधाराको ब्रह्मसमुद्रमें जाकर मिला देता है। सहज कर्मकी विचित्रता यह है कि, वह जीवभाव उत्पन्न करता है, दूसरी अवस्थामें जीवकी क्रमोन्नतिका मार्ग सरल करता है, और अन्तिम अवस्थामें जीवको जीवन्मुक्तिपदवी देकर बन्धन-दशासे मुक्त कर देता है ॥ ३४ ॥

जीवभावभावकं कैवल्यकारणञ्च ॥ ३४ ॥

अब दूसरे कर्म-विभागका स्वरूप समझाया जाता है—

मनुष्य धर्माधर्मका अधिकारी होनेसे जैवकर्म मनुष्य-शरीरसे उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

जब नीचेकी योनियोंसे आगे बढ़कर जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वाधीन होता है, उस समय पाप-पुण्यप्रसवकारी जैवकर्म प्रकट होता है और वही आवागमन-चक्रका कारण बनता है। जैवकर्म अस्वाभाविक है। इस कारण जब जीव स्वाभाविक गतिको छोड़कर मनुष्ययोनिमें आवागमनचक्र उत्पन्नकारी तथा पापपुण्य प्रकटकारी अस्वाभाविक, कृत्रिम गतिको प्राप्त करता है, उस समय जैवकर्मका उदय होता है। जैवकर्मके द्वारा ही जीव निरन्तर आवागमनचक्रमें घूमता रहता है ॥ ३५ ॥

अब तीसरे कर्मविभागका स्वरूप वर्णन किया जाता है—

ऐश उभय सहायक है ॥ ३६ ॥

स्थूलप्रपञ्चका चालक दैवराज्य है। ऐशकर्मका विशेष सम्बन्ध दैवराज्यसे है, इस कारण वह उभय सहायक है। चाहे चतुर्विध भूतसङ्घ हो, चाहे आर्य या अनार्य मनुष्यसङ्घ हो, चाहे स्थावरप्रपञ्च हो, जङ्गम-प्रपञ्च हो, सबके मूलमें रक्षक और चालकरूपसे सूक्ष्म दैवराज्य उपस्थित है और प्रधानतः

मनुष्यवर्ष्मजं जैवमधिकारित्वाद्धर्माधर्मयोः ॥ ३५ ॥

ऐशमुभयसहायकम् ॥ ३६ ॥

जिस कर्मश्रेणी द्वारा दैवराज्य चालित होता है, उसको ऐशकर्म कहते हैं, अतः दैवराज्यसे सम्बन्धयुक्त ऐशकर्म उभयसहायक है। उसके द्वारा सहजकर्मकी व्यवस्थामें सहायता मिलती है जैवकर्मकी व्यवस्थामें भी सहायता मिलती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, सहजकर्मसे सम्बन्धयुक्त उद्भिज्ज स्वेदजादि योनियोंके रक्षक और चालक यदि देवता न हों तो सुव्यवस्था रह ही न सके, उसीप्रकार जैवकर्मसे सम्बन्धयुक्त मनुष्यादिकी आवागमन-गतिकी व्यवस्था और कर्म परिपाकादिकी व्यवस्थामें यदि देवता सहायक न हो तो वह चलही नहीं सकता है, अतः ऐशकर्मके उभय सहायक होनेमें कोई शंका ही नहीं है॥ ३६॥

उसकी विशेषता कह रहे हैं—

वह समष्टि व्यष्टि और मिश्र है ॥ ३७ ॥

ऐशकर्मकी विशेषता यह है कि, वह ब्रह्माण्ड सहायक होनेसे समष्टि-भावयुक्त है, पिण्डसहायक होनेसे वह व्यष्टिभावयुक्त है और उभय-सहायक होनेसे उभयभावयुक्त होता है यह विस्तारित अधिकार उसकी विशेषता-प्रतिपादक है। उदाहरण-से समझ सकते हैं कि, जब देवताओंके द्वारा साक्षात् रूपसे ऐसे शुभ अथवा अशुभ फलयुक्त कार्य होते हैं, जिसके द्वारा केवल ब्रह्माण्डका शुभ अथवा अशुभ हो, तब वह समष्टिभावयुक्त कहा जा सकता है। जब ऐसी शुभ अथवा अशुभ फलोत्पादक

तत् समष्टिव्यष्टी मिश्रञ्च ॥ ३७ ॥

दैवीक्रिया प्रकट हो, जिससे केवल किसी पिण्डविशेषको शुभ-अशुभ-भोगकी प्राप्ति हो, तब समझना उचित है कि, वह व्यष्टिभावयुक्त है। इसीप्रकार जिस फलविशेषका प्रभाव ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंके प्रति पड़ता हो, उसको मिश्र कह सकते हैं ॥ ३७ ॥

और भी कह रहे हैं—

इस कारण इसका वैचित्र्य है ॥ ३८ ॥

सहजकर्मका साक्षात सम्बन्ध केवल प्रकृतिके स्वाभाविक तरंगके साथ है, उसीप्रकार जैव कर्मका साक्षात् सम्बन्ध केवल मनुष्यके स्वकीय संस्कार के साथ है; परन्तु ऐशकर्मका सम्बन्ध इन दोनोंके साथ भी परोक्षरूपसे है। अतः पूर्वसूत्रके अनुसार समष्टि व्यष्टि और उभय सहायक है, यही ऐशकर्म का वैचित्र्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि, स्थूल प्रपञ्चका चालक सूक्ष्म दैवजगत है और सब प्रकारके कर्मोंके फलके मूलमें देवताओंकी सहायता विद्यमान है। कर्म जड़ होनेसे विभिन्न विभिन्न देवतागण कर्मकी फलोत्पत्ति करनेमें प्रधान सहायक बने रहते हैं; नहीं तो जड़कर्म बिना चेतन देवताओंकी सहायताके फलोत्पादनमें असमर्थ है ॥ ३८ ॥

अब ऐशकर्मके विस्तारका प्रमाण दिया जाता है—

मनुष्यसे देवताभी होते हैं ॥ ३९ ॥

अतो वैचित्र्यमस्य ॥ ३८ ॥ मानवाद् देवोपि ॥ ३९ ॥

ऐशकर्मकी शक्ति और ऐशकर्मका सम्बन्ध बहुतही विस्तृत है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मनुष्यसे देवता बनते हैं। जो मनुष्य अपने कर्मोको उन्नत करके देवाधिकारके उपयोगी बन जाता है, वह मनुष्यत्वको छोड़कर देवत्वकी प्राप्ति कर लेता है। वस्तुतः जो जीव देवलोकमें जाकर बड़े बड़े देवपदोंको प्राप्त करते हैं, वे भूतकालमें मनुष्य ही थे। मनुष्ययोनि जिस प्रकार पहलेकी मनुष्येतर निम्नयोनियोंकी चरम उन्नतिका स्थान है, उसी प्रकार देवयोनि प्राप्तिकी भी भित्ति है बिना मनुष्यत्व-प्राप्तिके जीव देवत्वप्राप्ति नहीं कर सकता है। सुतरां ऐशकर्म अपना सम्बन्ध जैव कर्मसे बाँधकर मनुष्यको देवता बना देता है। यह ऐशकर्मके विस्तार और शक्तिका एक बड़ा प्रमाण है। स्मृतिशास्त्रमें राजा सुरथका मनुष्ययोनिके अनन्तर मनुपदरूपी देवपदको प्राप्त होना, इसी प्रकार नन्दीका मनुष्यसे ही देवपद प्राप्त करना, राजा नहुषका इन्द्रपद प्राप्त करना, गण्डकी नाम्नी मानवी वेश्याका गण्डकी नदी नामसे अधिदैवरूपसे देवपद प्राप्त करना इत्यादि अनेक प्रमाण है। इस सूत्रमे 'अपि' शब्द ऐशकर्मके सम्बन्धसे मनुष्यके देवत्व-प्राप्तिके वैलक्षण्यका प्रतिपादक है॥ ३६॥

और भी कहा जाता है—

अवतार और जीवन्मुक्तमें उसका प्राकट्य होता है॥४०॥

तत्प्रकाशो मुक्तावतारेषु॥ ४०॥

ऐशकर्मके स्वरूपको और भी स्पष्ट करनेके लिये और मनुष्य-योनिमें उसका सम्बन्ध किस प्रकारसे होता है इसको सरल-रूपसे दिखानेके लिये कहा जाता है कि मनुष्य जब उन्नत होता हुआ जन्म-जन्मान्तरके उग्र शुभकर्म द्वारा अवतारत्व प्राप्त करता है, अर्थात् उसका पिण्ड अवतारकी शक्तिको धारण करने योग्य बन जाता है अथवा जीवन्मुक्तत्व प्राप्त करता है, तब उस पिण्डमें आपही ऐशकर्मके साथ सम्बन्ध स्थापन हो जाता है। जीवन्मुक्त आत्माओंमें जब लोकोपकारकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह ऐशकर्मसे सम्बन्ध युक्त है ऐसा जानना चाहिये। वस्तुतः ऋषि, देवता और पितृगण ही जीवन्मुक्त महात्माओंके द्वारा अपनी क्रियाशक्तिका सञ्चालन करते हैं और अपनी इच्छाशक्तिके द्वारा अपना अपना प्रतिनिधि बनाकर अपना कार्य करा लेते हैं। जीवन्मुक्त पराशरमें दैवी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके प्रयोग द्वारा ही श्रीभगवान् व्यासदेव जैसे पिण्डकी उत्पत्ति पितरोंने करवा ली थी इसी कारण व्यास-भगवान्का जन्म ऐसा लोकोत्तरभावोंसे पूर्ण है। जीवन्मुक्त दुर्वासाके द्वारा देवताओंका अशुभ कार्य्य कराना पौराणिक युगमें और आधुनिक युगमें जीवन्मुक्त शंकराचार्य्यके द्वारा अनेक दैव शुभ कार्य्य कराना देवताओंकी प्रेरणाके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं और नित्य ऋषियोंकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका प्रयोग तो इस संसारमें पतञ्जलि, व्यास, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठआदि अनेक जीवन्मुक्तोंके उदाहरणसे

लोकप्रसिद्ध है। दूसरी ओर अवतारोंमें जो दैवी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका प्राकट्य होता है सो तो स्वतःसिद्ध है; क्योंकि अलौकिक दैवकार्य्य सम्पादनके लिये ही अवतारोंका आविर्भाव हुआ करता है ॥४०॥

अब तीनोंमेंसे पहलेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

सहज ऊर्द्ध्वगामी है ॥ ४१ ॥

सहजकर्म ब्रह्मप्रकृतिके स्व-स्वभावसे सम्बन्ध रखकर प्रकट होता है इसकारण उसकी गति सदा ऊर्द्ध्वमुखिनी रहती है। ब्रह्मप्रकृति अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था और पुनः व्यक्तावस्थासे अव्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है जैसा कि श्रीभगवान्‌ने निज-मुखसे गीतोपनिषद्‌में कहा है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

ब्रह्माका दिन होनेपर अव्यक्तसे सृष्टिका उदय होता है और रातको उसीमें सबका प्रलय हो जाता है। समस्त चराचर जीवोंका समुदाय इसी प्रकार बार बार दिनको प्रकट होता है और रातको लयप्राप्त होता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे

सहजमूर्द्ध्वगम् ॥ ४१ ॥

समझ सकते हैं, कि प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर त्रिगुणके कारण विकारको प्राप्त होती है और पुनः प्रकृतिस्थ होकर ब्रह्ममें लय हो जाती है ; अर्थात् परमपुरुषके भोगके लिये प्रकृति परमपुरुषसे पृथक् होकर संसारकी सृष्टि करती है और आनन्द विलासको उत्पन्न करती है और दूसरे क्षणमें इन सब दृश्यप्रपञ्चको अपनेमें लय करती हुई स्वयं ब्रह्ममें लीन हो जाती है। प्रकृतिके इस स्वभावके अनुसार सहजकर्मका भी स्वभाव बनता है ; क्योंकि सहजकर्म प्रकृतिका सहजात है। सहजकर्म भूतभावोद्भवकर विसर्गसे जीवोत्पत्ति करता है, तब वह चिज्जड़-ग्रन्थिसम्भूत जीव सहजकर्मके बलसे क्रमशः नियमितरूपसे अभ्युदयको प्राप्त होता रहता है ; क्योंकि सहजकर्म प्रकृति-सहजात होनेके कारण प्रकृतिके साथही साथ व्यक्त होकर पुनः प्रकृतिको ब्रह्ममें मिलानेका कारण बनता है और प्रकृति ब्रह्मसे व्यक्त होकर पुनः ब्रह्ममें ही अव्यक्तभाव प्राप्त होनेके लिये स्वरूपकी ओर ही अग्रसर होती रहती है और अन्तमें पुनः ब्रह्ममें ही लीन हो जाती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार सहजकर्म अपने आपही प्रकृतिसे उत्पन्न होकर स्वाभाविक रूपसे प्रकृतिसम्भूत भूतादिको अग्रसर करता हुआ प्रकृतिमें ही मिल जाता है इस कारण सहजकर्मकी गति सदा ऊर्ध्वमुखिनी रहती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार श्रेणीके पिण्डोंमें तो सहजकर्मकी ऊर्ध्वमुखिनी नियमित स्वाभाविक गति स्पष्टही प्रतीयमान होती है। क्योंकि इन योनियोंमें जीव बिना बाधाके उन्नत

कर्मकी ओर अग्रसर होता ही रहता है। पुनः अनार्यत्व, चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रमत्व, मनुष्यत्व, और देवत्वादिमें जो विना बाधाके उन्नतिशील गति है सो सहजकर्मके प्रभावसे होती रहती है। सहजकर्म प्रकृति-सहजात होनेसे उसकी स्थिति सर्वत्र वर्तमान है। उसीको अवलम्बन करके जीवन्मुक्तपद मनुष्यको मिलती है और उसीको अवलम्बन करके धर्माचार्योंने कर्मकाण्डमें निष्कामयज्ञ, उपासनाकाण्डमें पराभक्ति और ज्ञानकाण्डमें ब्रह्मसद्भावका अधिकार निर्णय किया है ॥ ४१ ॥

अब दूसरेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

जैवकर्म अधोगामी है ॥ ४२ ॥

सहजकर्म जिसप्रकार ऊँचे ही ऊँचे ले जाता है, क्योंकि ब्रह्मप्रकृति सहजात है, जैवकर्म वैसा नहीं है। मनुष्ययोनिमें जीव पिण्डका ईश्वर बन जानेसे उसकी प्रकृति विकृति हो जाती है। इस कारण विकृतिसे उत्पन्न कर्म इन्द्रिय-सम्बन्धसे निम्नगामी बन जाता है। वस्तुतः सहजकर्म प्रकृति सहजात है और जैवकर्म विकृतिसहजात है, ऐसा कह सकते हैं। यही कारण है कि, सहजकर्म स्वस्वरूपकी ओर नियमितरूपसे ले जाता है; परन्तु जैवकर्म जीवको फँसाये रहता है और आवागमनचक्रमें घुमायाकरता है। सहजकर्मकी गति सहज है और जैवकर्मकी गति कुटिल है। इस कारण जैवकर्म

जैवमधोगम् ॥ ४२ ॥

निरन्तर जटिलता प्राप्त कराता है और जीवको आसक्तिके फन्देमें डालकर गिराता रहता है ॥ ४२ ॥

प्रकृत विज्ञानके सम्बन्धमें वर्णाश्रमकी आवश्यकता दिखाई जाती है—

उसकी निवृत्तिके लिये वर्णाश्रमकी अपेक्षा है ॥ ४३ ॥

जीव सहजकर्मकी क्रमोन्नति-प्रदायिनी शक्तिके अनुसार मनुष्ययोनि तक तो बिना बाधाके पहुँच जाता है। मनुष्ययोनिमें पाप-पुण्यका अधिकारी बनकर जैवकर्मकी अधोगामिनी कुटिल गतिका अधिकारी होता है; तब पूर्णावयव-जीवरूपी मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर बनकर इन्द्रियासक्तिमें फँसता हुआ अपनी ऊर्द्ध्वगतिसे च्युत होकर नीचेकी ओर गिरता रहता है। सुतरां ऐसी दशामें उसको कोई असाधारण सहायता न मिले तो उसकी क्रमोन्नति चिरकालके लिये रुक जाती है। इस निम्नप्रवणगतिको रोककर यथायोग्यरूपसे उसकी ऊर्द्ध्वमुखीनगतिको पुनः नियोजित करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मकी सुव्यवस्था बाँधी गई है। वस्तुतः वर्णाश्रम-पालनके द्वारा आर्य्यजातिमें मनुष्य वारवार जन्मग्रहण करके अपने उस ऊर्द्ध्वगामी स्रोतको स्थायी रख सकता है और जैवकर्मके द्वारा जो जटिलता हो जाती है उसको दूर कर सकता है। शास्त्रोंमें इस विज्ञानके अनुमोदनार्थ जो एक औपनिषदिक दृश्यका वर्णन श्रीभगवान् शम्भुने निजमुखसे किया है सो नीचे प्रकाशित किया जाता है—

वर्णाश्रममपेक्ष्यं तन्निवृत्तये ॥ ४३ ॥

श्यामायाः प्रकृतेर्मे स्तो द्वे रूपे परमाद्भुते ।
यतः सैव जड़ा जीवभूता चैतन्यमय्यपि ॥
अज्ञानपूर्णरूपेण जड़रूपं धरन्त्यसौ ।
सृष्टिं प्रकाशयेच्छश्वन्नात्र कश्चन संशयः ॥
असौ चैतन्यपूर्णा च भूत्वा स्रोतस्विनी मम ।
स्वस्वरूपात्मके नित्यं पारावारे विशत्यहो ॥
सरिन्निर्गत्य चिद्रूपा सा महाद्रेर्जड़ात्मकात् ।
उद्भिज्जे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे ॥
सलीलं खातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः ।
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाधं व्रजति स्वयम् ॥
तस्या अधित्यकाया हि निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः ।
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः ॥
यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः ।
स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः ॥
अव्याहतञ्च नीरन्ध्रमविच्छिन्नं निरापदम् ।
स्रोतस्तन्नितरां कृत्वा नदीधारा धरातले ॥
विधातुं सरला सौम्यामष्टबन्धा स्वधाभुजः ।
धर्मा वर्णाश्रमा एव निर्मिता नात्र संशयः ॥
त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम् ।
पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये ॥
मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेशं राजतेतराम् ।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः ॥

निर्जरानिखिलास्तस्यां नद्यामानन्दपूर्वकम् ।
सर्वदैवावगाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते ॥
उभयोस्तटयोः तस्याः समासीना महर्षयः ।
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम् ॥
यूयं दार्ढ्याय बन्धानां तेषाञ्चैव निरन्तरम् ।
रक्षितुं तान् प्रवर्त्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः ॥
भवतामत्र कार्ये च विश्वमङ्गलकारके ।
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्य्यः सहायिकाः ॥

मेरी प्रकृति श्यामाके दो रूप हैं, वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी हैं। वही अज्ञानपूर्ण रूप धारण करके सदा सृष्टिको प्रकट करती हैं और चेतनमयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्व-स्वरूप पारावारमें प्रवेश करती हैं। वह चिन्मयी नदी जड़मय महापर्वतसे निकलकर प्रथम उद्भिज्ज, तदनन्तर स्वेदज, तदनन्तर अण्डज, तदनन्तर जरायुजनामधारी खादमें सरलतासे बहती हुई मनुष्यलोकरूपी अधित्यकामें पहुँचती है। उस अधित्यकाके नीचे महती उपत्यकाएँ और गह्वर आदि विद्यमान हैं, जिनमें उस पवित्र तरङ्गिणीका जल स्थान स्थानपर स्वतः ही वह जाया करता है। हे पितृगण ! उस स्रोतको अप्रतिहत नीरन्ध्र और अविच्छिन्न रखकर नदीकी धारा धरातलपर सरल रखनेके लिये वर्ण और आश्रमके आठ बन्ध रक्खे गये हैं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल पथको अवलम्बन करके मुझमें परमानन्द-प्राप्तिके हेतु प्रवेश करती है।

हे पितृगण ! इसमें आपलोग विस्मित न होवें। देवतागण उस नदीमें आनन्दपूर्वक अवगाहन करके अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और ऋषिगण उस नदीके दोनों तटोंपर समासीन तथा ब्रह्मध्यानमें मग्न होकर निःश्रेयस पदको प्राप्त होते हैं। आप लोग निरन्तर उन बन्धोंको सुदृढ़ रखनेके लिये उनके पास रहकर उनकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त हों और आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभ कार्य्यमें सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियाँ सहायिका हैं ॥ ४३ ॥

अब वर्णाश्रम-शृंखलाकी भित्ति कह रहे हैं—

सतीत्व उसका मूल है ॥ ४४ ॥

वर्णाश्रम-शृङ्खलाकी भित्ति और उसका विज्ञान हृदयङ्गम करानेके अभिप्रायसे सबसे प्रथम पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, यदि विचारके देखा जाय, तो यही सिद्ध होगा कि, वर्णाश्रम शृङ्खलाका मूल नारीजातिका सतीत्व है। आश्रमधर्मका मूल वर्णधर्म है और वर्णधर्मका मूल रजोवीर्य्यकी शुद्धि है, रजोवीर्य्य शुद्धिका मूल नारीजातिमें त्रिलोकपवित्रकारी सतीत्वधर्म है। गृहस्थगण चाहे कितना ही सदाचारसे रहें, पुरुषगण चाहे कितने ही संयमी हों, यदि नारीजाति अपने तपोधर्मकी रक्षा न करे तो वर्णकी शुद्धि और आश्रमकी शुद्धि दोनों नष्ट हो जायगी और दोनोंकी शृङ्खला बिगड़ जायगी।

सतीत्वमूलं तत् ॥ ४४ ॥

दूसरी ओर विचारनेयोग्य विषय यह है कि, पुरुषका कदाचार उसके व्यक्तित्व तक ही पहुँचता है और स्त्रीका कदाचार उसके व्यक्तित्व, उसकी सन्तति, उसका कुल, उसकी जाति और यावत् वर्णाश्रम-शृङ्खलाको भ्रष्ट कर देता है। जातिकी शुद्धिकेलिये तो क्षेत्रकी शुद्धि ही प्रधान है और सन्ततिकी संस्कार-शुद्धि माताकी संस्कारशुद्धिपर ही निर्भर करती है। इस कारण यह सिद्ध है कि, वर्णाश्रमका मूल नारीजातिका सतीत्व है ॥ ४४ ॥

और भी कह रहे हैं—

शुद्धि इसका स्कन्ध है ॥ ४५ ॥

यदि वर्णाश्रम-व्यवस्थाको एक वृक्षके रूपकमें सजाया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि, नारीजातिका सतीत्व जैसे उसका मूल है, वैसे ही रजोवीर्य्यकी शुद्धि उसका स्कन्धरूप है। वृक्षका स्कन्ध जिसप्रकार उसको थाम्हे रहता है, उसीप्रकार पितरोंसे प्राप्त शुद्ध वंशपरम्परागत जो वीर्य्यकी शुद्धि है और पवित्र क्षेत्ररूपसे माताके द्वारा प्राप्त जो रजकी शुद्धि है, ये ही दोनों वर्णाश्रमरूपी कल्पवृक्षके स्कन्धरूप हैं। संस्कारपादमें यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि, रज और वीर्य्यके द्वारा उभयविध संस्कारका आकर्षण होता है। इसप्रकारसे उभयविध शुद्ध संस्कारोंकी परम्परासे क्रमप्राप्त आकर्षण सृष्टिकालके आदिसे होते रहनेसे वर्णाश्रमशृङ्खलामयी आर्य्यजाति इस

शुद्धिः स्कन्धः ॥ ४५ ॥

नाशवान् संसारमें चिरजीवी बनी रहती है, इसी कारण शुद्धि उसका स्कन्ध है ॥ ४५ ॥

और भी कहते हैं—

शृङ्खला उसकी शाखा है ॥ ४६ ॥

वर्णधर्म और आश्रमधर्म निभानेके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने जो नाना दार्शनिक युक्तियोंसे दृढ़ शृङ्खला बाँधी है, वही इस वृक्षकी शाखायें हैं। वृक्षका विस्तार और उस विस्तारका अस्तित्व जिसप्रकार शाखाओंके द्वारा सुरक्षित होता है, उसी प्रकार नाना प्रकारकी वर्णाश्रम-शृङ्खलाओंके द्वारा वर्णाश्रमका महत्त्व सुरक्षित होता है। समाज-दण्ड, राजदण्ड, शास्त्रविचार, धर्माधर्मविचार नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी यही शृङ्खला वर्णाश्रम-की रक्षा करती है ॥ ४६ ॥

और भी कहते हैं—

सदाचार पत्ते हैं ॥ ४७ ॥

इस कल्पद्रुमके पत्रसमूह सदाचार हैं। जैसे पत्तोंके द्वारा वृक्षका परिचय मिलता है, जैसे वृक्षके पत्तोंके द्वारा वृक्षका वृक्षत्व पूर्णताको प्राप्त होता है, उसीप्रकार वर्णोचित और आश्रमोचित सदाचार पालनके द्वारा ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण और गार्हस्थ्यादि आश्रम पहचाने जाते हैं और उनकी मर्य्यादा अक्षुण्ण रहती है ॥ ४७ ॥

शृङ्खला शाखा ॥ ४६ ॥ सदाचारः पत्रम् ॥ ४७ ॥

और भी कहते हैं—

अभ्युदय पुष्प है ॥ ४८ ॥

वृक्षोंका पुष्प जिसप्रकार फलोत्पत्तिका कारण होता है, उसी प्रकार निःश्रेयसरूपी मुक्तिफलकी प्राप्ति करानेके लिये वर्णाश्रमधर्म जीवको नियमितरूपसे अभ्युदय देकर मुक्तिपदमें पहुँचा देता है। अभ्युदय दो प्रकारका होता है, एक लौकिक अभ्युदय, दूसरा पारलौकिक अभ्युदय। वर्णाश्रमधर्मके आचरणद्वारा वे दोनों अभ्युदय जीवको स्वतः प्राप्त होते जाते हैं। वर्णाश्रमशृङ्खला और वर्णाश्रम सदाचार ऐसे सुकौशलपूर्ण रीतिपर बनें हैं कि, जिनके यथाक्रम पालन करनेसे क्रमाभ्युदय-का प्राप्त करना निश्चित है। दूसरी ओर पुष्पकी शोभा और सुगन्धद्वारा जैसे सर्वजनकी प्रसन्नता और पुष्पनिःसृत मधुद्वारा मनुष्यलोकसे लेकर देवलोकतककी तृप्ति होती है, उसी प्रकार वर्णाश्रमकी व्यवस्थाद्वारा ऋषि, देवता और पितरोंकी किस प्रकार प्रसन्नता होती है, सो पहले कहा गया है; इस कारण पुष्प और अभ्युदयका दृष्टान्त युक्तियुक्त है ॥ ४८ ॥

और भी कह रहे हैं—

कैवल्य फल है ॥ ४९ ॥

वर्णाश्रमधर्मके पालनसे कैवल्यरूपी फलकी प्राप्ति स्वतः ही होती है। जिसप्रकार वृक्षके पुष्पसे ही फलोत्पत्ति होती है,

---

पुष्पमभ्युदयः ॥ ४८ ॥ कैवल्यं फलम् ॥ ४९ ॥

उसीप्रकार वर्णाश्रमधर्मके पालनद्वारा अपने आपही जीवको अभ्युदय प्राप्त होते-होते अन्तमें कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरमें वर्णाश्रमधर्मके द्वारा क्रमाभ्युदय होना निश्चय है। चारों वर्णमें क्रमशः काम, अर्थ, धर्म और मोक्षकी चरितार्थता करनेकी सुकौशलपूर्ण क्रिया रक्खी गयी है। उसी प्रकार चारों आश्रमोंमेंसे प्रथम दोमें प्रवृत्ति और अंतिम दोमें निवृत्तिकी चरितार्थताकी शृङ्खला बाँधी गयी है। इसप्रकारसे जीव वर्णाश्रमधर्मका पालन करता हुआ अपने आपही अन्तमें अवश्य ही कैवल्यभूमिमें पहुँच जाता है। मुक्तिके लिये उसको स्वतन्त्र उद्योग करनेकी आवश्यकता नहीं होती है ॥ ४६ ॥

अब वर्णाश्रम-शृङ्खलाका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

असवर्ण विवाह अधिभूतशुद्धिका नाशक है ॥५०॥

वर्णाश्रम शृंखलाकी भित्ति का विस्तारित स्वरूप वर्णन करके अब उसकी शृङ्खलाका स्वरूप दिखा रहे हैं। वर्णाश्रम-शृङ्खलामें स्ववर्णमें विवाह करना ही उसकी रक्षाका कारण होता है और असवर्ण विवाह करनेसे उसकी शुद्धि नष्ट हो जाती है। वर्णाश्रम-शृङ्खलाका प्रथम सिद्धान्त यह है कि, असवर्णविवाह न किया जाय और स्ववर्ण विवाह किया जाय। इस संसारमें स्त्रीजातिका आकर्षण सबसे अधिक है। उस मोहमय आकर्षणके वशीभूत होकर जातिको शुद्ध रखनेवाली

अधिभूतशुद्धिनाशकोऽसवर्णोद्वाहः ॥ ५० ॥

शृङ्खला नष्ट न होने पावे और अशुद्धताका द्वार रुद्ध हो जाय, जिससे आर्य्यजाति चिरजीवी हो सके। इस कारण इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है॥ ५० ॥

और भी कहा जाता है—

गुणपरिपन्थी भी है॥ ५१ ॥

असवर्णविवाह दूसरे वर्णके साथ सङ्करता उत्पन्न करके वर्णकी शुद्धिका तो नाश करता ही है; परन्तु गुणोंमें भी बाधक है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतोपनिषद्में कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

भगवान्‌ने जो चारों वर्णोंकी अलग-अलग सृष्टि की है, उनमें गुणविभागभी एक कारण है। सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, सत्त्वरजः-प्रधान क्षत्रिय, रजस्तमःप्रधान वैश्य और तमोगुणप्रधान शूद्र माने गये हैं। इन तीनों गुणोंका आकर्षण रजोवीर्यके द्वारा होता है। शरीर त्रिगुणका आधार है, इस कारण रजोवीर्यकी शुद्धिके बिना त्रिगुणका तारतम्य ठीक-ठीक आकर्षित होकर स्थापित नहीं हो सकता है; अतः मानना ही पड़ेगा कि, असवर्ण विवाह गुणसंग्रहका भी बाधक है॥ ५१ ॥

अब शृङ्खलाका दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं—

गुणपरिपन्थी च ॥ ५१ ॥

कौन विवाह वर्णाश्रम-शृंखलाका घातक होता है, यह बतलाते हैं—

विलोमविवाह वर्णाश्रम-शृङ्खलाका घातक है ॥ ५२ ॥

वर्णाश्रमशृंखलामें अपने वर्णमें वर-कन्याका विवाह सबसे श्रेष्ठ माना गया है। यदि कारणवश अनुलोम विवाह हो जाय, अर्थात् उच्चवर्णका पुरुष अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह करले, तो वह अनुलोम विवाह कहलाता है। ऐसे विवाहकी सम्मति शास्त्रकार देते हैं; परन्तु विलोम-विवाह अर्थात निम्न-वर्णका पुरुष उच्चवर्णकी कन्यासे विवाह करे, तो वह वर्णाश्रम-शृङ्खलाका घातक होगा। निम्नवर्णकी स्त्रीका रज उच्चवर्णके पुरुषके वीर्यको अपवित्र नहीं कर सकता; परन्तु यदि उच्च वर्णकी स्त्रीका रज हो और निम्नवर्णके पुरुषका वीर्य हो, तो प्रजातन्तुमें आध्यात्मिक स्थितिका हानि हो जाता है। इस कारण विलोम-सृष्टि पापवृद्धिका कारण हो जाती है। इससे पवित्र सृष्टि-शृङ्खला विगड़ जाती है ॥ ५२ ॥

अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये और भी कह रहे हैं—

वैसा अनुलोम विवाह नहीं होता ॥ ५३ ॥

अनुलोम विवाहमें रज निम्नवर्णकी स्त्रीका होनेसे और उच्चवर्णके पुरुषका वीर्य होनेसे पुरुषका वीर्य अपवित्र न

तत्र वर्णाश्रमशृङ्खलाविघाती विलोमः ॥ ५२ ॥

नानुलोमस्तथा ॥ ५३ ॥

होनेके कारण वर्णाश्रमश्रृंखलामें विशेष बाधा नहीं होती ॥ ५३ ॥

ऐसे विवाहसे जो गौणता हो जाती है वह कहते हैं—

उनकी सृष्टि माताकी जातिकी होती है ॥ ५४ ॥

यद्यपि अनुलोम विवाहकी सृष्टि अधर्मज नहीं कही जा सकती, तथापि उसमें जो गौणता आ जाती है, वह यह है कि, ऐसे विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान माताकी जातिकी मानी जाती है। विलोमज सृष्टि पापजनक है। यद्यपि अनुलोमज सृष्टि पापजनक नहीं है, क्योंकि उसमें वर्णाश्रमश्रृंखला नहीं बिगड़ती, ऐसी सृष्टि रजोवीर्यको घातक न होनेसे वह वर्णाश्रम-श्रृङ्खलाका नाशकारी नहीं है, तथापि रजोवीर्यकी समानता न होनेके कारण वह सृष्टि माताकी जातिकी हो जाती है ॥ ५४ ॥

अब श्रृंखलाका दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं—

स्वगोत्रविवाह कुलका नाशक है ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार वर्णाश्रमश्रृंखलाका प्रथम सिद्धान्त असवर्ण-विवाह न करना है, वैसे ही दूसरा सिद्धान्त स्वगोत्र विवाह न करना है। महर्षि सूत्रकार दूसरा सिद्धान्त कह रहे हैं कि, स्वगोत्रविवाह करनेसे कुलका नाश होता है।

तज्जः सर्गो मातृजातीयः ॥ ५४ ॥

कुलोच्छेदी स्वगोत्रायाः ॥ ५५ ॥

जिस मनुष्यजाति अथवा जिस वंशमें स्वगोत्रविवाह प्रचलित है, न वह मनुष्यजाति चिरजीवी हो सकती है और न वह वंश चिरजीवी रह सकता है। स्वगोत्रमें विवाहके द्वारा कुल नष्ट हो जाता है और ऐसा शुद्धकुल नष्ट हो जानेसे शुद्धजाति नष्ट हो जाती है। लौकिक इतिहास इसका साक्षी देता है कि, जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमशृंखला नहीं है, पृथिवीमें ऐसी कोई भी मनुष्यजाति चिरजीवी नहीं है। इस नाशवान् संसारमें अनेक मनुष्यजातियाँ कराल कालके गालमें पतित हो लुप्त हो गयी हैं; एकमात्र वर्णाश्रमधर्मी आर्यजाति ही चिरजीवी है। एकही गोत्रके रज और एकही गोत्रके वीर्यका संमिश्रण होना वीर्य्यके दुर्बलताका कारण है। ऐसे ही होते-होते वीर्य अपनी मौलिकता खो देगा इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें कहा गया है कि, स्वगोत्रागमन मातृगमनके समान है॥ ५५॥

और भी कह रहे हैं—

पितृकोपकर भी है॥ ५६॥

स्वगोत्रविवाह केवल कुलनाशक ही नहीं है, पितरोंके कोपका भी कारण है। अर्य्यमा, अग्निष्वात्ता आदि जो नित्यपितृगण हैं, जिनका सृष्टिकार्य्यकी रक्षामें बड़ा भारी अधिकार है, ऐसे पितृगणका भी कोप स्वगोत्रविवाह करनेसे

पितृकोपकरश्च॥ ५६॥

होता है। नित्यपितृगण एक श्रेणीके देवता हैं और वे आधिभौतिक जगत्की सुरक्षामें नियुक्त रहते हैं। स्थूलशरीर-निर्माण, स्थूलशरीरकी रक्षा उनका कार्य्य है। पितृगणके कार्य्यके भी स्वतन्त्र-स्वतन्त्र नियम हैं। उन नियमोंमें बाधा होनेसे स्वगोत्रविवाहद्वारा पितृकोपकी प्राप्ति होती है ॥ ५६ ॥

अब श्रृंखलाका अन्य सिद्धांत कहा जाता है—

वयोधिकासे शक्तिक्षय होता है ॥ ५७ ॥

वरसे यदि कन्याकी आयु अधिक हो, तो ऐसे विवाहके द्वारा पुरुषकी शक्तिका क्षय होता है। इस कारण शास्त्रमें वयोधिका कन्यासे विवाह करना निषिद्ध है। यह पहले ही कहा गया है, कि पुरुष बीजरूप है और स्त्री भूमिरूपा है। जिस प्रकार कीटादिसम्पर्कसे खेतमें बोये जानेवाले बीजकी शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वयोधिका कन्यासे विवाह होनेसे पुरुषकी शक्तिका नाश हो जाता है। सृष्टिके उत्पन्नकारक बीजमें त्रिविध शक्ति रहती है, यथा—अधिभूतशक्ति, अधिदैवशक्ति और अध्यात्मशक्ति। यद्यपि तीनों शक्तिका नाश होना एकदम प्रतीत नहीं होता, परन्तु त्रिकालदर्शी महर्षियोंने यह सिद्धान्त किया है कि, इन तीनों शक्तियोंमें न्यूनता समय पाकर अवश्यही देश-काल-पात्रके अनुसार होती है। जिस कुलमें इस प्रकारका विवाह होगा, उस कुलमें अथवा उस व्यक्तिमें क्रमशः यथादेश-

---

शक्तिक्षयो वयोऽधिकायाः ॥ ५७ ॥

काल-पात्र शरीर-सम्पत्ति, संकल्प बल और आत्मबल घट जायगा ॥ ५७ ॥

अब अन्य कहा जाता है—

रजस्वलासे त्रिविध शुद्धिकी हानि होती है ॥ ५८ ॥

कन्यामें रजोदर्शन होते ही उसकी कन्यकावस्थाका नाश होकर स्त्री अवस्था प्राप्त होती है। यह प्रकृतिका स्वभाव है कि, युवकको स्त्रीकी और युवतीको पुरुषकी इच्छा होती है। यह भी प्रकृति-जन्य स्वभावसिद्ध है कि, ऋतुके समय वह इच्छा स्त्रीमें प्रबल होती है। पशु-पक्षी तकमें यह नियम देखा जाता है। सुतरां रजोदर्शन होते ही कन्यावस्थाका नाश होकर स्त्रीको युवती-अवस्था प्राप्त होती है, तो स्त्री चाहे कितनी ही संयमी हो, उसके शरीर, उसके मन और उसकी बुद्धिमें कुछ-न-कुछ परिणाम होना अवश्य सम्भव है। परिणाम चाहे थोड़ा ही हो, पर होना निश्चित है। इस कारण उस परिणामके साथ-ही-साथ त्रिविधशुद्धिकी यथायोग्य हानि होना भी सम्भव है। जब क्षेत्रमें त्रिविधशुद्धिकी हानि होगी तो, सृष्टिमेंभी उसका प्रभाव पड़ना निश्चित है ॥ ५८ ॥

और भी कहा जाता है—

त्रिविधशुद्धिहन्ता रजस्वलायाः ॥ ५८ ॥

प्रातिभाव्यके कारण सर्वत्र सुरक्षाका आदेश है ॥ ५९ ॥

सृष्टिक्रियामें नारीजातिकी जिम्मेवरी सबसे अधिक होनेके कारण सर्वत्र और सब देशकालमें उसकी सुरक्षा करनेका आदेश है । वर्णधर्मके सम्बन्धमें रजोवीर्य्यकी शुद्धिकी रक्षा करना एकमात्र नारीजातिके ऊपर ही निर्भर है । आश्रमधर्मके सम्बन्धमें अन्य तीन आश्रमोंका आश्रय एकमात्र गृहस्थाश्रमको माना गया है, इस कारण गृहस्थाश्रम सबका ज्येष्ठाश्रम कहलाता है । ऐसे गृहस्थाश्रमका एकमात्र आश्रय नारीजाति है । उसी प्रकार प्रवृत्तिधर्मके लिये साक्षात्‌रूपसे और निवृत्तिधर्मके लिये परोक्षरूपसे नारीजाति आश्रयरूपा है । दूसरी ओर बिना अभ्युदयके निःश्रेयस नहीं हो सकता और बिना नारीजातिकी सहायताके अभ्युदयका मार्ग सरल होना असम्भव है । इन्हीं सब कारणोंसे मानना ही पड़ेगा कि, सृष्टिके सामञ्जस्यमें और अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी चरितार्थतामें नारी-जातिका प्रातिभाव्य सबसे अधिक है । यही कारण है कि, वर्णाश्रम-शृंखलामें सब देश, काल और पात्रमें नारीजातिकी रक्षाका आदेश है, यथा शास्त्रमें—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।

पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ५९ ॥

अब अन्य शृंखलाका दिग्दर्शन कराया जाता है—

प्रातिभाव्यात् सुरक्षादेशः ॥ ५९ ॥

इसी तरह आर्य्यपिण्डकी विशेषता है ॥६०॥

वर्णाश्रमशृंखलाके साथ नारीजाति-सम्बन्धीय विज्ञानका दिग्दर्शन कराकर अब महर्षि सूत्रकार अन्य प्रकारकी शृङ्खलाका दिग्दर्शन करा रहे हैं और कह रहे हैं कि, जैसे वर्णाश्रम-शृङ्खला के लिये नारीजातिका प्राधान्य है, वैसेही आर्यपिण्डमात्रकी विशेषता है। यद्यपि आर्य्यपिण्ड और अनार्यपिण्ड दोनों ही मानवपिण्ड हैं, परन्तु सृष्टिके आदिकालसे आर्य्यपिण्डरूपी वर्णाश्रमधर्मी मनुष्यजातिके शरीरकी विशेषता प्रसिद्ध है। क्या सभ्यताके विचारसे, क्या आचारके विचारसे, क्या सामाजिक व्यवस्थाके विचारसे, क्या धर्मज्ञानके विचारसे, क्या आध्यात्मिक लक्ष्यके विचारसे और क्या स्थायी जीवनिकाशक्तिके विचारसे, यह मानना ही पड़ेगा कि, आर्यपिण्डकी विशेषता है ॥ ६० ॥

इसका विज्ञान कह रहे हैं—

आदिसे सुसंस्कृत होनेसे ॥६१॥

सृष्टिके आदिकालसे आर्य्यपिण्ड वैदिक संस्कारोंसे सुसंस्कृत होनेसे सृष्टिमें उसकी विशेषता मानी गयी है और वह संस्कार वर्णाश्रम-शृंखला और आचारमूलक है ॥६१॥

अब अन्य शृङ्खलाका दिग्दर्शन कराया जाता है—

आर्यपिण्डविशेषत्वं तद्वत् ॥ ६० ॥ आदितः सुसंस्कृतत्वात् ॥ ६१ ॥

इसलिये सुसंस्कारका केन्द्र है ॥६२॥

आर्यपिण्ड आदिसे सुसंस्कृत होनेके कारण पूर्णावयव है। पूर्णावयव होनेके कारण अभ्युदय और निःश्रेयसके संस्कारोंको पूर्णतया ग्रहण करनेका केन्द्र बनता है। अन्तःकरण ही जीवका प्रधान यन्त्र है। जब जीव पूर्णावयव हो जाता है, तो उसका प्रधान यन्त्र भी पूर्णावयव हो जाता है। जब अन्तःकरण पूर्णावयव हो जाता है, तो अन्तःकरणके जो चार अवयव—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है, वे भी पूर्णावयव हो जाते हैं। जब चारो पूर्णावयव हो जाते हैं, तो आर्यपिण्डमें सुसंस्कारग्राहक चित्तके पूर्ण हो जानेके कारण उसमे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोके सम्बन्धके संस्कार-ग्रहणकी शक्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। सृष्टिके आदिमें पूर्णावयव मनुष्य उत्पन्न होते है, इस कारण भगवान् ब्रह्माकी प्रथम सृष्टि परमहंसोकी होती है। उसके बादकी सृष्टिको सुसंस्कृत रखनेके लिये वर्णाश्रम-शृंखला बाँधी जाती है। उसी समयसे सस्कृत संस्कारसमूह आर्यपिण्डमें अंकित रह जाते हैं और रजोवीर्यके द्वारा वे क्रमानुगत आकृष्ट होते रहते है जैसा कि, संस्कारपादमे कहा गया है ॥ ६२ ॥

और भी कहा जाता है—

इस कारण तीनों आकाशके साथ उसका सम्बन्ध है ॥६३॥

तस्मात् सुसंस्कारकेन्द्रम् ॥ ६२ ॥ त्रिविधाऽऽकाशसम्बन्धश्च ॥ ६३ ॥

पिण्डके आकाशको चित्ताकाश, ब्रह्माण्डके आकाशको चिदाकाश और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके आधारभूत आकाशको महाकाश कहते हैं। जीव जब पञ्चकोषकी पूर्णतासे पूर्णावयव हो जाता है और उसमें सुसंस्कार-संग्रहका पूर्ण अधिकार हो जाता है, तो स्वतः ही त्रिविध आकाशसे उसका सम्बन्ध हो जाता है। यही कारण है कि, योगयुक्त अन्तःकरण व्यापकता-को धारण करता है और यही कारण है कि, एक पिण्डसे दूसरे पिण्डका हाल और एक लोकसे लोकान्तरका हाल जान सकता है। योगिराजकी तो बात ही क्या, समाहित अन्तःकरणकी सहायतासे श्राद्ध-क्रियाद्वारा लोकान्तरमें जीवकी तृप्ति होती है और उपासक अपने उपासनालोकमें अपने इष्टदेवके साथ सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। उसी प्रकार योगयुक्त ज्योतिष-शास्त्रवेत्ताओंने अपने ब्रह्माण्डसे अतिरिक्त अनेक नक्षत्र और राशिआदिका पता लगाकर उसका आविष्कार किया था, ये सब त्रिविध आकाशके साथ सम्बन्ध स्थापनके साधारण उदाहरण हैं॥ ६३॥

और भी कहा जाता है—

इस कारण शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका अधिकारी है॥ ६४॥

शुद्धाशुद्धस्पर्शास्पर्शाधिकारि॥ ६४॥

मनुष्यके पूर्णावयव होकर विशेष अधिकार प्राप्त करनेका उदाहरण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार दे रहे हैं। मनुष्यपिण्ड जब पञ्चकोषकी पूर्णतासे पूर्णावयव हो जाता है, उसी पूर्णावयव होनेके कारण पञ्चकोषके विभिन्न-विभिन्न अधिकारोंके साथ उसमें शुद्धिप्राप्ति और अशुद्धिप्राप्ति एवं स्पर्शास्पर्शसे शुभाशुभप्राप्तिका अधिकार हो जाता है। इन पांचों कोषोंमें शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका अच्छा और बुरा परिणाम हुआ करता है। अन्नमयकोषके बुरे परिणामको दर्शनशास्त्रमें मल कहते हैं। प्राणमयकोषके बुरे परिणामको विकार कहते हैं। मनोमयकोषके बुरे परिणामको विक्षेप कहते हैं। विज्ञानमयकोषके बुरे परिणामको आवरण कहते हैं और आनन्दमय-कोषके बुरे परिणामको अस्मिता कहते हैं। जब जीवमें पूर्णता होती है, तो पांचों कोषमें अच्छा और बुरा परिणाम होने लगता है। शुद्धिसे अच्छा परिणाम होता है और अशुद्धिसे बुरा परिणाम होता है। इस जीवकी पूर्णावयवकी दशामें स्वाभाविक रूपसे उसमें जड़ताकी कमी होने और चेतनताका अधिकार बढ़ जानेसे उसके पांचों कोषही विशेष शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं, तब नानाप्रकारसे पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्य स्पर्शके दोष-गुण और शुद्धाशुद्धके अधिकार अलग-अलग रूपसे पञ्चकोषोंके द्वारा संग्रह करनेमें समर्थ होता है। यही कारण है कि, पूर्णज्ञानमय वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूह शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेककी आज्ञा हाथ उठाकर देते हैं॥ ६४॥

प्रथम प्रमाण देते हैं—

विष्ठादिसे प्रथम ॥६५॥

शुद्धाशुद्ध-विचार और स्पर्शास्पर्श-विचार अन्नमयकोषकी प्रधानतासे कैसे हो सकता है, उसके लिये एक उदाहरणसे औदाहरणका रहस्य समझाया जाता है। विष्ठा-मूत्रादिके सम्बन्धसे स्थूलशरीरका अशुद्ध होना और स्थूल शरीरमें स्पर्श-दोषका पहुँचना जैसे सम्भव है, वैसे जल-मृत्तिका आदि द्वारा उस स्पर्शदोष और अशुद्धताका नाश होना भी सिद्ध है। इस प्रकारसे अन्नमयकोषके स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्धका रहस्य समझना उचित है। वेद और शास्त्रोंमें शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेकका जो बहुधा वर्णन है, वह सभी अन्नमय-कोष अर्थात् स्थूलशरीरके सम्बन्धसे नही है। जिन जिन शुद्ध पदार्थोंका इसप्रकारका सम्बन्ध स्थूलशरीरके सम्बन्धसे हो सकता है, उसके विज्ञानका दिग्दर्शन इस उदाहरणसे कराया गया है। मल अन्नमयकोषके बुरे परिणामको कहते है, यह दार्शनिक शब्द मल उस बुरी शक्तिको कहते है जो शरीरमें जड़ता और तमोगुणको बढ़ाती है। अशुद्ध पदार्थोंके छूने और लग जानेसे शरीरमें मलशक्ति बढ़ जाती है और शुद्धिसे मलशक्ति घट जाती है। इसी प्रसंगमे इतना कहना आवश्य-कीय है कि, शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकके सम्बन्धमें

विष्ठादिभिः प्रथम ॥ ६५ ॥

शास्त्रोंमें जितना विचार किया है, उसके मूलमें त्रिगुणविचार और अधिदैवविचारका बड़ा सम्बन्ध रक्खा गया है। अधिदैवविचारका उदाहरण गङ्गाजल आदि समझना उचित है और गुणविचारका उदाहरण मधु, पलाण्डु, गोमूत्र, गोमय आदि समझने योग्य है। मधु हिंसासे प्राप्त होनेपर भी सत्त्वगुण वर्धक होनेसे पवित्र माना गया है। उसीप्रकार पलाण्डु मूल होनेपर भी तमोगुणवर्धक होनेसे अपवित्र माना गया है। उसीप्रकार गोमय आदि गौका मलमूत्र होनेपर भी उसके सत्त्वगुणके प्रभावसे वह सर्वथा पवित्र माना गया है। इस प्रकारसे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने दैवराज्यके सम्बन्धको देखकर और सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंको देखकर दार्शनिक दृष्टिसे शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक-का मौलिकसिद्धान्त निश्चय किया है। वह सिद्धान्तसमूह काल्पनिक नहीं है, गम्भीर दार्शनिक भित्तिपर स्थित है ॥ ६५ ॥

दूसरा प्रमाण दिया जाता है—

शवादिस्पर्शसे द्वितीय ॥ ६६ ॥

शवआदि स्पर्शके द्वारा जो स्पर्शदोष और अशुद्धता शास्त्रोंमें कही गयी है, वह साक्षात्‌रूपसे प्राणमयकोषके सम्बन्धसे कही गयी है। उसीप्रकार शवादिस्पर्शके अनन्तर

शवादिभिर्द्वितीयः ॥ ६६ ॥

धातु और अग्निस्पर्श द्वारा उस दोषका हान कहा गया है, सो भी उसी प्राणमयकोषके सम्बन्धसे निर्णीत हुआ है। जीव जब लोकान्तरको जाता है, तो प्राणमयकोष ही अन्य कोषोंको लेकर निकल जाता है। उस अवस्थामें शवमेंसे प्राणशक्तिका एकबारही अभाव हो जाता है। इस कारण प्राणरहित शव दूसरे व्यक्तिके प्राणमयकोषकी शक्ति-विशेषको खैंच लेनेका यथा देश-काल-पात्र-सामर्थ्य प्राप्त करता है। ऐसी दशामें शवके स्पर्शकारी व्यक्तिकी रूपान्तरसे प्राणशक्तिके क्षयकी सम्भावना हो सकती है। उसीके बचावके लिये शास्त्रोंमें शवके स्पर्श करनेसे स्पर्शदोष और अशुद्धताका उल्लेख है। इसी कारणसे स्वजातिद्वारा शव-वहनकी विधि है और इसीकारण शव-स्पर्शके अनन्तर नानाप्रकारसे पवित्र होनेकी विधि है। प्राणमय-कोषके सम्बन्धका ही कारण है कि, राजरोगीके शवको प्रायश्चित्तादि द्वारा संस्कृत करके वहन करनेकी विधि भी पाई जाती है। पुराणोंमें इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि महाशक्तिशाली पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणहीन विग्रहको स्पर्श करते ही भक्त अर्जुनकी सब शक्ति उस शवमें खिंच गयी थी। इसी उदाहरणसे औदाहरण समझना उचित है कि, बहुतसे शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक प्रधानतः प्राणमयकोषके सम्बन्धसे निश्चित किये गये हैं। दूसरी ओर बहुतसे शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक अवस्थान्तर होनेसे कई कोषोंके साथ साक्षात्सम्बन्धयुक्त हो जाते हैं। विज्ञानको

स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण दिया जाता है। अन्नादि खाद्यपदार्थका शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक अवस्थान्तरसे मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषसे भी सम्बन्धयुक्त माने जाते हैं; परन्तु प्राणमयकोषके साथ भी उसका सम्बन्ध है। सुवर्ण, रौप्य, कांसा, मृत्तिका आदिका शुद्धाशुद्ध-विवेक भी इसी प्राणविज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। म्लेच्छादि और अन्त्यजादिके स्पर्शसे दूषितअन्न अपना फल प्राणमयकोषमें प्रथम प्रारम्भ करता है। स्पर्शकारीके प्राणकी आकर्षण-विकर्षण शक्ति अन्नको दूषित कर देती है और वह अन्न उदरस्थ होनेपर वही शक्ति ग्रहणकारीके प्राणको दूषित करती है। वही अन्न यदि पापीका हो तो मनोमयकोषको दूषित करके वीर्य्यमें पहुँचकर शुद्धसृष्टिका बाधक होता है; क्योंकि मन, वायु और वीर्य, तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसी अन्नदोषके विषयमें पितामह भीष्मने प्रमाण करके दिखाया था कि, आसुरी सम्पत्तिके व्यक्तिका अन्नग्रहण करनेसे विज्ञानमयकोष तक मलिन हो जाता है। यही कारण था कि पौत्रवधूको सभामें घृणितरूपसे लाञ्छित होते देखकर भी वे मौन रहे। इससे स्पष्ट हुआ कि, अन्नदोषसे विज्ञानमयकोषतक मलिन होकर बुद्धितकमें विकार उत्पन्न हो सकता है। प्राणमयकोषके सम्बन्धसे शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श विवेककी व्यवस्था अधिक व्यापक है। उपासनाके दिव्यदेशसमूहमें उपासना-पीठके सम्बन्धसे जो स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्ध-

विचार वर्णाश्रमशृङ्खलामें माना गया है, वह सब प्राणमयकोषके सम्बन्धसे ही माना गया है। सब देवमन्दिरोंमें आर्य्य, अनार्य्य उन्नत और अवनतवर्णके मनुष्यके समानरूपसे प्रवेश नहीं करनेका जो सिद्धान्त है, वह भी प्राणमयकोषके सम्बन्धसे ही है । शूद्र-प्रतिष्ठित दिव्य देवमूर्त्ति आदिको ब्राह्मणके लिये प्रणाम करनेका जो निषेध है, सन्यासीके लिये प्रत्येक पीठको केवल स्पर्श करनेकी जो विधि पाई जाती है, उसका कारण भी यही विज्ञान है । शूद्रद्वारा प्रतिष्ठित देवविग्रह पीठादिमें शूद्रसंस्कार-शक्ति अवश्य निहित रहती है। प्रत्येक देवस्थानमें प्रस्तरादि निर्मित मूर्त्तिकी पूजा नहीं होती, उसमें प्राणमयकोषद्वारा स्थापित देवपीठकी पूजा होती है। वह देवपीठ शूद्र अन्तःकरणके संस्कारसे संस्कृत हो तो उसको यदि शुद्ध ब्राह्मण प्रणाम करे, तो ब्राह्मणकी क्षति नहीं है, उस देवपीठकी प्राणशक्तिकी क्षति होगी। इसी उदाहरणसे अन्य औदाहरणसमूह समझना उचित है। यही कारण है कि, भगवान्की पूजामें सबका अधिकार होनेपर भी देवमन्दिर-प्रवेश आदिमें ब्राह्मणादि जातिभेद, उपासना-सम्प्रदाय-भेद और स्पर्शास्पर्श-विचारभेद माना गया है। जब किसी पीठमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, तो देवताको उपासक पहले अपने शरीरमें लाकर तब पीठमें उनका स्थापन करता है। इस कारणसे भी पीठमें स्थापनकर्त्ताका संस्कार आदि विद्यमान रहता है। अतः जिस पीठमें स्पर्शास्पर्शकी जैसी मर्यादा है

उसमें हानि पहुँचनेसे उस पीठकी शक्तिमें हानि हो जाती है। यही कारण है कि देवमन्दिरोंमें स्पर्शास्पर्शविवेक अधिक रखा गया है। इस प्रकारसे वर्णाश्रमशृङ्खला-मूलक शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेकका अधिकार और उसका विज्ञान अति गम्भीररहस्यपूर्ण है ॥ ६६ ॥

अब तीसरा प्रमाण दिया जाता है।

अशौचादिसे तृतीय ॥ ६७ ॥

ग्रहणाशौच, जननाशौच, मरणाशौच आदि तथा उसका शुद्धिविचार सब मनोमयकोषसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जिसके विज्ञानका मनन करने पर मनोमयकोषके साथ सम्बन्ध रखनेवाला शुद्धाशुद्ध-विज्ञान सरल हो जाता है। सूर्य्यके साथ पृथ्वीका और चन्द्रके साथ पृथ्वीका जो आकर्षण-विकर्षण-शक्तिका सम्बन्ध है, उनसे ज्योतिः तथा प्राणशक्ति आदिका जो सम्बन्ध है, उसको जड़पदार्थवादी भी स्वीकार करते हैं। और दैवीशक्तिको माननेवाले आस्तिक जन तो बहुत कुछ मानते हैं। सूर्य्य-ग्रहणके समय चन्द्रमाके बीचमें आ जानेसे और चन्द्रग्रहणके समय पृथ्वीके मध्यमें आ जानेसे उस स्वाभाविक शक्तिके आने-जानेमें उस समयके लिये पूर्ण बाधा आ जाती है। ऐसे दैवदुर्विपाकके समय इसलोक-

---

अशौचादिभिस्तृतीयः ॥ ६७ ॥

वासियोंके अन्तःकरणमें बड़ा भारी परिणाम होना स्वभावसिद्ध है। इस परिणामके द्वारा स्पर्शास्पर्श-विवेक और शुद्धाशुद्ध-विवेकका शास्त्रानुसार विचारभी विज्ञानानुमोदित है। उसीप्रकार जननाशौच और मरणाशौचका विज्ञान भी अतिरहस्यसे पूर्ण है। वर्णाश्रमशृङ्खलाके अनुसार जिस कुल-का रजोवीर्य शुद्ध है, उसकी तो बात ही क्या है, क्योंकि उसके साथ नित्यपितरोंका बहुत कुछ प्रतिभाव्य स्थापित हो जाता है; साधारण कुलोंमें भी उस कुलकी परलोकगामी आत्माएँ और उस कुलमें आनेवाली आत्माएँ वासना-जालसे उस कुलके साथ विजड़ित रहती हैं। उस वासना-जालके कारण और मोहसम्बन्धसे आकर्षण और विकर्षणशक्तिके कारण नित्य-पितरोंकी प्रेरणासे उस कुलके सब व्यक्तियोंके चित्तपर संयोग-वियोगका प्रभाव पड़ता है। इसमें अधिदैव कारण रहनेसे यह प्रभाव अलक्षितरूपसे ही पड़ता है। इसी प्रभावके विचारसे जननाशौच और मरणाशौचका शुद्धाशुद्ध-विवेक निर्णीत हुआ है। इन शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श विवेकोंके साथ जप-दानादि विधि और ब्रह्मचर्यव्रत आदिका जो सम्बन्ध रक्खा गया है, उसका भी यही कारण है ॥ ६७ ॥

अब चौथा प्रमाण दिया जाता है—

संसर्गादिसे चतुर्थ ॥ ६८ ॥

संसर्गादिभिश्चतुर्थः ॥ ६८ ॥

संसर्गसे जो सत् असत् प्रभाव पड़ता है, वह साक्षात्-रूपसे विज्ञानमयकोषपर पड़ता है। इसी कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें संसर्गसम्बन्धीय स्पर्शास्पर्श और शुद्धाशुद्ध-विवेक इसी विज्ञानपर निश्चित किया है। ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकके गृहमें नहीं जाना, उसका संसर्ग नहीं करना, आचारहीन अनार्य मनुष्य और इन्द्रियसेवा-परायण म्लेच्छ आदि तथा दुराचारी और वेश्या आदिके ससर्गका निषेध जो शास्त्रोंमें कहा है और उनका प्रायश्चित्तादिका जो विधान किया है, उसीप्रकार तीर्थ-दर्शन, देव-दर्शन, साधु-दर्शन और तथा प्रायश्चित्तादि पुण्यात्मा-संसर्ग आदिकी जो महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है, सो इसी विज्ञानसे अनुमोदित है। इसप्रकारके अशुभ और शुभ संसर्गके द्वारा एकाधारमें प्राण-मयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोष प्रभावित हो जाता है। उनके निकटस्थ वातावरणसे और उस वातावरणकी आकर्षण-विकर्षणशक्तिसे प्राणमयकोष प्रभावित होता है। उनके हाव-भाव, आचार-विचारादिका प्रभाव मनोमयकोषपर पड़ता है और उनके कथनोपकथन और भाव आदिका प्रभाव विज्ञानमयकोषको प्रभावित करता है। इसी कारण संसर्गदोष और संसर्गगुणजनित शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेककी आज्ञा और उसका प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंमें वर्णित है। इसी प्रकारसे इसी गम्भीर दार्शनिक युक्तिको अव-लम्बन करके ईश्वरनिन्दक व्यक्तियोंके स्थानमें और इन्द्रिय-

परायण म्लेच्छ आदिकी वासभूमिमें जानेका निषेध शास्त्रमें किया गया है । इसप्रकारसे वर्णाश्रम-शृंखलाके अनुसार अनेक शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक विज्ञानमय-कोषमें कार्यकारी होनेसे माने गये हैं । वेद और शास्त्रोंमें शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-निर्णयके विवेक-सिद्धांत जो आर्य्यजातिके अभ्युदय और निःश्रेयसके लक्ष्यसे किये गये हैं, वे सब इसीप्रकार पञ्चकोषपर पड़ने वाली सूक्ष्मशक्तियोंको योगदृष्टिसे अलौकिक प्रत्यक्ष करके पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने निर्णय किये हैं । वे सब सिद्धान्त गभीर विज्ञानानुमोदित हैं और लौकिक बुद्धिसे समझे न जानेपर भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं ॥ ६८ ॥

अब पाँचवाँ प्रमाण दिया जाता है—

सदसत्के द्वारा पाँचवाँ ॥ ६९ ॥

शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक वर्णाश्रम-शृङ्खलाका मौलिक सिद्धान्त है । जीवका अभ्युदय और निःश्रेयस उसका लक्ष्य है और मनुष्यमें अस्वाभाविक संस्कारका ह्रास करके स्वाभाविक संस्कारका अधिकारवृद्धि करना उसका रहस्य है । पहले पादोंमें यह सिद्ध हो चुका है कि जीव धर्म-साधन द्वारा पहली अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामें निःश्रेयस

सदसद्भिः पञ्चमः ॥ ६९ ॥

प्राप्त करके कृतकृत्य होता है। पहले यह भी सिद्ध हो चुका है कि, वर्णाश्रमधर्मके आचारोंके पालन द्वारा आर्यजातिमें स्वतःही प्रवृत्तिका निरोध और निवृत्तिका पोषण होता हुआ जितना ही उसमें जीव-बन्धनकारी अस्वाभाविक संस्कारका हान और एक अद्वितीय स्वाभाविक संस्कारकी अभिवृद्धि होती जाती है, उतना ही वह मुक्तिकी ओर अग्रसर होता जाता है। मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गको सरल रखनेके लिये शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक एक अत्युत्तम शृङ्खला है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, किस प्रकार पञ्चकोषोंकी शुद्धिकी रक्षा द्वारा यथाक्रम मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता ये पाँचों बढ़ने नहीं पाते हैं। जिन-जिन क्रियाओंसे अशुद्धता होकर आत्माका आवरण बढ़ता जाता हो, जिनके स्पर्शद्वारा यह आवरण घनीभूत हो वह क्रिया सर्वथा विचारपूर्वक अभ्युदय और निःश्रेयस प्रार्थीके लिये त्याज्य है। यह क्रिया स्थूलशरीरसे लेकर सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरपर्य्यन्त प्रभाव उत्पन्न करती है। अतः शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकका रहस्य यही है कि, पूर्वकथित मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता बढ़ने न पावे। शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेककी शुद्ध और अशुद्ध क्रिया पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्यके अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषपर कैसा प्रभाव उत्पन्न करती है, उसका सामान्य दिग्दर्शन पहले सूत्रोंमें आ चुका है। अब

इस सूत्रमें आनन्दमयकोपपर साक्षात् रूपसे कैसी क्रियाओंका प्रभाव पड़ता है, सो कहा जाता है। सत् ब्रह्म और असत माया है, सत् आत्मा और असत् अनात्मा है, सत् शरीरस्थ कूटस्थ और असत् इन्द्रिय एवं उसके विषय हैं। सत् जगदम्बा जगदीश्वर और असत् दृष्ट तथा अदृष्ट भोग्यपदार्थ हैं। सत उपास्य इष्टदेव और असत् जगत् है। सत्का राज्य प्रत्याहारसे लेकर समाधि-पर्यन्त है और असत्का राज्य द्रष्टा-दृश्यसम्बन्ध करनेवाली त्रिपुटिका सभी विषय है। अतः जिन-जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्रियाओंके द्वारा पूर्वलिखित सत्का सङ्ग होता है, उसके द्वारा आनन्दमयकोष निर्मल होता है और उसमें अस्मिता बढ़ने नहीं पाती है और पूर्वकथित असत् विषयोंके सङ्गद्वारा आनन्दमयकोष क्रमशः मलिनताको प्राप्त होता रहता है। इस गहन विषय को समझनेके लिये और दार्शनिक मतभेद निरा-करणके लिये यह समझा जाय कि सत् अनुगामी और सत्से युक्त सब क्रियाएँ सत् कहाती हैं और ऐसी क्रियाओंसे पञ्चकोप पवित्र हो जाते हैं। मुनिगण इस प्रकार उन्नत शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पर्शास्पर्श-विवेक द्वारा आनन्दमयकोषको पवित्र रखते हैं और असत्से अपवित्रता आ जाने पर सत्को स्पर्श करके पवित्र होते हैं ॥ ६९ ॥

प्रसङ्गसे पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया जाता है—

परस्पर सम्बन्धयुक्त भी हैं ॥ ७० ॥

अन्योऽन्यसम्बद्धाश्च ॥ ७० ॥

वर्णाश्रम-शृंखला और सदाचारका लक्ष्य जीवका अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्ति करना है। नियमितरूपसे सत्त्वगुण-वृद्धि करते रहना और आत्माको आवरण-करनेवाले पाँचों कोषोंको क्रमशः शुद्ध रखते हुए आत्मज्ञानका उदय करना उसका उद्देश्य है। पाँचोंकोषोंमें मलिनता न बढ़ने पावे, यही शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकका मौलिक रहस्य है। यद्यपि कुछ शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक आनन्दमयकोषके विचारसे, कुछ विज्ञानमयकोषके विचारसे, कुछ मनोमयकोषके विचारसे, कुछ प्राणमयकोषके विचारसे और कुछ अन्नमयकोषके विचारसे निर्णीत हुए हैं, परन्तु वेद और शास्त्रोंमें उनका अलग-अलग अधिकार नहीं दिखाया गया। इसका प्रधान कारण यह है कि, ये पाँचोंकोष परस्पर में दृढ़रूपसे गुम्फित रहनेके कारण एकही शुद्धि और मालिन्यका प्रभाव थोड़ा-बहुत सबपर पड़ा करता है। एक शरीरको अथवा प्राणको मलिन करनेवाला अशुद्ध पदार्थ अथवा अस्पृश्य विषय तत् तत्कोषको अशुद्ध करता हुआ न्यूनाधिकरूपसे सब कोषोंमें अपना प्रभाव डालता रहता है। एक कोषसे वह शुद्ध अथवा अशुद्धकारिणी क्रिया प्रारम्भ होनेपर भी सब कोषोंको न्यूनाधिकरूपसे प्रभावित करती है; क्योंकि सब कोष परस्पर-सम्बन्धयुक्त हैं॥ ७० ॥

और भी कहते हैं—

सब त्रिविध भी है ॥ ७१ ॥

त्रिविधाश्च ॥७१॥

शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्श-विवेकके विषयमें विचारभेद तथा अधिकारभेद पाया जाता है। देश-भेदके अनुसार भी इन दोनोंका अनेक पार्थक्य देखनेमें आता है। वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, स्त्री-पुरुषभेद, बालक-वृद्धादिभेदसे भी स्पर्शास्पर्शविवेककी व्यवस्था शास्त्रोंमें पायी जाती है। आचार्योंके मतमें भी अनेक भेद देखनेमें आते हैं। सम्प्रदाय आदिके भेदसे भी भेद प्रतीत होता है। इसकारण जिज्ञासुओंके शंका-समाधानके अर्थ कहा जाता है कि, त्रिगुणभेदके अनुसार विभिन्न अधिकार-भेदके कारण शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेक तथा प्रायश्चित्तादिके विषयमें मतभेद पाया जाता है; परन्तु यह निश्चित सिद्धान्त है कि, अशुद्धता और स्पर्शदोषका प्रभाव जिस कोषसे प्रारम्भ होता है, उसी कोषकी शक्तिको लक्ष्यमें रखकर शुद्धिके निमित्त प्रायश्चित्तका विधान सर्वथा उपादेय समझा जायगा। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि अधिदैव शक्तियुक्त गोदान और गंगा-स्नानादि पुण्यकार्य सर्ववादिसम्मत माने जाने का कारण भी यही है कि, उनमें अधिदैव-शक्तिकी प्रधानताके कारण त्रिगुण-भेदसे सब अधिकारियोंके लिये वह समानरूपसे हितकर है। ये पञ्चकोषके अधिकार परस्परमें गुम्फित रहनेके कारण वर्णाश्रमशृङ्खलाके शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शविवेकमें बहुत विचित्रता आ जाती है। यही कारण है कि अन्नकोषका प्रभाव प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय-कोषतकको प्रभावित करता है। इसीविचारसे प्रायश्चित्तका भी निर्णय होना चाहिये। इसमें

देश-काल-पात्रका विचार अवश्य ही रहेगा, जैसे कि, जितना अन्तःकरण परिमार्जित होगा उतना ही प्रभाव अधिक होगा और दूसरी ओर यह भी है कि यदि व्यक्ति आत्मज्ञानी हो तो उस प्रभावको वह ज्ञानके द्वारा भस्मीभूत भी कर सकता है। प्रायश्चित्तनिर्णयके विषयमें इसी विज्ञानका अनुसरण करना उचित है कि, जिस कोषके साथ जिस दोषका प्राधान्य है, उसीको सम्मुख रखकर व्यवस्था देनी उचित है। इस प्रकारसे वर्णाश्रम-शृङ्खलाका सहायक शुद्धाशुद्धविवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक अति-दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित होनेसे उसकी व्यवस्था परम मंगल-कर है और उसके अनुसार आचारका पालन करनेसे तथा विचारके द्वारा प्रायश्चित्तादिकी व्यवस्था रखनेसे आर्य्यजाति और आर्य्यपिण्डके अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग सरल बना रहता है ॥ ७१ ॥

उसी सम्बन्धसे दूसरी आवश्यकता दिखाई जाती है—

अधिकारभेदकी आवश्यकता है ॥ ७२ ॥

जिसप्रकार जैवकर्मके अधोगामी स्रोतको रोकनेके लिये वर्ण-आश्रमधर्मकी अत्यन्त उपकारिता इस दर्शनशास्त्रके पूर्वसूत्रोंके विज्ञानसे सिद्ध हुई है, उसीप्रकार जैवकर्मके अधोगामी स्रोतसे जीवको बचाकर उसकी क्रमोन्नतिका मार्ग निश्चित करनेके लिये अधिकारभेदकी परमावश्यकता है। मनुष्य अपने पिण्डका

अधिकारभेदः ॥ ७२ ॥

अधीश्वर होकर निरंकुश हो जाता है। पूर्णावयव होनेसे वह इन्द्रियसम्बन्धसे अत्याचारी तथा प्राकृतिक नियमके विरुद्धाचरण करनेमें समर्थ होकर अपनी प्रकृतिको नीचेकी ओर गिराता रहता है इसी कारण उसको आवागमनचक्रमें बारबार घूमना पड़ता है। उस समय वह अवश्य फल देने योग्य धर्मका आश्रय बिना लिये अपनी क्रमोन्नतिकी सुरक्षा कदापि नहीं करता है। अतः ऐसी दशामें जो जीव जैसा अधिकारी है, उसको उसी अधिकारके अनुसार धर्मसाधन बताया जाय, तभी उसकी उन्नतिका नियम रहना निश्चित होता है। अन्यथा नियमित उन्नति नहीं होती है। अत्यन्त विषयासक्त, कर्मसङ्गी और मलमें ग्रसित व्यक्तिको सकाम कर्मकाण्डका उपदेश हितकर होगा और उससे उसकी उन्नतिका होना निश्चित हो सकता है; उसीप्रकार विषयवैराग्यसम्पन्न, शास्त्रचर्चामें रुचि-रखनेवाला परन्तु आवरणदोषसे दूषित व्यक्तिके लिये ज्ञानकाण्ड नियमित उन्नतिकर हो सकता है। ऐसे ही अन्य उदाहरण समझे जायँ कि, नारीको तपोमूलक धर्माचरण और पुरुषको यज्ञमूलक धर्माचरणका उपदेश देनेसे उभयकी उन्नतिका मार्ग सरल रहेगा, अन्यथा जटिल हो जायगा। गृहस्थको प्रवृत्तिधर्मका उपदेश देनेसे और संन्यासीको निवृत्तिधर्मका उपदेश देनेसे तब क्रमोन्नतिका मार्ग सरल रहेगा अन्यथा जटिल हो जायगा। इसप्रकारके उदाहरणसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, विभिन्न विभिन्न प्रकारके अधिकारियोंको उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार उपदेश

बिना दिये जीवकी क्रमोन्नतिका मार्ग कदापि सरल नहीं हो सकता है। अधिकन्तु बुद्धिभेद होनेसे हानि हो सकती है, यथा—अज्ञानीको यदि राजयोगका उपदेश दिया जाय और साधनचतुष्टयसे रहित व्यक्तिको यदि वेदान्तका मनन और निदिध्यासन बताया जाय, इसीप्रकार तत्त्वज्ञानी शिष्यका यदि बहि:पूजा और मन्त्रयोगके साधनोंमें ही फँसाकर रखनेका यत्न किया जाय, तो दोनों प्रकारके शिष्योंकी नियमित क्रमोन्नतिमें ही बाधा नहीं होगी किन्तु उनकी अवनति होना सम्भव है। संसारमें जितने धर्ममार्ग प्रचलित हैं, उनमें अधिकार भेदका क्रम न होने से ही वे असम्पूर्ण समझे जाते हैं और सनातन आर्यधर्म में अधिकारभेदकी शृंखला पूर्णरूपसे विद्यमान रहनेसे ही यह नित्यसिद्ध वैदिकधर्म सब अङ्गोंसे पूर्ण माना जाता है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि जैवकर्म में यदि अधिकारभेदका विचार रक्खा जायगा तभी साधककी क्रमोन्नति होना निश्चित रह सकता है ॥ ७२ ॥

अब दूसरी आवश्यकता कही जाती है—

त्रिविध शुद्धिको भी आवश्यकता है ॥ ७३ ॥

अधोगामीस्रोतसम्पन्न जैवकर्मकी अधोगामिनीगतिको रोककर उसकी नियमित क्रमोन्नत गतिको स्थायी रखनेके लिये जिसप्रकार वर्णाश्रमधर्म और अधिकार-भेदकी आवश्यकता है, उसीप्रकार

शुद्धित्रैविध्यञ्च ॥ ७३ ॥

त्रिविध शुद्धिकी भी आवश्यकता है। मनुष्यकी नियमित क्रमोन्नतिमें तीन प्रकारकी बाधा होती है, एक स्थूलशरीरकी बाधा, दूसरी सूक्ष्मशरीरकी बाधा, तीसरी कारणशरीरकी बाधा। इन्हीं तीनोंके सम्बन्धसे शारीरिक पवित्रता, मानसिक पवित्रता और बुद्धिकी पवित्रता ये तीन पवित्रताएँ मानी गई हैं। इसी सम्बन्धसे आधिभौतिक शुद्धिद्वारा मलका नाश, आधिदैविक शुद्धिद्वारा विक्षेपका नाश और आध्यात्मिक शुद्धिद्वारा आवरणका नाश होना माना गया है। युगपत् ये तीनों जबतक न हों, तबतक जीवकी स्थायी और नियमित क्रमोन्नति नहीं हो सकती है। यही कारण है कि वेद एक साथही तीनों काण्डोंके साधनोंका उपदेश देते हैं। कर्मकाण्डके साधनोंसे आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाकाण्डके साधनोंसे आधिदैविक शुद्धि और ज्ञान-काण्डके साधनोंसे आध्यात्मिक शुद्धि हुआ करती है, सुतरां इन तीनों शुद्धियोंकी भी विशेष आवश्यकता जैवकर्मकेद्वारा नियमित उन्नति करनेकेलिये अवश्य रहती है॥ ७३॥

अब तीसरेकी स्वाभाविक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

ऐश उभयवाही है॥ ७४॥

तीनों श्रेणियोंके कर्मोंमेंसे ऐशकर्म की विशेषता प्रतिपादनके लिये कहा जाता है कि, ऐशकर्मकी स्वाभाविक गति दोनों ओर प्रवाहित होती है। जब जीव नीचेकी ओर गिरता है, तौ भी

ऐशमुभयवाहि॥ ७४॥

ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है और ऊपरकी ओर चढ़ता है तौ भी ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है । जीव जब मनुष्ययोनिसे असत्भोगकी प्राप्तिके लिये प्रेतलोक वा नरकलोकमें जाता है अथवा एक जन्मके लिये तिर्य्यग्योनिमें पहुँचता है तौभी देवतालोगही उसको पहुँचाते हैं । उसीप्रकार मनुष्य जब सत्कर्मके भोगके निमित्त पितृलोकमें जाता है, देवलोकमें जाता है अथवा असुरलोकमें जाता है तौभी उसको देवताओंकी सहायता निबन्धन ऐशकर्मकी सहायता लेनी पड़ती है । इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि सहजकर्म केवल ऊर्ध्वगामी है, उसीप्रकार जैवकर्मको केवल निम्नगामी कह सकते हैं जैसे कि पहले सिद्ध हो चुका है कि वर्णाश्रमधर्म अधिकारभेद और त्रिविध शुद्धिके द्वारा उसकी अधोगामिनी गतिको रोक देना पड़ता है । इस कारण ये दोनों एकदेशीय हैं । एककी गति ऊर्ध्व है, एककी गति निम्न है; परन्तु ऐशकर्मकी गति उभय ओर प्रवाहिणी है क्योंकि वह ऊपर जाते समय भी सहायक होता है और नीचे जाते समय भी सहायक होता है । यह माननाही पड़ेगा कि ऐशकर्मकी व्यापकता सबसे अधिक है और उसकी गति सर्वतोन्मुखिनी है ॥ ७४ ॥

इसी प्रसङ्गसे ऐशकर्मका महत्त्व प्रतिपादन किया जाता है—

इस कारण वह अलौकिक और विचित्र है ॥ ७५ ॥

अतो विचित्रमलौकिकञ्च ॥ ७५ ॥

सहजकर्म और जैवकर्म अपने अपने अधिकारके अनुसार विस्तृत और अतिशक्तिशाली होने पर भी वे दोनों ही अपने अपने ढङ्गके एकदेशीय हैं और प्रत्यक्ष रूपसे समझमें भी आते हैं। परन्तु ऐशकर्म पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार सर्वतोमुखीन-शक्ति-सम्पन्न तथा सर्वसहायक होनेके कारण उसको विचित्र शक्तियुक्त कह सकते हैं और अलौकिक भी कह सकते हैं। उसमें सर्वतोमुखीन शक्ति होनेसे वह विचित्र है और उसकी शक्ति गुप्तरहस्यपूर्ण होनेसे वह अलौकिक है॥ ७५॥

प्रसंगसे अब कर्मबीजसंग्रहका स्थान निर्णय किया जाता है—

चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशरूपसे संस्कार स्थान त्रिविध है॥ ७६॥

कर्मका श्रेणीविभाग तथा उनका पृथक् पृथक् स्वरूप-वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कर्मका संग्रह बीजरूपमें कहाँ कहाँ रहता है, सो कह रहे हैं। कर्मरूपी वह वृक्ष जब संस्काररूपी बट-बीजके रूपको धारण करता है, तो उस अवस्थामें कारणरूपमें उस कर्मके रहनेका स्थान त्रिविध है, यथा—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। मनुष्यके अन्तःकरणके आकाशको चित्ताकाश कहते हैं, एक ब्रह्माण्डके समष्टि अन्तःकरणके आकाशको चिदाकाश कहते हैं, अर्थात् पिण्डके आकाशको चित्ताकाश और ब्रह्माण्डके आकाशको चिदाकाश कहते हैं और

संस्कारस्थानं त्रिविधं चित्ताकाशं चिदाकाशं महाकाशञ्च॥ ७६॥

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डव्यापी आकाशको महाकाश कहते हैं। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि आधिभौतिक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त चित्ताकाश है, आधिदैविक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त चिदाकाश है और आध्यात्मिक सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त महाकाश है, जिन तीनों सृष्टिप्रकरणोंका वर्णन दैवीमीमांसा अर्थात् मध्यमीमांसा-दर्शनशास्त्रमें अच्छी तरहसे किया गया है ॥ ७६ ॥

तीनोंका यथायोग्य सम्बन्ध बताया जाता है।

तीनोंका तीनोंसे सम्बन्ध है ॥ ७७ ॥

जीव जो कुछ कर्म जन्मजन्मान्तरमें करता है, उसके बीजरूप संस्कार जब संगृहीत होते हैं, तब वे तीनश्रेणीके कहाते हैं। यथा :—प्रारब्धसंस्कार, सञ्चित-संस्कार और क्रियमाण संस्कार। एक जन्म लेनेसे पूर्व उस जन्मरूपी वृक्षके लिये जितने संस्कार-राशि बीज होते हैं वे ही प्रारब्ध संस्कार कहाते हैं। जो कुछ नवीन कर्म जीव करता रहता है, और उसके जो बीज संग्रह होते हैं, सो क्रियमाण संस्कार कहाते हैं और जीवके अनन्त-कोटि जन्मोंके जो अनन्त संस्कारराशि हैं, और जिन बीजोंको अङ्कुरित होनेकी बारी अभी नहीं आई है, उनको सञ्चित संस्कार कहते हैं। वस्तुतः प्रारब्ध-संस्कारके साथ प्रधान सम्बन्ध चित्ताकाशका, क्रियमाण संस्कारका प्रधान सम्बन्ध चिदाकाशके साथ और

त्रयाणां त्रिभिः सम्बन्धः ॥ ७७ ॥

सञ्चितसंस्कारोंका प्रधान सम्बन्ध महाकाशके साथ माना गया है। यद्यपि तीनों आकाश ही एक हैं और पहले दोनों महाकाशके अङ्गरूप हैं; जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश और महाकाश अर्थात् घड़ेका आकाश, गृहका आकाश और बाहरका आकाश तीनों एकही है; केवल उपाधिभेदसे अलग अलग प्रतीत होते हैं। तीनों आकाश एक होनेपर भी और कर्मके बीजरूपी संस्कार सब एक ही ढंगके होनेपर भी उन संस्कारोंके अङ्कुरित होनेके अवसरके अनुसार उनके स्थानोंका इस प्रकारसे विभाग किया गया है। ये तीनों एक ही आकाशके स्तरविशेष हैं। जैसे घटाकाशमें भी महाकाश है और मठाकाशमें भी महाकाश है, परन्तु घटाकाशका स्तर सबसे नीचे हैं, मठाकाशका स्तर उससे ऊपर है और महाकाशका स्तर सर्वव्यापक है। उसी स्तरके तारतम्यसे उनमें बिखरे हुए संस्कारराशिकी अङ्कुरोत्पत्तिरूपी शक्तिका भी तारतम्य हुआ करता है। इसीसे इन तीनोंकी स्वतन्त्र सत्ता स्थिर हुई है और कर्मबीजोंको भी तीन भागमें विभक्त किया गया है ॥ ७७ ॥

तीसरेका स्वरूप कहा जाता है—

आदि अन्त रहित होनके कारण तृतीय एक तथा नित्य है ॥ ७८ ॥

तीसरा अर्थात् महाकाश जो श्रीभगवान्‌के विराट् देहके साथ सम्बन्ध रखता है, इस कारण वह आदि और अन्तरहित है।

तृतीयं नित्यमेकमनाद्यनन्तत्वात् ॥ ७८ ॥

क्योंकि श्रीभगवान्का विराट् स्वरूप भी आदि-अन्तरहित है। अतः महाकाश भी विराट्रूपधारी श्रीभगवान्के सदृश एक और नित्यरूपसे विराजमान है। जैसे एक ब्रह्माण्डमें अनेक पिण्ड उत्पन्न होते हैं और लयको प्राप्त होते रहते हैं, उसीप्रकार महाकाशसे सम्बन्धयुक्त श्रीभगवान्के विराट् देहमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और लय होते रहते हैं, परन्तु श्रीभगवान्के विराट् देहसे सम्बन्ध-युक्त वह महाकाश सदा एकही रूपमें विराजमान रहता है॥ ७८॥

अब अन्य दोनोंका स्वरूप कह रहे हैं—

अपर दोनों सादि सान्त हैं॥ ७९॥

पिण्ड और ब्रह्माण्डसे सम्बन्धयुक्त जो चित्ताकाश और चिदाकाश हैं, वे दोनों सादि सान्त हैं। जिस प्रकार प्रत्येक पिण्डका आदि-अन्त है, उसीप्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डका आदि और अन्त है। इस कारण उन दोनोंसे सम्बन्धयुक्त जो दो आकाश हैं, वे अवश्यही सादि सान्त होंगे। जिस प्रकार घटके नष्ट होनेसे घटाकाश और मठके नष्ट होनेसे मठाकाश नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उपाधिके नष्ट होनेसे वे दोनों महाकाशमें मिल जाते हैं, उसीप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चित्ताकाश और चिदाकाश ये दोनों सादि सान्त हैं। एक पिण्डस्थ जीव यदि मुक्त हो जाय तो उसका बन्धनकेन्द्र नष्ट हो जानेसे कर्मबीज-संस्कारके

अपरे सादिसान्ते॥ ७९॥

रद्दोपयोगी उस पिण्डका आकाश भी ब्रह्माण्डके आकाशमें मिल जायगा, इसीप्रकार एक ब्रह्माण्डके महाप्रलय होनेपर एक ब्रह्माण्डका आकाश भी महाकाशमें मिल जायगा। यह शङ्का हो सकती है कि, कर्मके बीजरूपी संस्कारसमूह कहाँ चले जाते हैं और किसप्रकार चले जाते हैं? इसप्रकारकी शंकाओंका समाधान यह है कि, जो जीव मुक्त हो जाता है और उसके पिण्डके पञ्चभूत, प्रकृतिके यथायोग्य स्थानमें विलीन हो जाते हैं तथा उसका चित्ताकाश अपने केन्द्रको छोड़कर चिदाकाशमें लीन हो जाता है तो स्वतःही उस जीवकेन्द्रके साथ सम्बन्धयुक्त जितने कर्मबीज थे, वे अपने आपही ब्रह्माण्डके केन्द्रको पकड़कर ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका आश्रय करते हुए ब्रह्माण्डके चिदाकाशमें स्थान प्राप्त हो, उस ब्रह्माण्डकी भावी फलोत्पत्तिमें सहायक होते हैं। उसीप्रकार एक ब्रह्माण्ड जब महाप्रलयके गर्भमें लीन होता है तो उस ब्रह्माण्डके पञ्चभूतसमूह चाहे किसीके मतमें परमाणुरूपको धारण करते हैं, चाहे किसीके मतमें अपने कारणमें लय होते हैं परन्तु यह तो निश्चित ही है कि, ब्रह्माण्ड किसी न किसी रूपमें मूलप्रकृतिके अङ्गमें प्रवेश कर जाता है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है, तो उस ब्रह्माण्डका कर्मबीज-धारक चिदाकाश अपने अस्तित्वको छोड़कर महाकाशमें विलीन हो जाता है। जब पुनः ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है, तो "यथा-पूर्वमकल्पयत्" इस श्रुत्युक्त-विज्ञानके अनुसार हुआ करती है यह निश्चित है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, वे समष्टि-कर्मबीज

कहीं-न-कहीं अवश्य रहा करते हैं। वे उस समय महाप्रलयमें जहाँ रहते हैं, आकाशके सर्वव्यापक अनादि अनन्त उसी स्तरको महाकाश कहते हैं। इसप्रकार मान लेने पर उस प्रकारकी कोई शंकायें रह ही नहीं सकती हैं। अब दूसरी श्रेणीकी शंका यह हो सकती है कि, जीवके साथ क्रियमाण और सञ्चित-संस्कारोंका क्या कुछ सम्बन्ध रहता ही नहीं? यदि रहता है, तो उस जीवकेन्द्रके रहते समय वे कैसे रहते हैं और नष्ट होते समय वे किस अवस्थाको प्राप्त होते हैं इत्यादि शंकाओंके समाधानके लिये निम्नलिखित विज्ञान समझने योग्य है। महाकाशमें जिसप्रकार चित्ताकाश और चिदाकाशका समावेश है, जैसे कि, व्यापक आकाशमें मठाकाश और घटाकाशका समावेश रहता है, उसीप्रकार चित्ताकाशमें और चिदाकाशमें भी चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश इन तीनोंका सम्बन्ध विद्यमान है, केवल तीनोंका स्तर स्वतन्त्र स्वतन्त्र है। जीवके चित्ताकाशके साथ प्रारब्धसंस्कारका प्रधान सम्बन्ध रहता है, क्योंकि वे सब अङ्कुरित दशामें रहते हैं; तथापि क्रियमाण संस्कार और सञ्चित संस्कारभी गौणरूपसे रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो जीवको क्रियमाण संस्कारकी स्मृति कैसे रहती है, क्योंकि स्मृतिका सम्बन्ध तो जीवके चित्ताकाशसे रहता है। अतः जीवके क्रियमाणसंस्कार चिदाकाशके स्तरमें पहुँच जानेपर भी वे स्मृतिको अवलम्बन करके गौणरूपसे चित्ताकाशसे भी सम्बन्धयुक्त रहते हैं। जन्मान्तर होते समय वे क्रियमाण संस्काररूपको धारण किये हुए कर्मबीज जैसा

अवसर हो, कुछ तो चित्ताकाशमें आकर प्रारब्ध बन जाते हैं और कुछ महाकाशके स्तरमें जाकर सञ्चित बन जाते हैं। अवश्य जीवकेन्द्र मुक्तिदशामें नष्ट होनेसे उससे गौणरूपसे सम्बन्धयुक्त चाहे क्रियमाण संस्कार हो, चाहे सञ्चित संस्कार हो, सभी मूल प्रकृतिका आश्रय करके महाकाशमें स्थान प्राप्त करते हैं और समयान्तरमें ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके कारण बनते हैं। संञ्चित संस्कारके साथ भी गौण सम्बन्ध चित्ताकाशसे रहता है। क्योंकि जीवके जो जन्मान्तरमें प्रारब्ध संस्कार बनते हैं, वे अधिकतर सञ्चित संस्कारसे आकर्षित होकर बनते हैं ॥ ७९ ॥

दोनोंके नाशका उपाय बताया जाता है—

संस्कारके प्रणाशसे उनका नाश होता है ॥ ८० ॥

वस्तुतः समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डके सम्बन्धसे जो कर्मबीजसंस्कारद्वारा फलोत्पत्ति होती है, सो चित्ताकाश और चिदाकाश इन दोनोंमें ही उन बीजोंका संग्रह रहता है। क्योंकि महाकाश तो विश्रान्ति और लयस्थान है। इस कारण इन दोनोंके नाशके विषयमें स्वतः ही प्रश्न हो सकता है; सो कहा जाता है कि यदि किसी कारणसे संस्कारोंका सम्पूर्णरूपसे नाश कर दिया जाय तो इन दोनों आकाशोंका भी नाश हो सकता है। कर्मराज्यका आदि और अन्त समझनेके

संस्कारप्रणाशात्तन्नाशः ॥ ८० ॥

लिये कर्मबीजका आश्रयरूप चित्ताकाश और चिदाकाशका आदि अन्त अवश्य ही समझना उचित है। जैसे गाँठके बाँधनेमें और गाँठके खोलनेमें भी हाथकी क्रिया एकसी ही होती है, परन्तु एक क्रियासे गाँठ बँध जाता है और एकसे खुल जाता है उसी प्रकार कर्मको सुकौशलसे रहित होकर करनेसे जीव बन्धन-दशाको प्राप्त होता रहता है और कर्मको सुकौशलपूर्ण क्रियाके साथ सुसम्पन्न करनेसे बन्धनसे मुक्त हो सकता है। अतः जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा कर्मबीज संस्कारका नाश हो सकता है, उन्हींके द्वारा इन दोनों आकाशोंका भी हान हो सकता है। जब वासनानाश और तत्त्वज्ञानादि प्राप्त करनेके उपयोगी साधन-समूहकी सहायतासे साधक संस्कारका हान कर लेता है तो उस मुक्तात्मासे सम्बन्धयुक्त इन दोनों आकाशोंका भी विलय हो जाता है। कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके साधनोंकी सहायतासे साधक जब आत्मज्ञान-लाभ करके निःसङ्ग और निष्क्रिय हो जाता है, उस समय वासनामय, मनोनाश और आत्मज्ञानके द्वारा उस पिण्डका जैवकेन्द्र नष्ट हो जाता है; जब जैवकेन्द्र नष्ट होता है तो उसके द्वारा आकृष्ट क्रियमाण और सञ्चित कर्मबीजसंस्कार-समूह उस केन्द्रसे स्वतःही अलग होकर ब्रह्मप्रकृति जो सबका लयस्थान है, उसको आश्रय करते हैं। ऐसा होनेपर उस जैवकेन्द्रके सम्बन्धसे जो चित्ताकाश और चिदाकाशका स्वरूप बना हुआ था, यह स्वतः ही हानको प्राप्त हो जाता है ॥ ८० ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

संस्कारके अन्तमें क्रियाका अवसान होनेसे ॥ ८१ ॥

जब संस्कार कर्मका बीज है तो संस्कारके नाशसे कर्मका नाश होना स्वतःसिद्ध है। जिसप्रकार किसी वृक्षविशेषके बीजका यदि पृथ्वीभरसे नाश कर दिया जाय और ऐसा उपाय किया जाय कि, पुनः बीजसंग्रह ही न होने पावे तो ऐसी दशामे संसारभरसे उस जातिके वृक्षका हान हो जायगा। इसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, किसी सुकौशलपूर्ण साधनद्वारा यदि कर्मबीज संस्कारोंका नाश कर दिया जाय, तो कर्मका नाश स्वतः हो जायगा ॥ ८१ ॥

प्रसङ्गतः जीव किससे सम्बद्ध है, सो कहा जाता है—

शरीरत्रय सम्बद्ध जीव होता है ॥ ८२ ॥

कर्माधीन जीव तीन शरीरोंके साथ सम्बन्धयुक्त रहता है। उन शरीरोंका नाम कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर है। जीवसृष्टिकी पूर्वावस्थामे जो प्रथम चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होती है, वही कारणशरीर है। चौबीस तत्त्वोंमेंसे स्थूल पञ्चभूतोंके अतिरिक्त अन्य तत्त्वोंका बना हुआ सूक्ष्मशरीर कहाता है। ये दोनों शरीर आवागमनचक्रमे जन्मान्तर प्राप्त होते रहते हैं और स्थूलशरीर जो मृत्युके समय यहाँ पड़ा रहता है, वह पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे बनता है और उसमे उन तत्त्वोंकी वैसी ही शृंखला रहती है,

---

तदन्ते क्रियावसानात् ॥ ८१ ॥ जीवः शरीरत्रयसम्बद्ध ॥ ८२ ॥

जैसा कि, जिस लोकमें रहना चाहिये। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, प्रेतलोकका स्थूलशरीर वायुतत्त्वप्रधान होता है, स्वर्गलोकका स्थूलशरीर अग्नितत्त्वप्रधान होता है, मृत्युलोकका स्थूलशरीर पृथ्वीतत्त्व-प्रधान होता है इत्यादि। इस शरीरविज्ञान-को अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, पञ्चकोषोंमेंसे आनन्दमयकोषको कारणशरीर, विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयकोषको सूक्ष्मशरीर और अन्नमयकोषको स्थूलशरीर कहा जा सकता है। इन्हीं तीनों शरीरोंसे सम्बर्द्धित होकर जीव सृष्टिप्रवाहमें कर्मके वेगसे प्रवाहित रहता है ॥ ८२ ॥

अब तीनों शरीर किससे सम्बन्धयुक्त हैं सो कहा जाता है—

इसकारण वह त्रिभावसे सम्बन्धयुक्त है ॥ ८३ ॥

पूर्वकथित तीनों शरीर सृष्टिके तीनों भावोंसे यथाक्रम सम्बद्ध हैं। जिसप्रकार सृष्टिके सब पदार्थ त्रिभावात्मक हैं, उसी नैसर्गिक नियमके अनुसार ये तीनों शरीरका भी त्रिभावात्मक होना स्वतःसिद्ध है। शरीर तीन हैं। इसकारण कारणशरीर अध्यात्म, सूक्ष्मशरीर अधिदैव और स्थूलशरीरका अधिभूत होना सिद्ध होता है। स्थूलशरीर जीवके लोकान्तरित होते समय जहाँका तहाँ रह जाता है, इसकारण भौतिकसम्बन्धकी विशेषताके हेतु उसका आधिभौतिक होना निश्चित है। सूक्ष्मशरीरके आश्रयसे दैवकार्य सम्पादित होते हैं, इसकारण उसका अधिदैव होना भी युक्तियुक्त है और कारण-शरीर सबका कारण होनेसे अध्यात्म है ॥ ८३ ॥

त्रिभावसम्बद्धं तदतः ॥ ८३ ॥

कर्मके प्रसङ्गसे सृष्टिका विस्तार कहा जाता है—

कर्मके द्वारा त्रिभावात्मक सृष्टि होती है ॥ ८४ ॥

सृष्टिका कारण कर्म है। उस कर्मके द्वारा सृष्टि त्रिभावात्मक होकर प्रकट होती है। इसीकारण सृष्टिके सब पदार्थ त्रिभावात्मक हैं और सृष्टि आध्यात्मिकी अथवा आधिदैवीकी अथवा आधिभौतिकी होती है। पांचभौतिक दृश्यके जिस अंशमें चित्सत्ताकी प्रधानता है, जहाँ प्रकाश और ज्ञानका सम्बन्ध है, वह आध्यात्मिक कहावेगा। जहाँ क्रियाशीलता है, जिसके द्वारा देवतागण अपने कर्तव्यमें तत्पर होते हैं, सृष्टिका वह अंश अधिदैव कहाता है और जहाँ स्थूलत्व, जड़त्व, अज्ञान आदिका सम्बन्ध है, वह अंश अधिभूत कहावेगा ॥ ८४ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है—

इसकारण कर्मके द्वारा उसके अधिष्ठाताओंका सम्बर्द्धन होता है ॥ ८५ ॥

कर्महो दृश्यप्रपञ्चका कारण है। कर्मसे ही सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं। अतः कर्मके द्वारा त्रिभावात्मक क्रमोन्नति कैसे सम्भव है सो कहा जाता है। सृष्टिका अध्यात्मविभाग, अधिदैवविभाग और अधिभूत-विभाग इन तीनों विभागोंके चालक यथाक्रम ऋषि, देवता और पितृगण हैं। सगुणब्रह्मरूपी

कर्मणा त्रिभावात्मिका सृष्टिः ॥ ८४ ॥

तेनातस्तदधिष्टातृसम्वर्द्धनम् ॥ ८५ ॥

त्रिमूर्तिके प्रतिनिधिरूपसे ऋषिगण अध्यात्मराज्य, देवतागण अधिदैवराज्य और पितृगण स्थूल अधिभूतराज्यका सञ्चालन, संरक्षण और सम्बर्द्धन किया करते है। कर्मके द्वारा ये तीनो श्रेणीके देवता प्रसन्न होकर साधकके त्रिविध उन्नति तो करते ही हैं, अधिकन्तु वे सम्बर्धित होकर ब्रह्माण्डके अपने अपने अधिकारमात्रकी उन्नति करते हैं। इसी नियमके अनुसार कर्मका प्रभाव इन अधिदैवोके सम्बन्धसे जगत्की उन्नतिका कारण बनता है ॥ ८५ ॥

किस किस कर्मके द्वारा कौन कौन तृप्त होता है, सो कहा जाता है—

अपने सम्बन्धके कर्मद्वारा वे तृप्त होते हैं ॥ ८६ ॥

सृष्टिप्रपञ्चके ज्ञानसम्बन्धी विभागके सञ्चालक और व्यवस्थापक ऋषिगण, क्रिया और कर्मफलकी व्यवस्था करनेवाले देवतागण, और स्थूलशरीर आदि विषयोंके व्यवस्थापक पितृगण हैं। इसकारण ज्ञानसम्बन्धीय कर्मद्वारा ऋषिगण, यज्ञादिद्वारा देवतागण और श्राद्धादिद्वारा पितृगण तृप्त होते है। इसप्रकारसे तृप्तिलाभ करके अपने अपने अधिकारके अनुसार जगत्की उन्नति करनेमे समर्थ होते है। वस्तुतः ज्ञान और विद्या आदिके अभिवर्द्धनके लिये जितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कार्य्य है, वे सबही ऋषिगणके सम्बर्द्धनके कारण ही बनते है। उसीप्रकार याग-यज्ञादि और सदाचारसे लेकर वर्णाश्रमधर्मआदि तक जितने

तत्सम्पृक्तकर्मणा तत्तुष्टिः ॥ ८६ ॥

साधारण और विशेष धर्मके क्रियासिद्धांश है, उनके द्वारा देवतागण सम्बर्धित होते है। उसीप्रकार पितृयज्ञ, पितृपूजा, श्राद्धतर्पणादिके द्वारा पितृगण सम्बर्द्धित होते है। उनके सम्बर्द्धनसे तत्तत् सम्बन्धीय-भावराज्योंके अधिकारोंकी यथाक्रम उन्नति होती है। अतः साधक यथायोग्य कर्मके अनुष्ठान द्वारा सब प्रकारकी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ८६ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है—

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें वे भिन्न भिन्न हैं ॥८७॥

चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड जो नाना पिण्डोंसे समन्वित है, उसके संरक्षण और सञ्चालनके लिये प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक् पृथक् ऋषिगण, पृथक् पृथक् देवतागण और पृथक् पृथक् पितृगण नियुक्त रहते है। वस्तुतः ये तीनों श्रेणीके देवता सगुणब्रह्मरूपी त्रिमूर्तिके प्रतिनिधिरूप है। वस्तुतः ये तीनों पदाधिकार अलग अलग कर्मके अनुसार ही निश्चित रहते हैं और इनके पदोंमें हेरफेर भी होता है। यथा एक वनके देवता अथवा नदीके देवता है, जब तक उस वन नदीका अस्तित्व बना रहेगा, तब तक उस देवताका नैमित्तिक पदभी बना रहेगा। उसीप्रकार इन्द्र, वरुणादि पद नित्य होनेपर भी उन पदोंके अधिष्ठाताओंकी उन्नति और अवनति होना भी सम्भव है। पितृगणका सम्बन्ध मनुष्ययोनिसे प्रारम्भ होता है। मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त पितृगण पितृलोकमें वास करते है। पितृलोक,

प्रति ब्रह्माण्ड भिन्नास्ते ॥ ८७ ॥

धर्मराज-यमके अधिकारके अन्तर्गत है। देवलोकके पितृगण ऊपरके लोकोंमें वास करते हैं। ऋषिगणका अधिकार अनेक प्रकारका है और उनका वास सब सूक्ष्मलोकोंमें है। इस मृत्यु-लोकमें ऋषि और देवताके अवतार भी होते हैं ॥ ८७ ॥

उनका अधिकार बताया जाता है—

समष्टि और व्यष्टिमें उनका सम्बन्ध है ॥ ८८ ॥

देवताओंका सम्बन्ध सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि सूक्ष्म दैव-जगत् सबका मूल है और जड़कर्म चेतनदेवताओंके द्वारा चालित होता है। क्या चतुर्विध भूतसङ्घके उद्भिज, स्वेदजादि योनियाँ, क्या नदी, पर्वत, समुद्रादि स्थूलभूत सम्बन्धी विभूति, क्या सुवर्ण लोहादि धातुपुञ्ज, चाहे स्थावर सृष्टि हो चाहे जङ्गमसृष्टि हो, चाहे स्थूल मृत्युलोक हो, चाहे सूक्ष्म दैवलोक हो, वस्तुतः व्यष्टि-पिण्ड और समष्टि-ब्रह्माण्ड सर्वत्र ही दैवीशक्तिका सम्बन्ध है। कर्मकी शक्तिसे ही सब चालित और सुरक्षित हैं। कर्म जड़ है, जड़शक्तिके मूलमें चेतन-शक्तिका रहना निश्चित है। इस कारण कर्मकी सत्ताके सम्बन्धसे देवताओंका अस्तित्व और समष्टि तथा व्यष्टिमें सर्वत्र देवताओंका साक्षात् अथवा परोक्ष सम्बन्ध विद्यमान ही है ॥ ८८ ॥

अब कर्मप्रवाहकी विशेष विशेष गतियोंका वर्णन कर रहे हैं—

अनुलोम विलोमभेदसे कर्मप्रवाह द्विविध है ॥ ८९ ॥

समष्टिव्यष्ट्योः सम्बन्धस्तेषाम् ॥ ८८ ॥

द्विविधः कर्मप्रवाहोऽनुलोमविलोमभेदात् ॥ ८९ ॥

कर्मकी गतिको प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। उसमें एकको अनुलोम और दूसरेको प्रतिलोम कह सकते हैं। द्वैतप्रपञ्चमें जो गति आत्माकी ओर चलती रहती है, वह अनुलोम गति है और कर्मकी जो गति आत्मासे नीचे अनात्माकी ओर चलती रहती है, वह गति विलोम कहाती है ॥ ८९ ॥

इस विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

चेतन और जड़से सम्बद्ध हैं ॥ ९० ॥

स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टिसे उनका यथाक्रम सम्बन्ध है। एक जड़राज्यव्यापी और दूसरा चेतनराज्यव्यापी है। इन दोनों कर्मप्रवाहोंमेंसे जो कर्मप्रवाह जड़से चेतन आत्माकी ओर प्रवाहित होता रहता है, वह चेतनराज्यव्यापी प्रवाह है। वह प्रवाह जड़ परमाणुसे चलकर चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न करता हुआ चौरासी लक्ष योनियोंमें जीवका भ्रमण कराकर उसे मानवपिण्डमें पहुँचा देता है, और पुनः आवागमनकी नाना अवस्थाओंमें घूमाकर परमात्मारूपी स्वस्वरूपपारावारमें पहुँचा देता है। दूसरा प्रवाह चेतनसे जड़की ओर प्रवाहित रहता है, जो यावत् अनात्मा कहलानेवाली सृष्टिका कारण बनता है। जीवभूतके अतिरिक्त यावत् सृष्टि इस प्रवाहके अन्तर्गत है। कभी कभी जीवगण भी इस प्रवाहके चक्रमें पड़कर दण्डार्ह होकर नीचे उतर जाते हैं, परन्तु वह उतरना केवल सामयिक होता है। यथा—यमलार्जुनका वृक्ष होना, भरतका मृग होना इत्यादि। नहीं तो वस्तुतः इस

चेतनजड़सम्बद्धौ ॥ ९० ॥

प्रवाहका सम्बन्ध केवल जड़जगत्से ही रहता है। कर्मके चेतन-प्रवाहमें जीवका जीवत्व तथा दैवीसहायता दोनों ही सहायक रहते हैं। दूसरे जड़प्रवाहमें केवल देवतागण ही सहायक रहते हैं। वे देवता नदी, पर्वत, पञ्चभूत, धातुरत्नादिकके अधिष्ठातृदेव कहाते हैं। इस प्रकारसे कर्म दो प्रवाहोंमें प्रवाहित होकर विराट् रूपधारी परमात्माके देहको अभिषिक्त करते रहते हैं। ॥ ९० ॥

अब और भी भेद कह रहे हैं—

प्रथम द्विविध है ॥ ९१ ॥

जीवमय जो प्रथम प्रवाह है, उस प्रवाहकी दो शाखाएँ हैं। जिसप्रकार शाखानदियाँ मिलकर एक बड़ी नदी बन जाती है, जैसी गङ्गा और यमुना मिलकर गङ्गा प्रबलता धारण करती है, उसी उदाहरणके अनुसार जीवमयी यह धारा दो शाखाओंमें प्रवाहित होकर अन्तमें एकही रूपको धारण करके ब्रह्मसमुद्रमें लय हो जाती है ॥ ९१ ॥

इस विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

एक प्राकृतिक और दूसरा स्वतन्त्र है ॥९२॥

इन दोनों शाखाओंका रहस्य स्पष्ट करनेके लिये महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। सहजकर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली प्राकृतिक जीवधारा और जैवकर्मसे सम्बन्ध रखने-वाली स्वाधीन जीवधारा इसप्रकारके दो भेद माने गये हैं।

द्विविधः प्रथमः ॥ ९१ ॥

प्राकृतिक एकः स्वतन्त्रोऽपरः ॥ ९२ ॥

प्राकृतिक जीवधारा उद्भिद् आदिमें प्रकट होकर मनुष्यत्वप्राप्तिमें पूर्ण गुप्त हो जाती है और पुनः वह जीवन्मुक्तमे प्रकट होती है और स्वाधीनधारा मनुष्यपिण्ड और दैवपिण्डमें प्रकट होकर आवागमनचक्रमें घूमती हुई पुनः मुक्तिभूमिमें जाकर उसी सहजधारामे लय हो जाती है। वस्तुतः ये दोनों शाखाएँ जीवमय प्रवाहका ही अङ्ग है ॥ ९२ ॥

दोनोंका कार्य्य कहा जाता है—

वे दोनों मुक्ति और बन्धनके निमित्त हैं ॥९३॥

इन दोनोंमेसे स्वाधीन जीवधारा बन्धनका कारण और प्राकृतिक जीवधारा मुक्तिका कारण होती है। जीव जब क्रमशः अपने पञ्चकोषोकी पूर्णता सम्पादन करता हुआ मनुष्यत्व प्राप्त करता है, तब वह अपने पिण्डका अधीश्वर बन जाता है। इस स्वाधीनताको लाभ करके वह अपनी नवीन वासनाद्वारा नवीनकर्म संग्रह करता हुआ आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। सुतरां यह धारा बन्धनका कारण बनती है और जो दूसरी धारा है, जो प्राकृतिक नियमके अनुसार स्वाभाविक रूपसे प्रवाहित होती है, वह आवागमनचक्रका भेदन करनेवाली है और वह मुक्तिका कारण है। जिसप्रकार तरलतरङ्गिणी पतितपावनी गङ्गा वस्तुमात्रको अपने प्रवाहमे प्रवाहित करके महार्णवमें पहुँचा देती है और यदि कोई वस्तु बीचमे उस नदीके घोर आवर्त्तमे फँस जाय, तो भी वह कालान्तरमे उस पदार्थको उस आवर्त्तसे

मुक्तिबन्धननिमित्ते ॥ ९३ ॥

निकलते ही पुनः सरलगतिसे वारिधि तक पहुँचा देती है। इसी उदाहरणके अनुसार यह प्राकृतिक कर्मधारा प्रथम अवस्थामें उद्भिज्जादि जीवोंकी क्रमोन्नति कराती हुई मनुष्ययोनितक पहुँचा देती है और वहाँ उस जीवके आवागमनचक्ररूपी आवर्त्तमें फँस जानेपर भी कालान्तरमें पुनः उसकी मुक्तिका कारण बनती है ॥ ६३ ॥

प्रथमका विशेष परिचय दे रहे हैं—

पहला सरलताके कारण देवरक्षित है ॥९४॥

चेतनप्रवाहके दो भेद हैं । प्राकृतिक और स्वतन्त्र । उन दोनोंमेंसे प्राकृतिक अतिसरल होनेसे वह सर्वथा देवरक्षित है। "दैवीमीमांसा" दर्शनमें यह विस्तारित रूपसे सिद्ध हुआ है कि, सहजपिण्डमें प्रत्येक योनिकी सम्हाल करनेवाले अलग अलग देवता हैं। दूसरी ओर जब वह प्रवाह गुप्त अवस्थासे जीवन्मुक्त दशामें पुनः प्रकट होता है, तो जीवन्मुक्त दशामें भी वह प्रवाह देवताओंके द्वारा सुरक्षित हो जाता है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें वासनाजाल छिन्न हो जानेसे उनमें स्वकीय इच्छाद्वारा कोई कर्म होता ही नहीं। वे जगत्कल्याणार्थ जो कार्य करते हैं, सो दैवी इच्छाके वशीभूत होकर ही करते हैं। इस स्थलपर शंका समाधानके लिये कहा जाता है कि, उनमें जो प्रारब्धसंस्कारके वेग हैं, उनको वैसे ही समझना चाहिये, जैसे स्वेदज-अण्डजादि जीव अपनी अपनी प्रकृतिके वश होकर भोगमें प्रवृत्त रहते हैं।

आद्यो देवरक्षितः सारल्यात् ॥ ९४ ॥

जैसे अज्ञानके वशीभूत होकर मनुष्येतर जीव कर्म करते हैं, वैसे ही स्वरूपमें स्थित जीवन्मुक्तगण जैववासनासे सर्वथा रहित होकर प्रारब्धके वेगसे कर्म कर लेते हैं। इस दशामें देवताओंकी सहायता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि जड़कर्मके चालक देवतागण हैं। दूसरी ओर जो ईशकोटिके जीवन्मुक्त यदि जगत्कल्याणमें रत होकर क्रियमाणकर्मशीलवत् प्रतीत हों, तो यही समझना उचित है कि, वे दैवीक्रियानिष्पत्तिके लिये भगवत्प्रेरित होकर ऐसा कर रहे हैं ॥ ९४ ॥

दूसरेका विशेष परिचय दे रहे हैं—

वैपरीत्यके कारण दूसरा विभूतिद्वारा सुरक्षित होता है ॥ ९५ ॥

सकाम होनेसे बहुशाखायुक्त स्वाधीन प्रवाहमें जैवकर्मका अनन्त विस्तार होनेके कारण उसके संरक्षणमें देवताओंकी सहायता रहती है ; क्योंकि देवता कर्मके संचालक और कर्मफल-दाता हैं, तथापि मनुष्यपिण्डमें ही उत्पन्न भगवद्विभूतियोंके द्वारा उसकी सदसद्व्यवस्था हुआ करती है। प्राकृतिक प्रवाह जिसप्रकार एकरसयुक्त है, यह स्वाधीन प्रवाह इसप्रकार नहीं है। जीवकी वासना दैवीमाहात्म्यमें कथित रक्तबीजके सदृश विस्तार-कारी होनेके कारण वह बहुशाखासे युक्त है और अनन्त है। कर्म जड़ होनेके कारण प्रेरकत्व और कर्मफलदातृत्वके विचारसे सर्व अवस्थामें गौणरूपसे दैवीसहायता होनेपर भी स्वाधीन

विभूत्या रक्षितोऽपरो वैपरीत्यात् ॥ ९५ ॥

प्रवाहमें विभूतियोंकी सहायताकी प्रधानता है; क्योंकि इसमें जैववासनाका प्राधान्य रहनेके कारण और दैवीसहायताकी गौणता रहनेके कारण मनुष्यलोकमें ही उत्पन्न विभूतियोंके द्वारा ही इसका संरक्षण आवश्यक है। साधारण मनुष्यसे इतर चतुर्विध भूतसङ्घमें तथा आगे पहुँचकर जीवन्मुक्तोंमें केवल प्रकृतिका वेग ही कर्म कराता है, इस कारण वहाँ प्रवाहमें सारल्य है। परन्तु स्वाधीन प्रवाहमें प्रत्येक जीव अपनी स्वाधीनतासे सदसत् संस्कार संग्रह करता है और वासनाजालको बढ़ाता रहता है इस कारण बहुशाखासे युक्त होनेसे वह विपरीत भावापन्न अर्थात् जटिल है। मनुष्यके स्वाधीनताका अवलम्बन करनेसे देवताओंकी दृष्टि गौण हो जाती है और उस प्रवाहको सुधारनेके विषयमें उनकी उपेक्षा रहती है। सुतरां ऐसी दशामें सर्वशक्तिमान् सर्वहितमें निरत ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उनके जगत्‌हितकारी नियमको अवलम्बन करके गृहपति, समाजपति, गुरु, आचार्य्य, राजा आदि विभूतिद्वारा वह प्रवाह सुरक्षित रहता है। इसीकारण मनुष्य-समाजमें राजानुशासन, शब्दानुशासन और योगानुशासनरूपी त्रिविध अनुशासनकी आवश्यकता रहती है ॥ ९५ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

कर्म जड़ होनेके कारण दैवापेक्ष्य है ॥ ९६ ॥

पहले कर्मके तीन विभाग, तदनन्तर जैवकर्मकी दो श्रेणियाँ

तद्दैवापेक्ष्यं जड़त्वात् ॥ ९६ ॥

और उनमे दैवी सहायताकी मुख्यता और गौणताका विचार इत्यादि देखकर जिज्ञासुके हृदयमे नाना प्रकारकी शंकाएँ हो सकती है, उन सब शंकाओंको दूर करनेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे है कि, दैवी सहायताकी कहीं मुख्यता और कहीं गौणताका विचार रहनेपर भी सिद्धान्तत. सब कर्मके मूलमे दैवी सहायताकी आवश्यकता रहती है। वस्तुतः कर्म जड़ होनेके कारण उसके मूलमे चेतनसत्ताकी आवश्यकता है। जो दार्शनिक यह युक्ति देते है कि, चेतनकी सहायताके बिना कर्म कार्य्यकारी होता है, उनकी यह युक्ति भ्रमात्मक है। जड़पदार्थ अथवा जड़शक्ति बिना चेतनकी सहायताके नियमित-रूपसे कार्य्यकारी नहीं हो सकती। क्योकि जड़की शृंखला बिना चेतनके संसाधित नहीं हो सकती है। उदाहरणके रूपमे समझ सकते है कि, कोई जड़शक्ति यद्यपि अपने आप कार्य्यकारी होती हुई दिखायी देती है, यथा,—चुम्बककी लोहा-कर्षणशक्ति, आतसी कंचकी अग्निप्रदायिका शक्ति, मेघकी वज्रनिपातकी शक्ति इत्यादि, तथापि ये सब शक्तियाँ क्रियाशील होनेपर भी जबतक उनके मूलमे कोई बुद्धिजीवी चेतनशक्ति न हो, तबतक उनसे शृंखलाबद्ध कार्य्य कदापि नहीं होगा और व्यवस्था तथा शृंखला न रहनेसे उनके उपयोगका कुछभी मूल्य नहीं हो सकता है। अतः लौकिक जड़शक्ति जब बुद्धिजीवी मनुष्यद्वारा चालित हो, अलौकिक समष्टिजड़शक्ति जब अलौकिक देवता आदि द्वारा चालित हो, तभी उनका सदुपयोग हो सकता

है। इसी उदाहरणके अनुसार यह मानना ही पड़ेगा कि जड़शक्तिसम्पन्न कर्म जबतक चेतन शक्तिसम्पन्न देवतागण अथवा सर्वशक्तिके आधार सगुणब्रह्मके द्वारा चालित न हो, तबतक उसका सदुपयोग असम्भव है। अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्म जड़ होनेसे वह चेतनकी सहायताकी अपेक्षा रखता है ॥ ६६ ॥

सहजकर्मके सम्बन्धसे कह रहे हैं—

सहज कर्म प्रकृतिके अधीन है ॥ ९७ ॥

सहजकर्मका विस्तारित स्वरूप पहले कहा गया है। वस्तुतः प्रकृतिके त्रिगुणतरङ्गके सहजात होनेके कारण इसका नाम सहजकर्म है। सब सहजकर्म प्रकृतिसहजात हैं, तो वे प्रकृतिके अधीन हैं यह स्वतः सिद्ध है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, सहजकर्मसे चिज्जड़ग्रन्थिसे उत्पन्न जीव अपने आपही उद्भिज्जसे स्वेदजादिमें होता हुआ मनुष्ययोनि तक पहुँच जाता है। सहजकर्मकी इस गतिका और कोई विशेष जीवेप्सितकारण नहीं है; केवल प्रकृतिकी स्वाभाविक गतिसे अपने आपही ऐसा होता है। प्रकृति तरङ्गायित होकर जब तमकी ओरसे सत्त्वकी ओर चलती है, तब यह क्रिया स्वतः होती जाती है ॥ ६७ ॥

पूर्वप्रसङ्गसे इसका फल कह रहे हैं—

इस कारण देव साहाय्यापेक्ष्य है ॥ ९८ ॥

सहजकर्म जब सम्पूर्णरूपसे प्रकृतिके अधीन है और उसकी

सहजमायत्तं प्रकृतेः ॥ ९७ ॥ तस्माद्देवसाहाय्यमपेक्ष्यम् ॥ ९८ ॥

क्रियाके साथ जैववासनाका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यही मानना पड़ेगा कि, वह सम्पूर्णरूपसे देवताओंकी सहायताकी अपेक्षा रखता है। जब कर्ममात्र ही जड़ होनेसे कोई न कोई चेतनशक्तिकी अपेक्षा कर्मको रहती है और जब यह प्रमाणित हुआ है कि, सहजकर्मके साथ जैववासनाका कोई भी सम्बन्ध नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि, देवताओंकी सहायता सहजकर्मकी फलोत्पत्तिमें अवश्य रहना सम्भव है। कर्मके संचालित करनेमें या तो पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्यकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिकी अपेक्षा रहती है अथवा देवताओंकी इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति-अपेक्षा रहती है और जब यह सिद्ध हुआ कि, सहजकर्ममें मनुष्य-इच्छाकी कोई अपेक्षा नहीं है, तो अवश्य ही वह दैवी-सहायतासापेक्ष है, यह मानना ही पड़ेगा ॥ ९८ ॥

अब जैवकर्मके सम्बन्धसे कह रहे हैं—

जैव जीवके अधीन है ॥ ९९ ॥

जैवकर्मके मूलमें पूर्णावयव जीवकी इच्छाशक्ति कार्य्यकारिणी है इस कारण वह जीवके अधीन है ऐसा मानना पड़ेगा। मनुष्यका चाहे प्रारब्धसंस्कार हो, चाहे क्रियमाण-संस्कार हो और चाहे संचितसंस्कार हो, सभी मनुष्य-वासना-सम्भूत हैं और उस संस्काररूपी बीजका वृक्षरूपी जैवकर्म भी मनुष्य-वासना-सम्भूत है, यह मानना पड़ेगा। अतः जैवकर्म जीवेच्छाके अधीन है, यह सिद्ध हुआ ॥ ९९ ॥

जैवं जीवनिघ्नम् ॥ ९९ ॥

प्रसंगसे इसका दैवसम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

इसकारण देवताओंका अर्द्ध-साहाय्यापेक्षी है ॥१०० ॥

सहजकर्मके साथ जिसप्रकार देवताओंकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति दोनोंकी अपेक्षा रहती है, जैवकर्ममें वैसा नहीं होता है। जैवकर्ममें केवल देवताओंकी क्रियाशक्तिकी सहायता अपेक्षित होनेसे उसमें देवताओंकी आधी सहायताकी अपेक्षा है, ऐसा कहना पड़ेगा। जैवकर्मका जब संस्कार-संग्रह होता है, वह अवश्य ही जैववासनासे होता है। इसकारण उसमें जीवकी इच्छाशक्तिका सम्बन्ध होनेसे जैवकर्ममें जीवका सम्बन्ध अवश्य आधा है, यह सिद्ध है। दूसरी ओर जब कर्मके फलदाता देवतागण हैं तो यह भी सिद्ध हुआ कि, देवताओंकी क्रियाशक्ति उसमें अपेक्षित है अतः देवताओंका आधा सम्बन्ध जैवकर्मके साथ रहता है ॥ १०० ॥

अब स्थूलप्रपंचमें कर्मका सम्बन्ध दिखा रहे हैं—

कर्मके द्वारा स्थूलसम्बन्धयुक्त आकर्षण और विकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है ॥१०१॥

कर्मके प्रभावसे ही स्थूलप्रपंचमें आकर्षण और विकर्षण-शक्तिका आविर्भाव होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुसे लेकर बृहत्से बृहत् ग्रह उपग्रह पर्य्यन्त सबमें जो आकर्षण-विकर्षण शक्ति है, वह कर्मजनित है। स्थूलप्रपंचके सब स्थानोंमें दो

अतस्तदर्द्धम् ॥ १०० ॥ कर्मणाकर्षणविकर्षणे स्थूलसम्बद्धे ॥ १०१ ॥

शक्तियाँ प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। उनसे तीन अवस्थाएँ बनती हैं। एक आकर्षणकी अवस्था, दूसरी विकर्षणकी अवस्था और तीसरी दोनोंके समन्वयकी अवस्था। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, बालुके परमाणु परस्परमें आकर्षित होकर कंकर या पत्थर बनता है। यह बननेकी अवस्था आकर्षणकी अवस्था है। जब उनमे नोना लगकर परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, तब विकर्षणकी दशा होती है और बीचकी दशामे जब आकर्षण और विकर्षणका समन्वय रहता है, वही स्थितिकी अवस्था तीसरी है। ये दोनों शक्तियाँ और ये तीनो अवस्थाएँ सब समष्टि और व्यष्टिकर्मजनित है ॥ १०१ ॥

प्रसंगसे इन दोनों शक्तियोंका गुणके साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है—

दोनों रजस्तमोमूलक हैं ॥१०२॥

इस त्रिगुणात्मक प्रपञ्चका सब अंग-उपांग त्रिगुणसे रहित नहीं है। जब संसार प्रपंचकी मूलकारण मूलप्रकृति त्रिगुणात्मिका है, तो उससे उत्पन्न सब प्रपञ्च भी त्रिगुणात्मक हैं। उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार आकर्षण विकर्षण दोनों शक्तियोमेसे आकर्षण रजोगुण-सम्भूत और विकर्षण तमोगुण-सम्भूत है, ऐसा समझना चाहिये। प्रपंचकी तीनों अवस्थाएँ देखनेसे ऐसा ही सिद्ध होता है। जब परमाणु परमाणु परस्परमें आकर्षित होते है, वही भगवान् ब्रह्माका सृष्टि-कार्य्य है, वह

रजस्तमोमूलकमुभयम् ॥ १०२ ॥

अवश्य ही रजोगुणजनित है । जब दोनों शक्तियाँ बराबरकी रहती हैं, उसी दशामें भगवान् विष्णुका स्थितिकार्य्य समझने योग्य है । स्थिति-अवस्था अवश्य ही सत्त्वगुणात्मक है और तीसरी अवस्था वह है, जब परमाणुओंमें विकर्षण होकर परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, यह भगवान् रुद्रका कार्य्य तथा तमोगुणात्मक है । सुतरां, आकर्षणशक्ति राजसिक और विकर्षणशक्ति तामसिक है ॥ १०२ ॥

अब सूक्ष्मप्रपंचमें उसका सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

सूक्ष्ममें रागद्वेष है ॥ १०३ ॥

जैसे स्थूल-प्रपंचमें आकर्षण विकर्षण है, वैसेही सूक्ष्म प्रपंचमें रागद्वेष है । वृत्तिराज्यमें रागजनित सब वृत्तियाँ रजोगुणसम्भूत हैं और द्वेषजनित सब वृत्तियाँ तमोगुणसम्भूत हैं । बहिर्जगत्में जैसा आकर्षण विकर्षण शक्तियाँ हैं, अन्तर्जगत्में भी ठीक वैसी ही रागद्वेषजनित वृत्तियाँ हैं । देखने में भी ऐसा ही आता है कि, रागमें एकका दूसरेमें आकर्षण है और द्वेषमें एकका दूसरेसे विकर्षण है । मित्रोंके परस्परमें राग रहनेसे एक दूसरेकी सब बातें खिंचती हुई होती हैं और उपादेय लगती हैं । इसी प्रकार शत्रुओंमें द्वेष रहनेसे एक दूसरेकी सब बातें चित्तको धक्का देनेवाली होती हैं और हेय प्रतीत होती हैं ॥ १०३ ॥

उसका प्रधान फल कहा जाता है—

वे सृष्टि और लयमूलक हैं ॥ १०४ ॥

सूक्ष्मसम्बद्धौ रागद्वेषौ ॥ १०३ ॥ सर्गविसर्गनिमित्तम् ॥ १०४ ॥

चाहे अन्तर्जगत्मे हो, चाहे बहिर्जगत्मे हो, इन दोनो शक्तियांमे एक सृष्टिके लिये है और दूसरी लयके लिये है। बहिर्जगत्में आकर्षण सृष्टिके लिये है और अन्तर्जगत्मे राग सृष्टिके लिये है, दूसरी ओर बहिर्जगत्मे विकर्षण प्रलयके लिये है और अन्तर्जगत्मे द्वेष लयके लिये है। सृष्टि और लयके मूलमे सर्वस्थानोमे और सर्व अवस्थाओमे यही मूलतत्त्व विद्यमान है। स्थूलजगत्मे परमाणुसे लेकर ग्रह उपग्रह पर्यन्तमे जब आकर्षण क्रिया होती है तब सृष्टि उत्पन्न होती है और जब विकर्षणक्रिया होती है, तब प्रलय हो जाता है। सृष्टि होते समय परमाणु परमाणु खिंचकर पंचतत्त्वात्मक नाना प्रकारकी स्थूल सृष्टि बनाते है। ग्रह-उपग्रह आदि भी ऐसे ही बनते है। ब्रह्माण्डका प्रलय होते समय अथवा प्रस्तर, लोह आदि स्थूल-पदार्थोंका लय होते समय परस्परमे मिले हुए परमाणु अलग अलग हो जाते है। इससे सिद्ध हुआ कि, स्थूल-प्रपञ्चमे आकर्षण सृष्टिका कारण है और विकर्षण प्रलयका कारण है। उसी प्रकार अन्तर्जगत्मे विचार करनेसे पाया जायगा कि, राग सृष्टिका हेतु है और द्वेष प्रलयका हेतु है। रागके कारण ही प्रवृत्ति होती है, रागके कारण ही पिता, पुत्र, पति, स्त्री आदिका सम्बन्ध स्थित रहता है; रागके कारण ही स्त्री-पुरुषजनित सृष्टि उत्पन्न होती है। सिद्धान्त यह है कि, राग प्रवृत्तिका हेतु है और प्रवृत्ति सृष्टिका हेतु है। उसी प्रकार द्वेषके कारण प्रवृत्तिसे अरुचि होती है, द्वेषके कारण ही विषयसे साधकको

वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यसे मुक्तिका द्वार उद्घाटित होता है। सब विषयोंमें द्वेषसे प्रवृत्तिका नाश होकर निवृत्तिका उदय होता है और निवृत्तिसे विषयका त्याग होकर लयक्रियाकी सार्थकता होती है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि, इन दोनों शक्तियोंमेंसे एक सृष्टिकी हेतु है और दूसरी लयकी हेतु है ॥१०४॥

प्रसंगसे सृष्टि और लयका नैसर्गिकत्व सिद्ध किया जाता है—

अतः सृष्टि और लय स्वाभाविक हैं ॥१०५॥

जब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणात्मिका है और जब प्रकृतिके रज और तमके द्वारा ही पूर्वकथित द्विविध शक्तियोंका उदय होकर सृष्टि और लयकी क्रिया संसाधित होती है, तो यह स्वतःसिद्ध है कि, सृष्टि और लय स्वाभाविक हैं। जब ब्रह्म नित्य है, उसकी प्रकृति भी नित्य है, जब प्रकृति नित्य है, तो प्रकृतिके तीन गुण भी नित्य हैं, और जब तीन गुण स्वाभाविक और नित्य हैं, तो उन तीन गुणोंमेंसे रज और तमकी क्रिया भी स्वाभाविक होगी। अतः रजोगुणकी सृष्टिक्रिया और तमोगुणकी लयक्रिया भी स्वाभाविक है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १०५ ॥

अब सत्त्वगुणके उदयका विज्ञान कह रहे हैं—

दोनोंको समतामें सत्त्वगुणका उदय होता है ॥१०६॥

जब रजोगुण और तमोगुणका समन्वय रहता है, तब सत्त्वगुणका उदय होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जब वहिर्जगत्‌में आकर्षण और विकर्षणशक्तिका समान

तावतो नैसर्गिकौ ॥ १०५ ॥ उभयसाम्ये सत्त्वम् ॥ १०६ ॥

अधिकार रहता है, अर्थात् न आकर्षणशक्ति अधिक बढ़ने पाती है, न विकर्षण शक्ति अधिक बढ़ने पाती है, ऐसी दशामें सत्त्वगुणका उदय होता है और यही जगत्‌की स्थिति-अवस्था है। स्थूलजगत्‌में आकर्षण-विकर्षणादि एक दूसरेको आकर्षणभी करते हैं और धक्का भी देते हैं। क्योंकि ये दोनों शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। परन्तु जबतक आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति इन दोनोंमें से कोई भी अधिक बढ़ने नहीं पाती और बराबर रहती है, तबतक ग्रह-उपग्रहगण अपनी अपनी कक्षामें वर्त्तमान रहते हैं और यही स्थितिकी अवस्था है। इसीप्रकार अन्तर्जगत्‌में जब राग और द्वेषका समन्वय रहता है, तभी वह सत्त्वगुणकी अवस्था है और वही विश्वधारक धर्मका पूर्णाधिकार है ॥ १०६ ॥

उसका फल कहा जाता है—

अतः स्थितिमूलक है ॥ १०७ ॥

रजोगुणसे सृष्टि, तमोगुणसे लय और सत्त्वगुणसे स्थिति हुआ करती है। अतः जब यह सिद्ध हुआ कि, उभयशक्तियोंके समन्वयसे ही सत्त्वगुणका उदय होता है, तो यह भी सिद्ध हुआ कि, उभय-शक्तियोंकी साम्यावस्थासे ही स्थिति होती है। रज और तम इन द्विविध शक्तियोंके समन्वयसे ही सात्त्विकशक्ति प्रकट होती है और वही सात्त्विकशक्ति बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्, स्थूल और सूक्ष्म तथा ब्रह्माण्ड और पिण्ड सब स्थानोंमें स्थिति उत्पन्न करती है ॥ १०७ ॥

स्थितिमूलमतः ॥ १०७ ॥

प्रसंगसे धर्मके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया जाता है—

वह धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान है ॥ १०८ ॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, सत्त्वगुणवर्द्धक यावत् क्रियाही धर्म कहाती है। सत्त्वगुणकी क्रमाभिवृद्धि ही धर्मका मूल है। अतः जब उभयशक्तियोंके समन्वयसे ही सत्त्वगुणका उदय होता है तो, यह मानना ही पड़ेगा कि, यह अवस्था ही धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान है। जहाँ जहाँ रज-तम-मूलक उभयविध शक्तियोंका समन्वय होता है, वहीं धर्मका उदय बना रहता है। यद्यपि राजसिकधर्म और तामसिकधर्मभी मुख्य और गौण विचारसे कहे जाते हैं, परन्तु वह अधिकार त्रिगुणविचारसे निर्णय किया जाता है; अर्थात् सत्त्वमूलक धर्मके ही वे तीनों अवान्तर भेद हैं। वस्तुतः धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान पूर्वकथित द्विविध शक्तियोंके समन्वयसे उत्पन्न सत्त्वगुण ही है॥ १०८॥

दूसरा सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

वह विद्याका क्षेत्र है॥ १०९ ॥

विद्याका स्वरूप पहिलेही भलीभाँति कहा गया है। विद्या जब ज्ञानजननी है और विद्या जब सत्त्वगुणमयी है, तो विद्याका क्षेत्र रज और तमकी शक्तियोंके समन्वयसे उत्पन्न शुद्धसत्त्व ही होगा, इसमें सन्देह ही क्या है! साधकमें जितना सत्त्वगुणका अधिकार बढ़ता जायगा, उतनी ही उसमें विद्यादेवीकी ज्योति विकसित होती जायगी। सत्त्वगुणको बढ़ाना ही विद्यादेवीकी

प्रतिष्ठास्थानं धर्मस्य ॥ १०८ ॥ विद्याक्षेत्रम् ॥ १०९ ॥

कृपा प्राप्त करना है। सत्त्वगुणकी अभिवृद्धिके साथ ही साथ मल, विक्षेप और आवरणका नाश होकर वह क्षेत्र विद्यादेवीके अधिष्ठानके उपयोगी बन जाता है ॥ १०९ ॥

और भी सम्बन्ध दिखाया जा रहा है—

कैवल्यकारण भी है ॥ ११० ॥

रज और तमके समन्वयसे उन दोनोंको अभिभूत करके जब सत्त्वगुणकी प्रतिष्ठा होती है, वही सत्त्व गुणकी प्रतिष्ठाकी अवस्था जैसी धर्मप्रकाशक है और जैसा विद्याका क्षेत्र है, उसीप्रकार वह कैवल्यप्राप्तिका कारण भी है। रज और तमको दूर करके जितना जितना सत्त्वगुण मुमुक्षुमें बढ़ता जाता है, उतना ही वह अधिकसे अधिक धर्मात्मा होता हुआ आत्मज्ञानकी अभिवृद्धि करता हुआ ज्ञानजननी-विद्याकी कृपा प्राप्त करता है और क्रमशः तत्त्वज्ञानकी उन्नति करता हुआ कैवल्यपदका अधिकारी बन जाता है। अतः पूर्वकथित स्थिति कैवल्यका भी कारण है ॥ ११० ॥

प्रकृत विषयका पुनः अनुसरण कर रहे हैं—

कर्मके द्वारा सृष्टि, स्थिति और लय होता है ॥१११॥

यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि रजोगुणसे सृष्टि होती है, सत्त्वगुणसे स्थिति होती है और तमोगुणसे लय होता है, और इन तीनों गुणोंके अधिष्ठाता यथाक्रम ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं; परन्तु कर्म ही तीनों क्रियाओंका मूल है। यह पहिले ही सिद्ध हो चुका

कैवल्यकारणं च ॥ ११० ॥ कर्मणैव सृष्टिस्थित्यन्ताः ॥ १११ ॥

है कि, प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति है और प्राकृतिक-स्पन्दनसे त्रिगुणके कारण स्वतः ही होता है। दूसरी ओर सृष्टि, स्थिति, लय, ये तीनों क्रियाएँ हैं। इस कारण सृष्टि, स्थिति, लयरूपी फल कर्मसे ही साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। सबसे बड़ा विचारने योग्य विषय यह है कि, सृष्टिस्थितिलय-रूपी फल पूर्वसंस्कारके अनुसार ही होता है। जिसप्रकार पिण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके मूलमें प्रारब्ध संस्काररूपी कर्मवीज रहते हैं, उसीप्रकार ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भी ब्रह्माण्डके समष्टिप्रारब्धके अनुकूल होते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि, कर्मको ही सृष्टिस्थितिलयका कारण कह सकते हैं॥ १११॥

प्रसंगतः सिद्धान्त कह रहे हैं—

अतः वह ब्रह्म है॥ ११२॥

जब कार्य्यब्रह्मरूपी सृष्टिप्रपञ्चका रूपान्तरसे कर्म कारण है, तो वही ब्रह्मरूप है। श्रीभगवान्‌ने गीतोपनिषद्‌में कहा है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

अक्षररूप निर्गुणब्रह्मसे प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है। वह ब्रह्मका ही स्वरूप है और ब्रह्मप्रकृतिसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। इस कारण सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है, इनमें सन्देह नहीं। वस्तुतः जब ब्रह्ममें और ब्रह्मप्रकृतिमें भेद नहीं है और ब्रह्मप्रकृति और कर्ममें भेद नहीं है, तो कर्म ही ब्रह्मरूप है, यही सिद्धान्त है॥११२॥

तदतो ब्रह्म॥ ११२॥

अब विशेष कर्मका वर्णन कर रहे हैं—

सुकौशलपूर्ण कर्मको यज्ञ कहते हैं ॥११३॥

यज्ञके लक्षणके विषयमें स्मृतिकारोंने कहा है—

एवं यज्ञस्तथा धर्म उभौ पर्यायवाचकौ।
कथितौ वेदनिष्णातैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रविस्तरे ॥

शास्त्रके जाननेवाले जो वेदनिष्णात जन हैं, वे यज्ञ तथा धर्म पर्यायवाचक शब्द हैं, ऐसा कहते हैं।

गाँठका लगना कर्म है और गाँठका खोलना भी कर्म है। गाँठके लगानेमें डोरी उलझ जाती है और गाँठके खोलनेमें डोरी सुलझ जाती है। डोरी उलझते समय भी हाथका हिलावरूपी कर्म होता है और गाँठके सुलझते समय भी हाथका हिलानारूपी कर्म हुआ करता है। दोनों ही कर्म हैं। भेद इतना ही है कि, उलझानेका कर्म सुकौशलपूर्ण नहीं है और सुलझानेका कर्म सुकौशलपूर्ण है। इसी प्रकार जीवकी निरङ्कुशतासे जो कर्म होता है, वह सुकौशलपूर्ण नहीं होनेसे अधर्म होता है और उससे आवागमनरूपी बन्धन उलझता जाता है। जो वेद, शास्त्र, गुरु और विवेकके अनुसार कार्य्य होता है, वही सुकौशलपूर्ण कार्य्य है। उससे आवागमनरूपी बन्धन सुलझ जाता है। वही धर्म है और वही सुकौशलपूर्ण कार्य्य यज्ञ कहाता है। केवल शक्ति-विचारसे उसको धर्म कहते हैं और क्रियाके विचारसे यज्ञ कहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञ बहुत प्रकारके होते हैं। यथा—दानयज्ञ,

यज्ञः कर्म सुशकौलम् ॥ ११३ ॥

तपोयज्ञ, वैदिकयज्ञ, स्मार्तयज्ञ, उपासनायज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादि ॥ ११३ ॥

अब महायज्ञका लक्षण कह रहे हैं :—

समष्टिसम्बन्धसे महायज्ञ होता है ॥ ११४ ॥

यज्ञका लक्षण सुनकर जिज्ञासुको स्वतः शंका हो सकती है कि, यज्ञ और महायज्ञमें क्या भेद है। इस कारण पूज्यपाद-महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यज्ञके साथ जो 'महा'शब्द प्रयुक्त होता है, वह केवल महिमावाचक या निरर्थक नहीं है। जीवके व्यष्टिगत अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद जो सुकौशलपूर्ण कर्म हैं, वे तो यज्ञ कहाते हैं और समष्टि-जीवोंके अभ्युदय निःश्रेयसके अर्थ अथवा ब्रह्माण्डके कल्याणार्थ जो सुकौशलपूर्ण कर्मरूपी धर्मसाधन किया जाता है, उसको महायज्ञ कहते हैं। साधारण मनुष्यमें जबतक स्वार्थ अधिक होता है, तबतक उसके अन्तःकरणमें महायज्ञकी महिमाको स्थान नहीं प्राप्त होता। जितनी जितनी साधकमें स्वार्थपरता घटती जाती है और उसके चित्तकी उदारता बढ़ती जाती है, उतना उतना वह महायज्ञका अधिकारी बनता जाता है। जैसा कि, शास्त्रोंमें कहा है :—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

इस वचनका तात्पर्य्य यह है कि, यह अपना है, यह पराया

समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ॥ ११४ ॥

है, इस प्रकारके विचारकरनेवाले लघुचेता पुरुष होते हैं और उदार चरितवालोंके लिये वसुधा ही कुटुम्ब है।

ऐसे उदारचित्त महापुरुष ही महायज्ञकी महिमा ठीक ठीक समझ सकते हैं तथा उसके अधिकारी हैं। जैवस्वार्थसे रहित परोपकारभावसे युक्त, समष्टि अभ्युदयसहायक और भगवत्कार्य्य-रूप होनेसे ऐसे धर्मकार्यको महायज्ञ कहते हैं॥ ११४ ॥

इसका अधिकार वर्णन कर रहे हैं :—

चतुर्थाश्रममें भी यह उदारताके साथ अनुष्ठान करने योग्य है ॥ ११५ ॥

उदार अन्तःकरणयुक्त व्यक्ति ही महायज्ञका अधिकारी होता है, यह पहले कह चुके हैं। गृहस्थादि आश्रममें उदारताके अभ्यासके लिये महायज्ञ-साधनका अनुष्ठान विहित है। चतुर्थाश्रमी संन्यासियोंके लिये भी महायज्ञका अनुष्ठान विहित है। क्योंकि महायज्ञ उदारतायुक्त है। चतुर्थाश्रममें कर्मका त्याग विहित है और वहाँ यज्ञादि साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। यहाँतक कि, चतुर्थाश्रममें सब प्रकारके यज्ञोंका त्याग कहा गया है; परन्तु महायज्ञका साधन इतना उन्नत है कि, चतुर्थाश्रमियोंके लिये वह कल्याणप्रद होनेसे रूपान्तरमें जगत्-कल्याणके कर्मरूपसे उसका साधन करना उचित है। चतुर्थाश्रममें निवृत्तिकी चरितार्थता होती है तथा चतुर्थाश्रमीका अन्तःकरण भगवद्भावापन्न रहता है। ऐसी उन्नत दशामें उदारताकी पराकाष्ठा

उदारमनुष्ठेयस्तुरीयेऽप्येषः ॥ ११५ ॥

प्राप्तिके लिये महायज्ञका अनुष्ठान विहित है। इसी कारण चतुर्थाश्रमधारी तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण भी लोकहितकर कार्यमें रत दिखाई पड़ते हैं। उनका जगत्कल्याणकारी व्रत, उनकी जगत्की आध्यात्मिक उन्नतिकी चिन्ता, उनका कर्मयोग, उनका ग्रन्थ-प्रणयन, उनका जिज्ञासुओंको उपदेशदानआदि महायज्ञका ही परिचायक है ॥ ११५ ॥

और भी कह रहे हैं :—

इस कारण वह महीयान् है ॥ ११६ ॥

केवल उदारचरित महापुरुषगण ही महायज्ञके पूर्णाधिकारी हैं। तुरीयाश्रम, जिसमें कर्मका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना पड़ता है, उस दशामें भी महायज्ञ करनेकी आज्ञा है। यह सब महायज्ञकी महिमाका ही प्रमाण है। गृहस्थाश्रममें भी पञ्चमहा-यज्ञरूपसे इसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है और पञ्चमहायज्ञका यहाँतक महत्त्व रक्खा गया है कि, गृहस्थ यदि पञ्चमहायज्ञ न करे, तो बड़े भारी दोषका भागी होता है। यह सब महायज्ञकी महिमाका ही सूचक है। ज्ञानके अधिदैव ऋषियोंके सम्बर्द्धनके निमित्त वेद और शास्त्रके मननको ब्रह्मयज्ञ, कर्मचालक देवताओंके सम्बर्द्धनके निमित्त हवनको देवयज्ञ, आधिभौतिक सृष्टिके संरक्षक पितरोंके सम्बर्द्धनके निमित्त श्राद्ध-तर्पणादिके द्वारा पितृयज्ञ, सम्पूर्ण प्राणियोंके संरक्षक नाना नैमित्तिक देवताओंके सम्बर्द्धन और उनके द्वारा उक्त प्राणियोंकी मंगल-कामनाके अर्थ भूतबलि

महीयांस्ततोऽसौ ॥ ११६ ॥

आदि भूतयज्ञ और सम्पूर्ण मानवसमाजके निकट कृतज्ञता प्रदर्शनके निमित्त आश्रममें आये हुये आचाण्डाल या जो कोई हो, उसको नारायणबुद्धिसे भोजन करानेको नृयज्ञ कहते हैं, शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके प्रमाण मिलते हैं, यथा :—

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्य्या तर्पणं बलिः ।
एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥
दिव्यो भौमस्तथा पैत्रो मानुषो ब्राह्म एव च ।
एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मणा निर्मिताः पुरा ॥

पढ़ना-पढ़ाना, हवन, अतिथिकी पूजा, श्राद्ध और बलि, ये पञ्चमहायज्ञ कहे जाते हैं। यज्ञसम्बन्धीय कार्य, भूतबलि आदि सम्बन्धीय कार्य, श्राद्धादि, अतिथियोंकी सेवा और वेदका पढ़ना-पढ़ाना ये पञ्चमहायज्ञ ब्रह्माने पहिले ही बनाये हैं ॥ ११६ ॥

उन दोनोंका साक्षात् फल कहा जाता है :—

उन दोनोंसे अभ्युदय और निःश्रेयस होता है ॥११७॥

साधारणरूपसे विचार करनेपर यही सिद्धान्त होगा कि, यज्ञके द्वारा अभ्युदय और महायज्ञके द्वारा निःश्रेयस होता है। जब व्यक्तिगत धर्मसाधनमात्रको ही यज्ञ कहते हैं, तो उसके द्वारा जीवको अभ्युदय अवश्यम्भावी है। दूसरी ओर महायज्ञ साधनमें जब व्यक्तिगत जैव स्वार्थ नहीं रहता है और अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर केवल जगत्कल्याणबुद्धिसे ही महायज्ञका साधन करना होता है, तो यह भी स्वतःसिद्ध है कि, ऐसे

ताभ्यामभ्युदयनिःश्रेयसे ॥ ११७ ॥

साधनद्वारा निःश्रेयसपद लाभ होना अवश्यम्भावी है। जीवकी अहङ्कार-जनित स्वार्थबुद्धि ही जब उसके बन्धनका मौलिक कारण है और महायज्ञमें उसका सम्बन्ध नहीं रहता है, तो महायज्ञ निःश्रेयसप्रद होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? अब जिज्ञासुओंके हृदयमें यदि यह शंका हो कि, क्या यज्ञसमूह केवल अभ्युदयप्रद ही हैं? उनसे क्या निःश्रेयस नहीं होता है? धर्ममात्र ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद है, इस सिद्धान्तकी चरितार्थता कैसे होगी? ऐसी शंकाओंके समाधानमें श्रीगीतोपनिषद्‌के वचन दिये जाते हैं। यथा :—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

यज्ञार्थ कर्मके अतिरिक्त कर्म करनेसे वह बन्धनयुक्त होता है। इस कारण हे कौन्तेय! यज्ञार्थ कर्म निष्काम होकर करो। अतएव तुम फलासक्तिशून्य होकर सर्वदा कर्त्तव्य कर्मका अनुष्ठान करो। क्योंकि अनासक्त होकर कर्मका अनुष्ठान करनेसे पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि, जिसप्रकार महायज्ञसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार यज्ञसे भी निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है; परन्तु साधारणरूपसे नहीं। निष्काम होकर केवल यजनके लिये ही यदि यज्ञ किया जाय, उसमें फलकी अभिसन्धि न रहे, तभी

वह यज्ञ महायज्ञकी फलरूपी मुक्ति प्रदान करता है; नहीं तो केवल अभ्युदय देता है ॥ ११७ ॥

प्रसंगके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसका पूर्ण अधिकार देनेवाले आर्यधर्मका पूर्णचन्द्रकी उपमासे विवेचन किया जाता है :—

आर्यधर्म पूर्णचन्द्रमाकी तरह षोड़श कलाओंसे पूर्ण है ॥ ११८ ॥

अर्थ स्पष्ट है। उन कलाओंमेंसे पहली कला बताते हैं :—

व्यापक होनेसे पहली सदाचार है ॥ ११९ ॥

पूर्वोक्त सोलह कलाओंमेंसे पहली कला सदाचार है; क्योंकि वह व्यापक है ॥ ११६ ॥

अब उसका महत्त्व बताते हैं :—

अतः आर्यसंस्कृतिका महत्त्व है ॥१२०॥

यही कारण है कि, आर्यसंस्कृतिका इतना महत्त्व है। शारीरिक व्यापार यदि धर्मानुकूल हो तो वह सदाचार कहाता है। मनुष्य कर्म किये विना नहीं रह सकता। मन, बुद्धि, वचन और शारीरिक व्यापार इस प्रकार चार प्रकारके कर्म मनुष्य करता है। वे कर्म धर्ममूलक होते हैं और अधर्ममूलक

षोड़शकल आर्यधर्मः पूर्णचन्द्रवत् ॥११८॥

तत्र प्रथमः सदाचारो व्यापकत्वात् ॥११९॥

अतः आर्यसंस्कृतेर्महत्त्वम् ॥ १२० ॥

भी। अतः धर्मवर्धक जो शारीरिक व्यापार है, वही सदाचार है ॥ १२० ॥

अब हेतुसहित दूसरी कला बताते हैं :—

दूसरी कला सद्विचार है, आर्यजातिके शिखा-सूत्र धारण करनेसे ॥ १२१ ॥

सनातनधर्मकी दूसरी कला सद्विचार है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिसप्रकार धार्मिक व्यक्ति अपनी शारीरिक चेष्टाओंको धर्मानुकूल बनावें तो सदाचारी कहाता है; उसीप्रकार वह अपने विचारोंको जब धर्मानुकूल बनाता है, तब वह सद्विचारवान् कहाता है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है :—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अर्थात् मनको बुद्धिसे अर्थात् विवेकसे युक्तकर जीवको ऊपर उठावे। जीवका इन्द्रियोंसे युक्त मन नीचेकी ओर गिरता है, उसे गिरने न दें। इसका तात्पर्य यह है कि, सदा विवेकयुक्त रहे और मनको नीचे न गिरने दे। क्योंकि अविवेकी मन जीवका शत्रु है और विवेकयुक्त मन जीवका मित्र है। यही सद्विचारका तात्पर्य है। आर्यजातिकी सब चेष्टाएँ विवेकसे युक्त रहती हैं। इसीसे सद्विचारवान् व्यक्ति धार्मिक हो सकता है। शिखा और सूत्र इसका द्योतक है।

सद्विचारो द्वितीयार्यजातेः शिखासूत्रधारित्वात् ॥ १२१ ॥

आर्यजाति शिखा-सूत्रधारी है। सिरपर ब्रह्मरन्ध्रके स्थानमें गायके खुरके बराबर जो केशोंका पुञ्ज बढ़ाया जाता है, उसे शिखा कहते हैं। वामस्कंधसे लेकर दक्षिणबाहुके नीचे कटिपर्यन्त यथाशास्त्र लटकता हुआ उपनयनके समयमें धारण किया जाने-वाला परमपवित्र, विलक्षण प्रभावका उत्पादक, पूर्ण आयु देनेवाला यथाविधि निर्माण किया हुआ, ब्रह्मादि नवदेवताओंका आश्रयस्वरूप, और द्विजका चिह्नस्वरूप जो उपवीत होता है, वही सूत्र या यज्ञसूत्र कहाता है। वर्णाश्रमधर्मको माननेवाली आर्य-जाति शिखा और सूत्र धारण करती है, इसीसे आर्यधर्मकी दूसरी कला सद्विचार कही गयी है ॥ १२१ ॥

अब शिखासूत्रका फल बताते हैं :—

शिखा देवमन्दिरका सूचक है, यज्ञसूत्र त्रिभावशुद्धिका सूचक है ॥ १२२ ॥

शिखाके कारण आर्यजातिका उत्तमाङ्ग (सिर) देवमन्दिर समझा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता जिसमें निवास करते हैं, उसको शिखा कहते हैं। वह मनुष्यकी बुद्धिको प्रखर करती है, इस कारण आर्योंका वह विशेष चिह्न है। जिसप्रकार देवमन्दिरका शिखर होता है, उसीप्रकार देवताओंके निवासस्थान आर्योंके शरीररूपी मन्दिरका शिखर शिखा है। शास्त्रमें शिखाबन्धनका मन्त्र इस प्रकार है :—

शिखा देवमन्दिरस्य सूत्रं त्रिभावशुद्धेः ॥ १२२ ॥

ब्रह्मवाणीसहस्रेण शिववाणीशतेन च ।
विष्णुनामसहस्रेण शिखाबन्धं करोम्यहम् ॥

ब्रह्माके सहस्रनामोंसे, शिवके सौ नामोंसे, और विष्णुके सहस्रनामोंसे मैं शिखाबन्धन करता हूँ। शिखाके मूलमें सब देवता निवास करते हैं। अतः आर्योंकी शिखा देवमन्दिरका परिचायिका है। त्रिभावशुद्धिका द्योतक आर्योंका यज्ञोपवीत है। अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धिको स्मरण रखनेके लिये यज्ञमय जीवन व्यतीत करने वाली आर्यजाति तीनखण्डोंका यज्ञसूत्र धारण करती है ॥ १२२ ॥

अब कारणसहित तीसरी कला बताते हैं :—

पूर्ण होनेसे वर्णधर्म तीसरी है ॥ १२३ ॥

आर्यधर्मकी तीसरी कला वर्णधर्म है। इसीलिये आर्यजाति त्रिविध भावशुद्धिसे पूर्ण है ॥ १२३ ॥

इस तीसरी कलाके महत्त्वके विषयमें कहते हैं :—

चिरजीविनी है ॥ १२४ ॥

वर्णधर्मके कारण आर्यजातिमें रजोवीर्यकी शुद्धि बनी रहती है, इसकारण आर्यजाति चिरजीविनी है। सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतक आर्यजाति विद्यमान है; परन्तु दूसरी अनेकों जातियाँ उत्पन्न हुईं और कालकवलित हो गयीं। इसका एकमात्र कारण आर्योंका वर्णधर्म ही है ॥ १२४ ॥

वर्णधर्मस्तृतीयतस्तत्पूर्णा ॥ १२३ ॥ चिरजीविनी ॥ १२४ ॥

अब उपपत्तिसहित चौथी कला बताते हैं :—

नारीधर्मसे पूर्णहोनेसे सतीत्व चौथी है ॥ १२५ ॥

सतीत्वधर्म आर्यधर्मकी चौथी कला है। क्योंकि आर्य-महिलाएँ नारीधर्मसे पूर्ण होती है । नारीधर्मकी पूर्णता सतीत्वधर्मसे सिद्ध होती है। जिस जातिमे नारियाँ सतीधर्मकी तपस्यासे सुशोभित होती है, उसी मनुष्यजातिकी महिलाओंकी जगत्‌में महिमा होती है । आर्यनारियोमे सतीत्वकी पूर्णता चिरदिनसे देखनेमें आती है ॥ १२५ ॥

अब आर्यमहिलाओंके महत्त्वके विषयमे कहते हैं :—

इसीसे त्रिलोकपावनी है ॥ १२६ ॥

सतीत्वके कारण ही आर्यमहिलाएँ त्रिलोकको पवित्र करने-वाली होती है। सतीत्वकी पूर्णता जैसी आर्यमहिलाओमे देख पड़ती है, वैसी किसी भी जातिमे नहीं देख पड़ती। सतीत्वधर्मके कारण ही आर्यमहिलाएँ त्रिलोकमे पूजित होती है। ऊर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्गादिलोक, अधोलोक अर्थात् पातालादि लोक और मध्यलोक अर्थात् भारतवर्षरूपी मृत्युलोक तीनोका इतिवृत्त पुराणादिमे पाठ करनेसे यही सिद्ध होता है कि, सतीत्वकी महिमा सब लोकोमे समानरूपसे मानी जाती है ॥ १२६ ॥

अब आर्यधर्मरूपी चन्द्रमाकी पाँचवीं कला बताते हैं :—

चतुर्थी सतीत्वं नार्याः पूर्णत्वात् ॥ १२५ ॥

अतस्त्रिलोकपावनी ॥ १२६ ॥

प्रवृत्ति-निवृत्तिकी पूर्णतासे आश्रमधर्म पाँचवीं है ॥१२७॥

आर्यधर्मकी पाँचवीं कला आश्रमधर्म है। वह प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंसे पूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवृत्ति सिखायी जाती है। गृहस्थाश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति करायी जाती है, वानप्रस्थाश्रममें निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रममें पूर्ण निवृत्ति करायी जाती है। अतः प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंसे पूर्ण होनेके कारण आश्रमधर्मकी महिमा है और वह आर्यधर्मरूपी चन्द्रमाकी पाँचवीं कला मानी गयी है ॥ १२७ ॥

अब आश्रमधर्मका फल बताते हैं :—

जीवन्मुक्तिका उदय होता है ॥ १२८ ॥

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मकी पूर्णता होनेसे आश्रमधर्ममें जीवन्मुक्तिका उदय होता है। जिस संस्कृतिमें प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंकी पूर्णता है, वही संस्कृति क्रमाभिव्यक्तिके अधिकारोंसे पूर्ण कही जा सकती है। मनुष्यकी क्रमाभिव्यक्ति की पूर्णता ही जीवन्मुक्तिपद है, इस अभ्युदयका क्रम जैसा आश्रमधर्ममें बाँधा गया है, वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। संन्यासधर्म निवृत्तिधर्मका अन्तिम अधिकार है। उसमें यथाक्रम चार सीढ़ियाँ बाँधी गयी हैं। यथा,—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। परमहंस अवस्था ही जीवन्मुक्तिपद

पञ्चम्याश्रमधर्मः प्रवृत्ति-निवृत्तिपूर्णत्वात् ॥ १२७ ॥

जीवन्मुक्तिप्रादुर्भावः ॥ १२८ ॥

है, श्रीमद्भवगद्गीताके अनुसार जो सांख्य और योग दोनोंका समान अधिकार बताया है, वही—चाहे किसी आश्रमका मनुष्य हो—कर्मयोगके द्वारा जीवन्मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। उधर संन्यासधर्मका जो क्रम है, वह ऊपर बताया ही गया है। अतः सुकौशलपूर्ण कर्मके द्वारा हो अथवा ज्ञानार्जनके द्वारा हो, आर्यजातिमे ही आश्रमधर्मके अवलम्बनसे जीवन्मुक्तिपदकी प्राप्ति सम्भव है ॥ १२८ ॥

अब छठीं कलाका वर्णन करते है :—

आस्तिक होनेसे दैवजगत्को शरण ली जाती है ॥१२९॥

दैवजगत् और उसके नाना देवपदधारियों पर विश्वास करना हो आस्तिकताका मूल है। स्थूल जगत्का चालक और रक्षक दैवजगत् ही होता है। अतः दैवजगत्की शरण लेना आर्यधमकी छठीं कला कही गयी है ॥ १२९ ॥

इस कलाके महत्त्वके विषयमे कहते हैं :—

त्रिविध संघका अनुग्रह होता है ॥ १३० ॥

यही कारण है कि, आर्यजातिपर देवसंघ, ऋषिसंघ और पितृसंघ तीनोंका अनुग्रह रहता है। शास्त्रोंमे इन त्रिविध संघोंके देवपदधारियोंका वर्णन है। आस्तिकताके कारण ही आर्यजातिपर उनकी कृपा बनी रहती है। विशाल दैवीजगत्का एक-सहस्रांश भी हमारा मृत्युलोक नहीं है। इसके चौदह भुवन हैं।

षष्ठी दैवजगच्छरणमास्तिकत्वात् ॥१२९॥ त्रिविधसघानुग्रहः ॥१३०॥

उनके प्रधान देवपदधारी तीन हैं। उनके अधीन तैंतीस मुख्य-पदधारी देवता हैं तथा ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघ हैं, जो प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाते हैं,—वे और अन्य अनेक देवपदधारी हैं। आर्यजातिके आस्तिक होनेसे अर्थात् उनपर श्रद्धा और विश्वास होनेसे उनपर तीनों संघोंकी कृपा बनी रहती है॥ १३०॥

अब धर्मकी सातवीं कला कही जाती है :—

धर्मसामञ्जस्यके लिये अवतारनिष्ठा सातवीं है ॥१३१॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

'हे अर्जुन! जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका प्रभाव बढ़ जाता है, तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ। साधु सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करने तथा धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके लिये मैं प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होता हूँ।' अवतार ऋषियोंके होते हैं, देवताओंके होते हैं और भगवान्‌के होते हैं। भगवदवतार कलाभेदसे कई प्रकारके होते हैं। भगवदवतारमें दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। एक वह शक्ति, जिस केन्द्रमें

सप्तम्यवतारनिष्ठा धर्मसामञ्जस्यात्॥१३१॥

भगवान्का अवतार होता है, उसके पूर्वजन्मके कर्मानुसार उसके प्रारब्धकी शक्ति और दूसरी, भगवदवतारका जिस प्रयोजनसे आविर्भाव हुआ है, उसके अनुसार भगवच्छक्ति। श्रीमद्भगवद्-गीतामे श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है कि, हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे कितने ही जन्म हो ,चुके है। उन सबको तुम नहीं जानते, परन्तु मै जानता हूॅ। इस भगवद्वचनसे पहिली शक्तिकी सिद्धि हो रही है और भगवच्छक्तिकी सिद्धिके विषयमें श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी व्रजलीला, द्वारकाकी लीला और महाभारतकी लीला आदि प्रमाण हैं। श्रीभगवान्का शिशुकालमें पड़े पड़े स्वाभाविक रूपसे हाथ-पैर हिलाते हुए छकड़ेको आध्मातसे उलट देना, उखलीमें पैरकी टेक देकर यमलार्जुन वृत्तोंको उखाड़ फेकना, कानी अंगुलीपर गोवर्धनपर्वतको उठाकर व्रजमण्डलकी रक्षा करना, महारास रचकर गोपियो को मोहित करना, ये सब मानवी कार्य नहीं; किन्तु भगवच्छक्तिके ही निदर्शक हैं। दो छोटे छोटे कुमारों—श्रीकृष्णचन्द्र और बलरामका मथुरामें जाकर पहाड़ जैसे कुबलया नामक मस्तहाथीके दाँतो तोड़कर मार डालना, मल्लोमे अजेय मुष्टिक और चाणूरको मार गिराना और कंस जैसे महापराक्रान्त सम्राट्का भरी सभामे सिर उतार लेना मनुष्यका कार्य नही हो सकता। यह भगवच्छक्तिका ही परिचायक है। भगवान्भी अपनी बनायी हुई कर्मशृंखलामें बॅधे रहते हैं। जरासन्धका उत्पात जब बहुत बढ़ गया, तब यह जानकर कि, वह अपना वध्य नहीं, भीमसेनका वध्य है,

देवकुलकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने पश्चिमी समुद्रमें एक नया विस्तृत टापू निर्माण किया, जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्योंकी बस्ती बसाई गयी और द्वारका नामक नयी नगरी प्रतिष्ठित कर वहीं मथुरासे हटाकर अपनी राजधानी स्थापित की, सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह कर उतने ही रूपोंसे वे उनके साथ रहने लगे, क्या ये सब कार्य पौरुषेय कहे जा सकते हैं? भगवच्छक्तिके ही ये द्योतक हैं। लीलासंबरणका समय आनेपर सब यादवोंको आपसमें लड़ाकर कुलका नाश हो जानेपर स्वयं निजधाममें चले गये। उनके जानेकी घटनाका अद्भुत रहस्य भी विचार करने योग्य है। कई करोड़ वर्ष पहले जब रामावतार हुआ था, तब भगवान् रामचन्द्रने पेड़की आड़में छिपकर बालीपर बाण चलाकर उसको मारा था। उसी बालीकी आत्मा भीलके रूपमें आयी और उसके बाणसे श्रीभगवान्ने लीला सम्बरण की। शंका समाधान के लिए कहा जा सकता है कि, अवतारके दो तरहके कर्म होते हैं, जैसा ऊपर कहा गया है, एक तो उनके पूर्वजन्मार्जित कर्म और दूसरे, अवतार सम्वन्धी कर्म। यह अवतार सम्वन्धी कर्म है, व्यक्तिगत कर्म नहीं है। क्योंकि रामावतारके कर्मका फल उन्हें इस अवतारमें भोगना पड़ा। यह व्यक्तिगत कर्म हो नहीं सकता। श्रीभगवान् राम और श्रीभगवान् कृष्ण दोनों समान अधिकारके अवतार हैं। इसकारण समान स्तरके अवतारोंमें ऐसा हो सकता है। श्रीभगवान् कृष्णके शरीरके अन्तका समय आ गया और उधर

बालीका ऋण चुकानेका समय भी आ गया था। इसीसे बालीने भीलके रूपमें आकर अपना बदला चुकाया और भगवान् निज-धाममें पधार गये। दर्शनशास्त्र सिद्ध करता है कि, भगवान्की सोलह कलाओंके विकासके अनुसार यह हिसाब बाँधा गया है कि उद्भिज्जसे लेकर चतुर्विधभूतसंघमे यथाक्रम चार कलाओंका विकास होता है। उसके बाद असभ्य और सभ्य मनुष्योंमे आगेकी चार कलाओंका विकास होता है और तदनन्तर नौ कलाओंसे सोलह कलाओ तकका विकास भगवदवतारोंमें होता है, जिनकी अनेक 'श्रेणियाँ है श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र सोलह कलाओसे युक्त पूर्ण अवतार थे। इसका वर्णन महाभारतमें करके भगवान् व्यासदेवने जगत्को धन्य किया है, धर्मके सामञ्जस्यके लिये ही भगवान्के अवतार हुआ करते है। भगदवतारोंके ऊपर बनाये हुये विज्ञानके अनुसार आर्यजाति भगवदवतारोंपर निष्ठा रखती है। इसीसे अवतार-निष्ठा आर्यधर्मकी सातवीं कला कही गयी है॥ १३१ ॥

अब अवतार सम्बन्धसे भारतखण्डकी महिमा कहते है :—

भगवान्के अवतारकी आविर्भाव भूमि है ॥ १३२ ॥

अवतारविज्ञानकी दृढ़ताके लिये अवतार महिमाके प्रसङ्गसे अवतारकी आविर्भाव-भूमिका महत्त्व कहा जाता है। कर्मके सम्बन्धसे ब्रह्माण्डमे जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपमे नौ वर्ष हैं।

भगवदवताराविर्भावभूमि. ॥ १३२ ॥

उनमें भारतवर्ष (मृत्युलोक) श्रेष्ठ है और भारतवर्षमे भारत-खण्ड (हिन्दुस्थान) श्रेष्ठ है । यह शास्त्रोंसे सिद्ध है कि, आदि-मानवसृष्टि इसी भारतखण्डके काश्मीरप्रान्तकी देविका नदीके तटपर हुई थी और भारतखण्डकी छहों ऋतुओके वैभवसे परिपूर्ण है । यहाँकी भूमि चातुर्वर्ण्यसे युक्त है । अर्थात् यहाँ ब्राह्मणभूमि, क्षत्रियभूमि, वैश्यभूमि और शूद्रभूमि चारों प्रकारकी भूमियाँ देखनेमे आती है और सृष्टिके सब प्राकृतिक वैभव यहाँ उपलब्ध है । दूसरी ओर सृष्टिके आदिमे और प्रत्येक सत्ययुगके प्रारम्भमें वेद यहाँके ऋषियोके अन्तःकरणमे शब्दशः सुनाई देते है । वेदसम्मत सब शास्त्र यहीं प्रकट हुए और प्रकट होते है । अन्तर्जगत्की ज्ञान-प्राप्तिके लिये सातो दर्शन, चारों योगसाधन-प्रणालियाँ और धर्माधर्म-निर्णायक शास्त्रसमूह इसी पवित्र भूमिमे प्रकट होते है । यही कारण है कि, श्रीभगवान्के अवतारोंकी यही आविर्भाव-भूमि है । यह पुराणादि शास्त्रोंसे भी सिद्ध है ॥ १३२ ॥

अब आठवीं कला कहते हैं :—

पूर्ण होनेसे योग और भक्तिपूर्ण उपासना आठवीं है ॥ १३३ ॥

जगदीश्वरके निकट पहुँचनेके उपायोको उपासना कहते है । उपासनाका शरीर है योग और प्राण है भक्ति । जितने प्रकारकी

योगभक्तिद्वयाङ्गोपासनाष्टमी पूर्णत्वात् ॥ १३३ ॥

योग-साधन-प्रणालियाँ हैं और जितने प्रकारके भक्तिके भेद है, वे सब आर्यधर्मसे पाये जाते है। दोनों प्रणालियॉ पूर्ण होनेके कारण अन्य धर्मावलम्बी भी उनसे लाभ उठा सकते हैं। वह सर्वाङ्गपूर्ण है ॥ १३३ ॥

इसकी उपयोगिता बताते हैं :—

सबकी अनुकरणीय है ॥ १३४ ॥

आर्योंकी उपासनाप्रणाली योग और भक्ति इन दोनों अङ्गोंसे पूर्ण होनेके कारण सबका हित करनेवाली और सर्वांगपूर्ण है। इसके अङ्ग और उपाङ्ग पृथ्वीके सब धर्मोंके सहायक हुए है। उन्होने इसके अङ्गोको अपने धर्मोंमे यथासम्भव सन्निविष्ट किया है ॥ १३४ ॥

अब नवीं कलाके विषयमें कहते है :--

शक्तिविश्वाससे पीठपूजा नववीं है ॥ १३५ ॥

आर्यजाति भगवच्छक्तिपर विश्वास करती है। इस कारण आर्यधर्मकी नववीं कला पीठपूजा है। आर्यलोग पत्थर, मिट्टी आदिकी पूजा नही करते; किन्तु दैवीपीठमे सर्वव्यापक भगवान्‌की पूजा करते है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डोकी सृष्टिलीलामे सर्वत्र विराजमान है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड-मे उनके प्रतिनिधिरूपसे सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्त्ता

अनुकृतेयम् सर्वैः ॥ १३४ ॥

नवमी पीठपूजा शक्तिविश्वासात् ॥ १३५ ॥

भगवान् विष्णु और संहारकर्त्ता भगवान् शिव अलग अलग विराजमान रहते हैं। इसीप्रकार उनके अंशरूपसे अपने अपने ब्रह्माण्डमें अपने अपने अलग काम करनेके लिये अनेक देव-देवियाँ विद्यमान रहती हैं, वे यथायोग्य स्थानमें, यदि पीठ बने, तो वहीं आविर्भूत हो जाती हैं। इन सब दैवीकार्योंकी निष्पत्तिके लिये ऋषिसंघ, देवसंघ और पितृसंघ अर्थात् अर्यमाआदि नित्यपितृगण जो एक प्रकारके देवता ही हैं,—कर्मके नियन्ता और जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा रखकर तदनुसार फल देनेवाले यमधर्मराज, जगत्में ज्योति फैलानेवाले भगवान् सूर्यदेव आदि सब देवपदधारी, जहाँ उनका पीठ बन जाय, वहाँ आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस सृष्टिलीलामें दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं,—एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। दोनों शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, दो लड़कियाँ एक दूसरीका हाथ पकड़कर जब गोलघुमरी खेलती हैं, तब उनके चक्करमें एक केन्द्र बन जाता है और वे गिरती नहीं। परन्तु यदि उनका हाथ छूट जाय, तो वे इधर उधर जा गिरेंगीं और उनके हाथ-पैर टूट जायँगे। इसी तरह आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंका जहाँ समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है और पीठमें दैवी-शक्तिका आविर्भाव हो जाता है। ग्रह-नक्षत्रादि भी इन्हीं शक्तियोंके कारण अपनी अपनी कक्षाओंमें रहकर घूमा करते हैं।

टेबलरेपिङ्ग और सर्किल जैसी क्रियाओमे भी इसप्रकारका पीठ बन जाता है। इसको तो भौतिक परलोक-विज्ञानवेत्ता भी स्वीकार करने लगे है। ऐसी क्रियाओमे जब पीठ बन जाता है, तब जड़ पदार्थ भी चेतन पदार्थकी तरह कार्य करने लग जाते है। यह पीठ कहीं कहीं स्वाभाविक बना रहता है। जैसे—शालिग्रामशिला, बाणशिवलिग, अपराजिता पुष्प आदि। ऐसे पदार्थोमें आप ही आप पीठ बना रहता है। जब चाहे, तब उनमे पूजा की जा सकती है। इनमें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं होती। आर्यजाति भगवच्छक्तिपर विश्वास करती है। वह पीठमे श्रीभगवान्‌की पूजा करती है। इसीसे आर्यधर्मकी नववीं कला पीठपूजा कही गयी है॥ १३५॥

अब हेतुसहित मूर्तिपूजाका समर्थन करते है :—

प्रतीकका आश्रय करती है॥ १३६॥

दैवीशक्तिके द्वारा पीठका आविर्भाव होता है। यही कारण है कि, आर्यजातिमे मूर्तिआदि पीठोकी उपासना-प्रणाली प्रचलित है। श्रीमद्भगवद्गीतामे श्रीभगवान्‌ने श्रीमुखसे स्पष्ट कहा है कि, अव्यक्त अर्थात् निराकारकी उपासना बड़ी कठिन है। साकार उपासनाके लिये आर्यशास्त्रोमे अनेक प्रकारके प्रतीकोंके अवलम्बनकी सहायता लेनेकी आज्ञा दी है। नानाप्रकारके पाषाण, धातु आदिसे निर्मित मूर्त्ति, स्थण्डिल, चित्र, भित्तिरेखा,

प्रतीकाश्रय. ॥ १३६ ॥

यंत्र, जलकुम्भ, अग्नि आदि प्रतीकके अवलम्बनसे मनकी धारणा बनानेमे बड़ी सहायता होती है। इसका विज्ञान वेद, पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें बहुत विस्तारसे पाया जाता है ॥ १३६ ॥

अब दशवीं कलाका वर्णन करते है :—

पञ्चकोशके सम्पर्कसे शुद्धाशुद्धि स्पर्शास्पर्श विवेक दसवीं कला है ॥ १३७ ॥

शुद्धाशुद्धि-विवेक और स्पर्शास्पर्शविवेक आर्यधर्मकी दसवीं कला है। आर्यजाति सर्वदा पञ्चकोषोका विचार रखती है। आत्मा पञ्चकोषोंसे ढका रहता है। उन पाँचो कोषोंकी शुद्धिके लिये दैवीराज्यसे सम्बन्ध स्थापनद्वारा शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शके विवेकका साधन आर्यजाति किया करती है। इसका विस्तृत विवेचन इसी अध्यायमे पहले आ चुका है ॥ १३७ ॥

अब इसका फल बताते हैं :—

दैवानुकम्पाशालिनी है ॥ १३८ ॥

तात्पर्य यह है कि, इस धर्मके पालनसे आर्यजाति दैवानुकम्पाशालिनी है। शुद्धाशुद्ध और स्पर्शास्पर्शका सदा विचार रहनेसे आर्यजातिको अधिभूतशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अध्यात्मशुद्धि इन तीनों शुद्धियोका अधिकार प्राप्त हो जाता है। ऐसा होनेसे दैवीशृंखलाके व्यवस्थापक देवताओंको अपनी

शुद्ध्यशुद्धिस्पृश्यास्पृश्यविवेको दशमी पञ्चकोषसम्पर्कात् ॥ १३७ ॥

दैवानुकम्पाशालिनी ॥ १३८ ॥

शृंखलाके बाँधनेमें बड़ी सहायता मिलती है । इसकारण आर्यजाति दैवानुकम्पाशालिनी हो जाती है ॥ १३८ ॥

धर्मकी ग्यारहवीं कला बताते हैं :—

परस्पर सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ ग्यारहवीं है ॥ १३९ ॥

यज्ञ और महायज्ञपर विश्वास रखना आर्यधर्मकी ग्यारहवीं कला है । क्योंकि यज्ञके द्वारा देवता और मनुष्योंमें परस्पर सहायताका सम्बन्ध स्थापन हो जाता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है :—

"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।"

अर्थात् एक दूसरेकी सहायता कर उत्तम कल्याणको प्राप्त करो । भगवान्‌की कृपा प्राप्त करके जिस धर्माङ्गके साधनद्वारा दैवीराज्यका संवर्द्धन किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं । यज्ञ और महायज्ञमें भेद यह है कि, जो यज्ञ सम्बन्धी धर्मकार्य किसी व्यक्तिके कल्याणके लिये किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं और जो यज्ञसम्बन्धी धर्मकार्य जाति और जगत्‌के कल्याणके लिये किया जाता है, उसको महायज्ञ कहते हैं ॥ १३९ ॥

इसका फल बताया जाता है :—

धर्मप्राण है ॥ १४० ॥

आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिका जीवन यज्ञमय होनेसे

यज्ञमहायज्ञावेकादशी परस्परसम्बन्धात् ॥ १३९ ॥

धर्म-प्राणा ॥ १४० ॥

वह धर्मप्राण है। आर्यजातिके शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक सब कार्य धर्ममूलक होते हैं और उनका जीवन यज्ञमय होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, आर्यजातिके प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेकी शास्त्राज्ञा है। ऐसी जातिका धर्मप्राण होना स्वाभाविक ही है ॥ १४० ॥

अब बारहवीं कला बताते हैं :—

नित्य होनेसे वेदशास्त्रपर विश्वास बारहवीं है ॥ १४१ ॥

वेद और शास्त्रोंपर विश्वास करना आर्यधर्मकी बारहवीं कला है। क्योंकि वेद और शास्त्र नित्य हैं और भगवत्प्रेरित हैं ॥ १४१ ॥

वेदशास्त्र नित्य कैसे हैं, बताते हैं :—

शब्दरूपसे वेद और भावरूपसे शास्त्र नित्य हैं ॥ १४२ ॥

वेद शब्दरूपसे नित्य हैं और अन्यान्य शास्त्र भावरूपसे नित्य हैं। वेदकी शब्दराशि ज्योंकीत्यों सुनाई देती है और अन्यान्य शास्त्र ऋषि-मुनियोंके अन्तःकरणमें भावरूपसे प्रकट होते हैं और वे फिर उन्हें अपने शब्दोंमें प्रकट करते हैं। वैदिक विज्ञानका यह सिद्धान्त है कि, वेदके शब्द बदलते नहीं हैं। वे नित्यरूपसे ब्रह्मलोकमें रहते हैं और इस मृत्युलोकमें मनुष्योंके कर्मानुसार समय समयपर उनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है।

वेदशास्त्रविश्वासो द्वादशी नित्यत्वात् ॥ १४१ ॥

प्रथमः शब्दरूपत्वाद्भावरूपत्वाद् द्वितीयम् ॥ १४२ ॥

जड़विज्ञानसे अब यह तो सिद्ध हो ही गया है कि, शब्द सर्वव्यापक आकाशमें नित्य रहते हैं और जहाँ रेडियो-यन्त्र होता है, वहाँ उसके द्वारा प्रकट हो जाते हैं। इसीतरह ब्रह्मलोकमें नित्यरूपसे रहनेवाले वेद चतुर्युग बीत जानेपर सत्ययुगके आरम्भमें संयमशील उन्नत अन्तःकरणके ऋषियोंके अन्तःकरणमें ज्योंके-त्यों प्रकाशित हो जाते हैं, उन्हें सुनाई देने लगते हैं। इसीसे वेदको श्रुति कहते हैं। शास्त्र, जिनको स्मृति कहते हैं, वे भी समय समयपर भावरूपसे प्रशान्त और योगयुक्त ऋषि-मुनियोंके अन्तःकरणमें प्रकाशित होते हैं और फिर वे (ऋषिमुनि) अपने शब्दोंमें उन्हें जगत्‌में प्रकट करते हैं। यही वेद और शास्त्रोंके नित्य होनेका रहस्य है ॥ १४२ ॥

अब धर्मकी तेरहवीं कला बताते हैं :—

बीजाङ्कुरके समान संस्कार-कर्म-श्रद्धा तेरहवीं है ॥ १४३ ॥

संस्कारों और कर्मोंपर श्रद्धा करना आर्यधर्मकी तेरहवीं कला है। कर्म और संस्कार ये दोनों बीज और अंकुरके समान हैं। संस्कार कर्मका बीज है और कर्म उसका अंकुर है। वेदके इस कर्ममीमांसादर्शनमें संस्कारके नाना भेद, संस्कारजन्य ऊर्द्ध्वगति और अधोगति, वैदिक-संस्कारोंका रहस्य, कर्मका अलौकिक विज्ञान और उसके जैव, ऐश और सहज भेद, यह सब विस्तृतरूपसे अन्यत्र वर्णित है ॥ १४३ ॥

संस्कार-कर्मश्रद्धा त्रयोदशी बीजाङ्कुरवत ॥ १४३ ॥

इसका फल बताते हैं :—

चतुर्व्वर्ग फलप्रदा है ॥ १४४ ॥

कर्म और संस्कारोंपर श्रद्धा होनेसे आर्यधर्मकी उक्त तेरहवीं कला आर्यजातिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गको प्राप्त कराती है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चारोंके अन्तर्गत समस्त अभ्युदय और निःश्रेयस आ जाता है। यदि संस्कार और कर्म दोनों यथाधिकार प्राप्त किये जायँ, तो जीवको सबकुछ प्राप्त हो जाता है। यही इस सूत्रका तात्पर्य है ॥ १४४ ॥

अब चौदहवीं कला कहते हैं :—

अभ्युदय निमित्तक आवागमन-चक्र जन्मान्तरवाद-विश्वास चौदहवीं है ॥ १४५ ॥

जीवके निरन्तर अभ्युदयका कारण होनेसे आवागमनचक्र और जन्मान्तरवादपर विश्वास करना आर्यधर्मकी चौदहवीं कला है। जीव जबसे उत्पन्न होता है और जबसे वह सहजपिण्डके चतुर्विध-भूतसंघसे आगे बढ़कर मानवपिण्डमें पहुँचता है, तबसे वह आवागमन-चक्रमें निरन्तर घूमता रहता है। आवागमन-चक्रका तात्पर्य यह है कि, जीव जन्मता है, मरता है, प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक आदिमें जाता है और फिर मृत्युलोकमें आ-

---

चतुर्वर्गफलप्रदा ॥ १४४ ॥

आवागमनचक्र-जन्मान्तरवाद-विश्वासश्चतुर्दश्यभ्युदयनिमित्तत्वात् ॥ १४५ ॥

जाता है। फिर इसीप्रकार जाता है और फिर मृत्युलोकमें लौट आता है, इसीको आवागमन-चक्र कहते हैं। जन्मान्तरवादका अर्थ स्पष्ट ही है। इसी आवागमन-चक्र और जन्मान्तरके कारण जीव प्रथम अवस्थामे अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामे निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है। यही धर्मकी चौदहवीं कला है॥ १४५॥

इस विज्ञानको पुष्ट करते हैं :—

विवाह, दाय श्राद्ध-तर्पणके चतुर्व्यूहसे सुरक्षित है॥ १४६॥

जन्मान्तरवाद और आवागमन-चक्रकी सुरक्षाके लिये विवाह संस्कार, दायभागव्यवस्था, श्राद्धकर्म और तर्पणकर्म, ये चार व्यूह बने हुए हैं। इन व्यूहोंसे आर्यजातिका जन्म-मृत्यु और आवागमनचक्र सुरक्षित रहता है। आवागमन-चक्रमें भ्रमायमाण जीवकी सहायताके लिये श्राद्धकर्म, तर्पणकर्म, और दायभाग-व्यवस्था दृढ़तापूर्वक अवलम्बनीय है। क्योंकि ये परलोकगामी जीवके सहायक हैं। सृष्टिकार्यमे विवाह-संस्कार सबसे महत्त्वका है। आर्यलोग इसकी पवित्रता सदा बनाये रहते हैं। इसी कारण रजस्वला होनेसे पहले कन्याके चित्तको विवाह-संस्कारसे सुरक्षित और पवित्र रखते हैं और बर-कन्याका सम्बन्ध उभयलोकव्यापी अर्थात् जन्मान्तरव्यापी किया जाता है। दायभाग अर्थात् सम्पत्तिका जो विभाजन किया जाता है, वह भी परलोकगत आत्माओंको जिनके द्वारा सहायता मिलती

विवाहदायश्राद्धतर्पणचतुर्व्यूहसुरक्षिता॥ १४६॥

है, उन्हींको सम्पत्ति देनेकी शास्त्र आज्ञा देता है, औरोंको नहीं। इस कार्यकी सुसिद्धिके लिये दो विधियाँ शास्त्रोंने बतायी हैं, एक विस्तृत और दूसरी सुलभ। उनमें श्राद्धकर्म विस्तृत है और तर्पणकर्म सुलभ। इसप्रकारसे पूर्वकथित सिद्धान्त चतुर्व्यूह-द्वारा पुष्ट किया गया है॥ १४६॥

अब धर्मकी पन्द्रहवीं कला कहते हैं :—

सर्वशक्तिमत्तासे सगुण-निर्गुण-उपासना पन्द्रहवीं है॥ १४७॥

श्रीपरमात्माकी निर्गुण और सगुणरूपमें उपासनाकी व्यवस्था आर्यधर्मकी पन्द्रहवीं कला है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनके लिये असम्भव कुछ नहीं है। वे निर्गुण और निराकार होनेपर भी भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण और साकाररूप भी धारण कर सकते हैं॥ १४७॥

इसका कारण कहते हैं :—

अधिकारीभेदसे व्यवस्था॥ १४८॥

आर्यधर्ममें उपासनाके लिये अधिकारीभेदकी व्यवस्था रक्खी गयी है। जैसा जिसका अधिकार हो वैसा ही उसके लिये उपासनाकी व्यवस्था की गयी है। इसीसे इस धर्ममें निम्नसे निम्न भूत-प्रेतादिकी उपासनासे लेकर सर्वोच्च निर्गुणब्रह्मो-

---

सगुणनिगुणोपासना पञ्चदशी सर्वशक्तिमत्त्वात्॥ १४७॥

अधिकारिभेदाद् व्यवस्था॥ १४८॥

पासना तककी विधि है। सब श्रेणीके उपासक निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक भगवद्भावकी धारणा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसीसे आर्यधर्ममें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारकी उपासनाओंकी व्यवस्था है। क्योंकि श्रीभगवान् सगुण हैं और निर्गुण भी हैं, साकार हैं और निराकार भी हैं ॥ १४८ ॥

अब आर्यधर्मकी सोलहवीं कला बताते हैं :—

पूर्णहोनेसे कैवल्याधिगम सोलहवीं है ॥ १४६ ॥

जीवकी क्रमोन्नतिका अन्तिम पद कैवल्यकी प्राप्ति है। अपने अपने ढंगपर और अपने अपने अधिकारके अनुसार सब वैदिक-दर्शनोंने मुक्तिका स्वरूप दिखाया है। जीवके अभ्युदयके अधिकार अनेक हो सकते हैं; परन्तु उसकी अन्तिम सीमा कैवल्य है। मुक्तिका अधिकार केवल आर्यधर्ममें ही निर्णीत किया गया और उसी पदपर पहुँचकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। इसीसे इसका आर्यधर्मकी सोलहवीं कलाके रूपमें निर्देश किया है ॥ १४६ ॥

आर्यधर्मका महत्त्व बताते हैं :—

आर्यजाति जगद्गुरु है ॥ १५० ॥

आर्यधर्म इसप्रकार सोलह कलाओंसे पूर्ण होनेके कारण

कैवल्याधिगमः षोडशी पूर्णत्वात् ॥ १४९ ॥

जगद्गुरुत्वमार्यजातेः ॥ १५० ॥

आर्यजाति जगद्गुरु है। आर्यजातिके जगद्गुरुत्वके सम्बन्धमें मनुभगवान् आज्ञा करते हैं :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सब मनुष्योंको अपने अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसीतरह पृथ्वीकी सब सभ्यजातियोंके विद्वान् पुरुषोंने एकमत होकर स्वीकार किया है कि, प्राचीन आर्यगण ही जगत्के गुरु थे। उपर्युक्त मनु भगवान्की आज्ञामें ब्राह्मणशब्द इसलिये आया है कि, तपः स्वाध्यायनिरत, त्यागशील और समस्त जगत्का मंगलसाधन करनेके लिये जीवनधारण करनेवाले ब्राह्मणोंके महत्त्वसे ही आर्यजातिका महत्त्व है॥ १५०॥

अब आर्यजातिके जीवनका महत्त्व बताकर अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं :—

जीवन यज्ञमय है॥ १५१॥

यज्ञ और महायज्ञका लक्षण और महत्त्व इस दर्शनमें कई जगह बताया गया है। आर्यजातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी किसी जातिमें इसप्रकारका यज्ञमय जीवन देखनेमें नहीं आता॥ १५१॥

यज्ञकी विशेष महिमा कह रहे हैं :—

यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि होती है॥ १५२॥

यज्ञमयजीवनञ्च॥ १५१॥ सहयज्ञा प्रजासृष्टिः॥ १५२॥

जब धर्म और यज्ञ पर्यायवाचक शब्द हैं, तब यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि होती है, यह स्वतः सिद्ध है। जब धर्मके द्वारा जगत्‌की सुरक्षा होती है, धर्म ही स्थितिका मूल है और धर्मके द्वारा ही सब जीवगण क्रमशः निःश्रेयसकी ओर अग्रसर होते हैं, तो धर्मरूपी यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि भी होती है। यदि ऐसा न हो, तो प्रजाकी रक्षा और क्रमोन्नति हो ही नहीं सकती। जो प्रजाकी स्थितिका मूल है, जिसके द्वारा सृष्टिकी रक्षा होती है और जिसके द्वारा प्रजा अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करती है वह प्राकृतिक नियम तथा भगवत्‌शक्तिरूपी धर्म सृष्टिके साथ उत्पन्न होता है, यह मानना ही पड़ेगा। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके कहा कि, इस यज्ञके द्वारा तुमलोग क्रमशः आत्मोन्नतिलाभ करो, यह तुमलोगोंको अभीष्ट भोगप्रद हो॥ १५२॥

और भी कह रहे हैं :—

प्रजा और देवतामें परस्पर सम्वर्द्धन होता है॥ १५३॥

इस विषयमें गीतोपनिषद्‌में कहा है :—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

प्रजादेवयोरन्योऽन्यं सम्बर्द्धनम्॥ १५३॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

इस यज्ञके द्वारा तुमलोग देवताओंका सम्बर्द्धन करो और वे देवतागण भी तुम्हें सम्बर्द्धित करें। इसप्रकारसे परस्पर सम्बर्द्धित होकर परम कल्याण प्राप्त करोगे। देवतागण यज्ञद्वारा सम्बर्द्धित होकर तुमलोगोंको अभीष्ट भोग-प्रदान करेंगे, इस कारण उन लोगोंका दिया हुआ द्रव्य उन्हें न देकर जो भोग करते हैं, वे चोर हैं।

यज्ञका और भी महत्त्व यह है कि, जब धर्मरूपी यज्ञ सृष्टिको धारण करता है, उसके क्रमाभ्युदयका कारण है और वह सृष्टिसंरक्षण तथा अभ्युदय-कार्य देवताओंके द्वारा हुआ करता है, क्योंकि कर्म जड़ है, बिना चेतन चालकके कर्मसे फलोत्पत्ति नहीं हो सकती है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, यज्ञ और देवताओंका परस्पर सम्बन्ध है। दूसरी ओर धर्मोत्पन्न कर्मकी यथावत् सुव्यवस्था तथा उससे यथायोग्य फल-प्रदान देवताओंका कार्य है और यज्ञके द्वारा उनके कार्यमें पूर्ण सहायता मिलती है, क्योंकि यज्ञरूपी धर्म विश्वधारक है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, देवतागण यज्ञसे सम्बर्द्धित होते हैं। बिना यज्ञके सृष्टिकी रक्षा जैसे नहीं हो सकती, बिना यज्ञके जीवगण अभ्युदय और निःश्रेयसको नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही बिना यज्ञके देवतागण अपने जीवनका कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकते हैं। जब जीवन और जीविकाका सम्बन्ध यज्ञके

साथ एवं यज्ञका सम्बन्ध देवताओंके साथ है, तो यह भी सिद्ध हुआ कि, यज्ञके द्वारा देवतागण सम्बर्द्धित होकर पुष्ट और तुष्ट होते हैं, तो उनके बदलेमें वे अवश्य ही प्रजाको पुष्ट और तुष्ट करते रहते हैं। क्योंकि यह उनका स्वाभाविक कर्त्तव्य है ॥१५३॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं :—

साम्राज्यके समान समझना चाहिये ॥१५४॥

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार इस विज्ञानकी पुष्टिके लिये उदाहरण दे रहे हैं कि, जिसप्रकार किसी साम्राज्यमें साम्राज्य तथा प्रजाका सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार मनुष्य तथा देवताओंका सम्बन्ध है। जिसप्रकार राजाके द्वारा प्रजा सुरक्षित होती है, उसी प्रकार देवताओंके द्वारा मनुष्यादिकी सृष्टि सुरक्षित होती है। दूसरी ओर जिस प्रकार प्रजा ही राजाको धनबल, जनबलआदिद्वारा पुष्ट और योग्य बनाती है, उसी प्रकार मनुष्यगण धर्मसाधनद्वारा दैवराज्यको पुष्ट, तुष्ट, और समृद्धिशाली करते हैं। बिना प्रजाकी योग्यताके राजाका कल्याण नहीं और बिना राजाके प्रजाका कल्याण नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार बिना मनुष्य-समाजके धार्मिक हुए दैवराज्य पुष्ट नहीं हो सकता और बिना दैवराज्यकी पुष्टि और तुष्टिके मृत्युलोकका अभ्युदय असम्भव है। प्रजा यदि निरंकुश, राजाकी विरोधी और असन्तुष्ट हो, तो

साम्राज्यवत् ॥ १५४ ॥

राजाका किसी प्रकारसे कल्याण नहीं हो सकता, उसीप्रकार राजा यदि स्वार्थपर, प्रजा-हित-विमुख, असंयमी, प्रजावात्सल्यहीन हो, तो ऐसे राजाकी प्रजा कदापि अभ्युदयको प्राप्त नहीं हो सकती है। ठीक उसीप्रकार मनुष्यलोकमें यदि धर्मानुष्ठान नष्ट हो जाय, तो देवलोक निर्बल और कर्त्तव्यशिथिल हो जाता है और उससमय आसुरी बल बढ़ जाता है। दूसरी ओर यदि देवतागण दुर्बल होकर कर्त्तव्य-विमुख हो जायँ तो, मृत्युलोकमें सब प्रकारका ताप और अशान्ति बढ़कर प्रजा क्लेशित हो जाती है। इस उदाहरणसे पूर्वकथित उदाहरणकी पूर्णतया पुष्टि होती है ॥ १५४ ॥

अब कर्मके फलानुसन्धानकारी भेद कहे जाते हैं:—

शुभ और अशुभरूपसे कर्म द्विविध है ॥ १५५ ॥

जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होगी। हाथ उठाना-रूप क्रिया जब हुई, तो हाथ गिरानारूप प्रतिक्रिया अवश्य होगी। वही प्रतिक्रिया ही कर्मसे फलोत्पन्न करती है। यदि एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यका हनन करे, तो उसके कर्मकी परिपाक-अवस्थामें जन्मान्तरमें जो प्रतिक्रिया होगी, उससे उस मारनेवाले व्यक्तिका दूसरे जन्मका शरीर उस मृत व्यक्तिके दूसरे जन्मके शरीर द्वारा मारा जायगा। अथवा यदि कर्मका रूपान्तर हुआ, तो मारनेवाला व्यक्ति अल्पायु होगा। इसी

द्विविधं कर्म शुभमशुभं च ॥ १५५ ॥

उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया-अवस्थामे फलकी उत्पत्ति हुआ करती है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रने कहा है :—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।

किये हुए कर्मका शुभाशुभ फल अवश्य मिलता है।

अब इस विचारसे कर्म दो प्रकारका होता है। एक शुभकर्म, दूसरा अशुभकर्म। जो कर्म सत्त्वगुणवर्द्धक और मंगलवासनामय होता है, वह शुभफलोत्पन्न करता है और जो कर्म तमोगुणवर्द्धक और अमंगलवासनायुक्त होता है, वह अशुभ कहाता है। शुभकर्मसे ऊर्द्ध्वगति और सुखकी प्राप्ति तथा अशुभकर्मसे अधोगति और दुःखकी प्राप्ति हुआ करती है ॥ १५५ ॥

प्रसङ्गसे उनका कारण निर्णय किया जाता है :—

सृष्टिका द्वन्द्व इसका कारण है ॥ १५६ ॥

सृष्टिके द्वन्द्व पहले ही वर्णन किये जा चुके हैं। जैसे कालके दो भेद दिन और रात, रूपके ज्योति और छाया इत्यादि। सृष्टिके ये स्वाभाविक भेद है। उसी स्वाभाविक भेदके अनुसार फलोन्मुख कर्मके भी ये ही दो भेद स्वीकृत हुए हैं। तात्पर्य्य यह है कि यह काल्पनिक नहीं है स्वभावसिद्ध है ॥ १५६ ॥

सर्गद्वन्द्वनिमित्तं तत् ॥ १५६ ॥

प्रसंगतः गति कही जाती है :—

सृष्टिका द्वन्द्व द्विविध गतिका भी कारण है ॥ १५७ ॥

उसी स्वाभाविक नियमके अनुसार पूर्वकथित कर्मके दो भेदोंसे जीवकी गति द्विविध हुआ करती है। एक जीवको ऊद्र्ध्वको ले जाती है और दूसरी अधोमार्गमें ले जाती है। ऊद्र्ध्वमार्गके उदाहरण पितृलोक, स्वर्गलोक, स्वर्गके अन्यान्य उन्नत भोगलोक, सहजगति अर्थात् जीवन्मुक्तदशा और शुक्लगति आदि। अधोगतिके उदाहरण प्रेतलोककी प्राप्ति, नरकलोकप्राप्ति, मृत्युलोकमें पुनरावृत्ति होकर दुःखयोनिकी प्राप्ति आदि। जिस प्रकार ऊद्र्ध्वगतिके उन्नतसे उन्नत बड़े बड़े अधिकार हैं, यथा मृत्युलोकमें राजा होना, ब्राह्मण होना, संन्यासी होना इत्यादि, और देवलोकमें यमत्व, इन्द्रत्वसे लेकर ऋषित्व और अन्तमें ब्रह्मा, विष्णु, शिवत्व तक समझा जा सकता है। उसी प्रकार अधोगतिके उदाहरणमें राक्षसत्व, पिशाचत्व आदिसे लेकर तिर्य्यक्योनिप्राप्ति समझा जा सकता है। आवागमन चक्रके द्वारा ये दोनों गतियाँ अग्रसर होती हैं ॥ १५७ ॥

उनका स्वरूप कहा जाता है :—

वे पुण्य और पाप कहाते हैं ॥ १५८ ॥

ऊद्र्ध्वगति और अधोगतिशील जो दो प्रवाह हैं, वे ही यथाक्रम पुण्य और पाप कहाते हैं। वेद और स्मृति-

---

गतिद्वयनिबन्धनं च ॥ १५७ ॥ ते सुकृत-दुष्कृते ॥ १५८ ॥

पुराणादि शास्त्रोंमें जो पुण्यकर्म और पापकर्म करके वर्णन हैं और उनमें जो पुण्यात्माओं और पापात्माओंकी जीवनियाँ प्रकाशित हैं, वे सब इन दोनों गतियोंके विचारसे निर्णीत हुई हैं। तात्पर्य यह है कि, सत्त्वगुणवर्द्धक, मंगलकर कर्म-समूह पुण्य कहाते हैं और वे ऊर्द्ध्वगतिशील होते हैं और तमोगुणवर्द्धक अमंगलकर कर्मसमूह पाप कहाते हैं और वे अधो-गतिशील होते हैं। यही सब शास्त्रोंमें वर्णित तथा सर्व-सम्प्रदायोंमें प्रचलित पुण्य और पापका रहस्य है ॥ १५८ ॥

अब फल कहा जाता है :—

उनसे सुख और दुःखकी उपलब्धि होती है ॥ १५९ ॥

इन पूर्वकथित दोनों श्रेणीके कर्मोंसे यथाक्रम सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है। सत्त्वगुणसे सुख और तमोगुणसे दुःखकी उत्पत्ति हुआ करती है। अन्तःकरण जब सत्त्वगुणके प्रभावसे आत्मोन्मुख होता है, तब आत्माकी आनन्दसत्ता जो उसमें प्रतिफलित है, उसीसे सुखकी उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर जब रज-तमके प्रभावसे अन्तःकरण आत्माकी ओरसे विमुख रहता है, उस समय परमानन्दमय परमात्माका कुछ भी सम्बन्ध न रहनेसे अन्तःकरणको जो क्लेश होता है, वही दुःख कहाता है। चाहे वैषयिक सुख और दुःख भोगनेवाला व्यक्ति यह दार्शनिक रहस्य नहीं जानता हो, वह चाहे इसका अनुभव न कर सके,

---

सुखदुःखोपलब्धिस्ताभ्याम् ॥ १५९ ॥

क्योंकि यह अनुभव योगिजनगम्य है, परन्तु सुख और दुःखके अनुभवमें अन्तःकरणका परिणाम स्वतः ऐसा ही हो जाता है। अज्ञानी व्यक्ति भी जब विषयसुख अनुभव करता है, तो तन्मात्राओंके बलसे उसका अन्तःकरण शान्त हो जाता है। क्योंकि उस समय तन्मात्राओंमें सत्त्वगुणका प्राधान्य रहता है, सुतरां जब अन्तःकरण शान्त रहता है, तो आत्माकी आनन्दसत्ता उसमें प्रतिफलित हो सकती है और इस अवस्थामें आनन्दसत्ताका प्रतिफलित होना ही वैषयिक आनन्दका मूल कारण है। क्योंकि उस समय अन्तःकरणकी स्वाभाविक गति आत्माकी ओर बनी रहती है। वैषयिक दुःख अनुभव करते समय ठीक इससे विरुद्ध बात बनती है। उस समय रज और तमोगुणके प्रभावसे चाञ्चल्य और प्रमाद रहनेके कारण तन्मात्राएँ अन्तःकरणको शान्त होने नहीं देतीं। फलतः उस समय चञ्चल अन्तःकरण आत्माकी आनन्दसत्ताके प्रतिबिम्बको धारण नहीं कर सकता। उसकी गति केवल नीचेकी ओर बनी रहती है। यही दुःख अनुभवका कारण है। पुण्य और पापजनित जो दो प्रकारके भोग होते हैं, उनका दार्शनिक रहस्य इस प्रकारसे है ॥ १५६ ॥

प्रसंगसे मनुष्यका विशेष अधिकार वर्णन किया जाता है :—

मनुष्य स्वाधीन होनेके कारण उसका अधिकारी है ॥ १६० ॥

मानवस्तद्भाक स्वातन्त्र्यात् ॥ १६० ॥

मनुष्यके नीचेकी जो योनियाँ हैं, वे कैसे असम्पूर्ण हैं, इसका विस्तारित वर्णन पहले आ चुका है। मनुष्ययोनि सब योनिमे श्रेष्ठ है और इसमे जीव पूर्णावयव होता है तथा इसी योनिसे जीव देवयोनि आदिमें भी जाता है और इसमें सब योनियोंकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। अतः इस योनिमें मनुष्य पाप और पुण्यका अधिकार प्राप्त करता है और आवागमन-चक्रका केन्द्र बनकर पुण्य और पापका फलभोग करनेके अर्थ नानालोकोमे यातायात करता रहता है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रमे कहा है :—

"मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ व्यवस्थितौ।

सम्पूर्णावयवा जीवा मर्त्त्यपिण्डं गतास्ततः।" इत्यादि।

मनुष्ययोनिमे ही धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त होता है। मनुष्ययोनिमे ही जीव पूर्णावयव होता है ॥ १६० ॥

उसका निमित्तत्व कहा जाता है :—

वह चतुर्दशलोक-प्राप्तिका कारण है ॥१६१॥

चतुर्दशभुवनके चौदह लोक तथा उनके अवान्तर सब लोक सुख-दुःख-भोगमय ही है। भूलोकान्तर्गत पितृलोक आदिसे लेकर ऊपरके और छः लोक दैवसुखमय हैं और नीचेके सातोलोक आसुरी सुखमय है। वस्तुतः ये सब लोक सुखभोगके लिये ही है। केवल इनमें सुखका तारतम्य रहता है।

चतुर्दशलोकप्राप्तिनिमित्तं तत् ॥ १६१ ॥

मृत्युलोक सुख और दुःख उभयसे पूर्ण है ; क्योंकि यह कर्मभूमि है तथा यह आवागमनचक्रका केन्द्र है । प्रेतलोक तथा नरकलोक और उनके अनेक अवान्तरलोक दुःखभोगके स्थान हैं । इस कारण पुण्य और पापही चतुर्दशलोकप्राप्तिका कारण है । जो दैवसुखभोग-करनेवाले पुण्यात्मा हैं, वे दैवलोकमें जाते हैं, और जो आसुरीसुखभोगकरनेवाले जीव हैं, वे असुरलोकमें जाते हैं । जो केवल पापके फलरूपी दुःखको भोग करनेवाले हैं, वे नरकादिलोकमें जाते हैं, जिनको कर्म करनेका अधिक अवसर दिया जाता है और जो पाप एवं पुण्य उभयभोगकरने वाले हैं, वे मृत्युलोकमें आते हैं ॥ १६१ ॥

और भी कहा जाता है :—

वह जाति, आयु और भोगका कारण है ॥ १६२ ॥

इन दो श्रेणियोंका कर्म जिस प्रकार चतुर्दशभुवनप्राप्ति-करानेका कारण है, उसी प्रकार जाति, आयु और भोगका कारण है । यह पहले भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि, प्रारब्धसंस्कारके द्वारा ही जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है । जाति, आयु और भोगके अधिकारसे ही पिण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है । इस कारण शुभाशुभभोगमूलक पुण्य और पाप पिण्डके कारणरूप जाति आयु-भोगके भी कारण हैं ॥ १६२ ॥

जात्यायुर्भोगहेतुः ॥ १६२ ॥

और भी कहा जाता है :—

चित्ताकाशका भी कारण है ॥ १६३ ॥

आकाशके तीन भेद हैं। यथा—चिदाकाश, चित्ताकाश और महाकाश। जीवके शरीरावच्छिन्न आकाशको चित्ताकाश, समष्टिब्रह्माण्डके आकाशको चिदाकाश और अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-व्यापक आकाशको महाकाश कहते हैं। यहाँ आकाशशब्दसे प्रथमतत्त्वरूपी आकाशतत्त्वका सम्बन्ध नहीं है। यह देशात्मक आकाश और ही है, जो संस्कारधारक कर्माशयसे सम्बन्ध रखता है। चित्ताकाश और चिदाकाशका भेद समझनेके लिये यह विचार करना उचित है कि, एक मनुष्य जब अपनी मननशक्तिको अपने शरीर तक रखता है, तो उस मननशक्तिकी गति केवल चित्ताकाश तक रहती है। जब वह साधक बनकर दूसरे मनुष्यपिण्डके अन्तःकरणपर संयम करके कोई कार्य्य करता है, जब वह भक्त बनकर अपने हृदयकी भावनाशक्तिको अपने हृदयनाथ इष्टदेवके लोकमें पहुँचाकर उनके चरणोंमें कुछ निवेदन करता है, अथवा योगी बनकर चतुर्दशभुवनोंका पता लगाता है तो समझना उचित है कि, उस समय उसकी मानसिक क्रिया चिदाकाशमें कार्य करती है। यही चित्ताकाश और चिदाकाशका रहस्य है। महाकाश तो महाकालके सदृश अनादि, अनन्त और विभु है। इन आकाशत्रयोंका रहस्य न

चित्ताकाशकारणं च ॥ १६३ ॥

जानकर कोई कोई मतावलम्बी बहुतसी भ्रमधारणा कर लेते हैं। यथा—स्थूलशरीरके सदृश सूक्ष्मशरीर भी सदा नाशवान् है। मनुष्य पुनः अण्डज आदि निम्न योनियोंमें नहीं जा सकता है। इस प्रकारकी धारणाके समाधानके लिये चिदाकाश और चित्ताकाशका रहस्य और भी अच्छी तरहसे समझना उचित है। एक पिण्ड जबतक रहता है, तबतक उसका चित्ताकाश स्थायी रहता है। एक ब्रह्माण्ड जबतक स्थायी रहता है, तबतक चिदाकाश स्थायी रहता है और ब्रह्माण्डके प्रलय होनेपर केवल महाकाश रहता है। जैसे महाकालरूपी शिव सबको अपनेमें लय कर लेते हैं, उसी प्रकार महाकालरूपी शिवा सबको अपने अङ्गमें मिला लेती है। मनुष्यका पिण्ड नष्ट होता है, जिसको मृत्यु कहते हैं, उसके अनन्तर जाति-आयु-भोगरूपी फलकी उत्पत्ति होकर उसकी समाप्तिमें जब दूसरा जाति-आयु-भोग उत्पन्न करनेका समय आता है, उस समय जीर्णवस्त्र परित्यागकी तरह जीव अपने पिण्डको छोड़ देता है। तब नवीन जाति-आयु-भोग उत्पन्न करनेके उपयोगी संस्कार पुनः चिदाकाशसे चित्ताकाशमें आ जाते हैं। जैसे—यदि तेलको किसी जलाशयके नीचे डाला जाय, तो वह तेल जलाशयके ऊपरके स्तरमें ही आ जाता है। उसी प्रकार चिदाकाशरूपी निम्न स्तरसे नवीन संस्कारसमूह चित्ताकाशपर अधिकार करके नवीन जाति-आयुभोगको प्राप्त करनेके लिये नवीन मानवपिण्ड, सहजपिण्ड अथवा देवपिण्ड प्राप्त कराते हैं। इस कारण सूक्ष्मशरीरमें

कुछ परिवर्त्तन नवीन आकृष्ट संस्कारोंके अनुसार अवश्य होता है। किन्तु जैसे स्थूलशरीररूपी पिण्डका नाश हुआ करता है, वैसा सूक्ष्मशरीरका नाश नहीं हुआ करता। सुतरां उनका सूक्ष्मशरीरके नाशका विचार प्रमादमूलक है, सत्य नहीं है। दूसरी ओर जाति-आयु-भोगके उपयोगी नवीन संस्कारसमूह जब चिदाकाशसे चित्ताकाशमे आकृष्ट होते हैं और उनका आकृष्ट होना जीवके किसी एक प्रबल संस्कारके अधीन होता है और चिदाकाशमे सब श्रेणीके संस्कार रहते है, तो पूर्णावयव और प्रबल संस्कार उत्पन्न करनेमें दक्ष मनुष्य महात्मा भरतके सदृश मृगरूप धारण करके एक जन्मके लिये मृगपिण्डको धारणकर सकते हैं, इसमे सन्देह नहीं। हाँ, ऐसी अवनति क्षणिक होती है, स्थायी नहीं होती। इस सूत्रोक्त विचारका तात्पर्य यही है कि, पुण्य और पापफलप्रद शुभ और अशुभ कर्म चित्ताकाशकी नवीन उत्पत्ति करते रहते है ॥ १६३ ॥

और भी कहा है :—

प्रकृति प्रवृत्ति शक्ति और संस्कारोंका भी कारण है ॥ १६४ ॥

जन्मान्तर होते समय बहुकालव्यापी संस्कारराशिसे कुछ कर्मबीज संस्कार कर्म-शृङ्खलाके नियमानुसार उस जीवके चित्ताकाशका आश्रय कर लेते है। ये ही प्रारब्धकर्म कहाते

प्रकृतिप्रवृत्तिशक्तिसंस्काराणाञ्च ॥ १६४ ॥

हैं। उक्त कर्मोंके अनुसार जीवको जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है, जैसा पहले कहा गया है। इन तीनोंके अतिरिक्त उक्त जीवको प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार इन चारोंकी भी प्राप्ति होती है। इसीकारण प्रत्येक जीवकी प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार भिन्न भिन्न होते हैं। एकही पिता मातासे उत्पन्न हुई सन्ततिकी प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कारोंमें जो भेद और विचित्रता देख पड़ती है, इसका कारण यही है। यहाँ जो प्रकृतिशब्द आया है, वह मूलप्रकृतिसे सम्बन्ध नहीं रखता। इसका सम्बन्ध स्वभावसे है। इसी तरह संस्कारका अर्थ कर्मको उत्पन्न करनेवाला संस्कार नहीं है। यह परिस्थितिसे उत्पन्न होनेवाला संस्कार है। इसप्रकार मनुष्य जाति, आयु, भोग, प्रकृति, प्रवृत्ति, शक्ति और संस्कार इन सातोंको साथ लेकर जन्मता है और तदनुसार फलाफल प्राप्त करता है॥ १६४॥

प्रसंगसे उसका कहाँ अभाव होता है, सो कहा जाता है :—

स्वातन्त्र्यके अभावके कारण मनुष्येतर योनियोंमें ऐसा नहीं होता है॥ १६५॥

मनुष्यसे नीचेकी जो उद्भिज्ज-स्वेदजादि योनियाँ हैं, उनमें जीवकी परतन्त्रता कैसी है और उन सबमें पञ्चकोषकी पूर्णता न होनेसे किस प्रकार शक्तिका अभाव है सो पहले भलीभाँति

नान्ये तदभावात्॥ १६५॥

वर्णित हो चुका है। जब मनुष्यके नीचेकी योनियाँ पूर्णावयव नहीं हैं और वे पूर्णावयव न होनेसे उनमे शक्तिकी भी असम्पूर्णता है, तो पूर्णशक्तिविशिष्ट मनुष्ययोनिके अधिकार उनमें प्राप्त हो ही नहीं सकते। जिसको पदका अधिकार दिया जाता है, उसके साथ ही साथ पदका दायित्व भी दिया जाता है। जहाँ पदाधिकार नहीं है, वहाँ पदका दायित्वभी नहीं है। पूर्णावयव मनुष्य और देवता आदिमे धर्मसे उन्नति और अधर्मसे अवनति अर्थात् पुण्यसे सुख और पापसे दुःखप्राप्तिका दायित्व प्राप्त रहता है; परन्तु उद्भिज्जादि चतुर्विधभूतसंघमे पराधीनता और असम्पूर्णताके कारण वह दायित्व न रहनेसे उनमे पुण्य और पापका सम्बन्ध नहीं रहता। वे अपने अपने कर्मोंके लिये उत्तरदाता नहीं रहते। क्योकि वे कर्म करनेमें स्वाधीन नहीं हैं। अब जिज्ञासुओंके हृदयमे यदि ऐसी शंका हो कि, चतुर्विधभूतसंघमे चित्ताकाशका कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है, तो सत् असत् संस्कार क्यों नहीं संग्रह होते? और यदि नहीं है, तो उनकी जीवत्वसिद्धि कैसे हो सकती है? और यदि नहीं है, तो योगिगण उनमें संयमद्वारा अपनी इच्छाको परिचालन कैसे करते हैं? अथवा महात्माओंके निकट पशुओंका वैरत्याग कैसे सम्भव है? इत्यादि शंकाओंका समाधान यह है कि, चतुर्विधभूतसंघमें चित्ताकाशका प्राकट्य अवश्य है। क्योंकि जहाँ चिज्जड़ग्रन्थि बँध जाती है, वहाँ व्यापक आकाशकी विच्छिन्नता अवश्य हो जाती है। यही चित्ताकाशका प्राकट्य है। परन्तु वे सब जीव अपूर्ण होनेके

कारण उनमें चित्ताकाशकी शक्तिकी भी अपूर्णता रहती है और इसी अपूर्णताके कारण वे स्मृति आदि क्षणिक संस्कारोको केवल धारण कर सकते हैं। पुण्यपाप संग्रहकारी भविष्यत्में अदृष्ट-फलोत्पादक संस्कारोको संग्रह करनेमे वे जीव असमर्थ होते हैं। वे केवल सहजकर्म और स्वाभाविक संस्कारोके अधीन होकर क्रमाभ्युदयको प्राप्त करते रहते है। इसी कारण उनके पिण्डको सहजपिण्ड कहते हैं॥ १६५॥

प्रसंगसे कोषका वर्णन किया जाता है:—

कोष पाँच हैं॥ १६६॥

पञ्चकोषके अवलम्बनसे ही जीव कर्म करता है, पञ्चकोषसे ही जीवका जीवत्व है और पञ्चकोषकी ही पूर्णतासे जीवकी पूर्णता होती है। इसकारण पञ्चकोषका उल्लेख किया जाता है। स्मृतिशास्त्रमे पञ्चकोषके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन है—

एतदेवास्ति वेदेषु वर्णितञ्च कचित् कचित्।
पञ्चकोषाभिधानेन देवाः! आवरणं ननु॥
पञ्चभ्यः स्थूलभूतेभ्यः कोषो ह्यन्नमयो भवेत्।
कोषादन्नमयादेव स्थूलमुत्पद्यते वपुः॥
केवलोऽन्नमयः कोषः पतेन्मृत्युक्षणे सुराः!।
कोषस्यान्नमयस्यैव निरीक्ष्य परिवर्त्तनम्॥
अज्ञास्तं जीववर्गस्य मृत्युमाहुर्विनाशकम्।
मिलिताः पञ्चप्राणा मे सूक्ष्मशक्तिस्वरूपिणः॥

कोषाः पञ्च॥ १६६॥

पञ्चकर्मेन्द्रियैः सार्द्धं कोषः प्राणमयो भवेत्।
असावेव सुपर्वाणः कोषः प्राणमयो महान्॥
युष्माकं खलु लोकस्य सम्बन्धं मृत्युलोकतः।
अवस्थापयते नूनं द्वयोर्हि स्थूलसूक्ष्मयोः॥
मिलित्वा मनसा सार्द्धं पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यहो।
नाम्ना मनोमयं कोषं जनयन्तेतरां सुराः॥
स्याद्विज्ञानमयः कोषो बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः समम्।
देवाः! मनोमयः कोषः कोषः प्राणमयस्तथा॥
विज्ञानमयकोषोऽपि सम्भूयैतत्त्रयं सह।
शरीरं प्राणिनां सूक्ष्मं समुत्पादयतेतराम्॥
शरीरं सूक्ष्ममेवाहो दशामेत्यातिवाहिकीम्।
अधिलोकान्तरं सर्वं शक्नुयाद् भ्रमितुं सुराः॥
कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितः।
प्रियमोदप्रमोदैर्हि भावैरेभिः समन्वितः॥
आत्मस्वरूपावरको देवाः! मलिनसत्त्वकः।
नाम्नाऽऽनन्दमयः कोषः कथ्यते वेदपारगैः॥

इन्हीं आवरणोंको वेदोंने कहीं कहीं पञ्चकोष करके भी, हे देवगण! वर्णन किया है। पञ्चस्थूलभूतोंसे अन्नमयकोष उत्पन्न होता है। अन्नमयकोषसे ही स्थूलशरीर बनता है। हे देवगण! मृत्युकालमें केवल अन्नमयकोषका ही पतन होता है और अन्नमयकोषके ही परिवर्तनको देखकर उसको अज्ञानी लोग जीवनाशकारी मृत्यु कहते हैं। मेरी सूक्ष्मशक्तिरूपी पञ्चप्राण और

पञ्चकर्मेन्द्रियाँ मिलकर प्राणमयकोष बनता है। यही महान् प्राणमयकोष हे देवतागण! तुम्हारे सूक्ष्मलोक और स्थूल-मृत्युलोकका सम्बन्ध स्थापन करता है। हे देवगण! मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमयकोष बनाती हैं। पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि मिलकर विज्ञानमयकोष बनता है। हे देवगण! प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोष, ये तीनो मिलकर प्राणियोका सूक्ष्मशरीर बनता है। हे देवगण! सूक्ष्म-शरीरही आतिवाहिक अवस्थाको धारण करके सब लोकान्तरोमे घूमनेका अधिकार प्राप्त करता है। हे देवगण! कारणशरीरभूत अविद्यामे स्थित, मलिनसत्व, आत्मस्वरूपका अज्ञानरूप और प्रियमोद और प्रमोद इन भावोसे युक्त आनन्दमयकोष वेदपारगोंके द्वारा कहा जाता है ॥ १६६ ॥

चतुर्विधभूतसंघके परस्परमे सम्बन्ध दिखानेके अर्थ कहा जा रहा है :—

उद्भिज्जमें अन्नमयका विकास है ॥ १६७ ॥

उद्भिज्जश्रेणीके जीवोमे यद्यपि पाँचों कोष विद्यमान रहते हैं, क्योकि पाँचकोषोके बिना जीवका जीवत्व सिद्ध नहीं होता, परन्तु उनमे केवल अन्नमयकोषका सम्यक् विकास होता है अन्य सब कोष गौण रहते है ॥ १६७ ॥

उद्भिद्यन्नमयविकाश. ॥ १६७ ॥

इसको इसप्रकार सिद्ध करते हैं :—

उस पिण्डके खण्डसे नवपिण्डकी उत्पत्ति होती है ॥ १६८ ॥

इसीसे उद्भिज्जपिण्डकी डार काटकर दूसरी जगह लगा देनेसे नये पिण्ड-(वृक्ष) के रूपमें वह परिणत हो जाता है ॥ १६८ ॥

इसी तरह :—

स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय हैं ॥ १६९ ॥

स्वेदजश्रेणीके जीवोंमें प्रधानरूपसे अन्नमय और प्राणमय इन दोनों कोषोंका विकास होता है, अन्य कोष गौणरूपसे रहते हैं ॥ १६९ ॥

इसकी शक्तिको कहते हैं :—

उद्भिज्जको उत्पन्न कर सकता है ॥ १७० ॥

स्वेदजजीवोंमे अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषोंका विकास होनेसे कहीं कहीं ऐसा देखनेमें आता है स्वेदजोंके अङ्गमे उद्भिज्जत्वका भी लक्षण विद्यमान रहता है। कोई कोई स्वेदज ऐसा देखनेमें आता है कि उसका आधा अङ्ग उद्भिज्ज है और आधा स्वेदज। वस्तुतः ऐसे स्वेदजमे दो जीव विद्यमान

तत्पिण्डखण्डान्नवपिण्डोत्पत्तिः ॥ १६८ ॥

अन्नप्राणमययोः स्वेदजे ॥ १६९ ॥

उद्भिज्जननार्हत्वमप्यस्यातः ॥ १७० ॥

रहते हैं। उद्भिज्जमें भी उद्भिज्ज देखनेमें आता है, जैसे,— परगाछा। वहाँ भी यही समझना चाहिये कि परगाछा एक स्वतन्त्र उद्भिज्ज जीव है। उसका बीज पक्षि-भ्रमरादि द्वारा लाया जाकर दुर्बल वृक्षके कोटरादिमें पहुँचकर अङ्कुरोत्पत्तिके द्वारा वर्धित होता है। वस्तुतः परगाछा उस वृक्षसे उत्पन्न नहीं होता। स्वेदजमें जो दो जीवोंके लक्षण देख पड़ते हैं, वे दोनों जीव स्वतन्त्र होते हैं। यह विषय योगदृष्टिसे जाना जा सकता है। कहीं कहीं यन्त्रकी सहायतासे भी देखा जा सकता है ॥ १७० ॥

अण्डजमें किन कोषोंका विकास होता है, यह बताते हैं :—

अण्डजमें अन्नमय प्राणमय मनोमयका विकास होता है ॥ १७१ ॥

अण्डजश्रेणीके जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीन कोषोंका विशेषरूपसे विकास होता है, शेष दो कोष गौण रहते हैं ॥ १७१ ॥

इसकी विशेषता बताते हैं :—

अण्डजमें स्वेदज उद्भिज्जकी भी उत्पत्ति होती है ॥ १७२ ॥

अण्डजेऽन्नप्राणमनोमयानाम् ॥ १७१ ॥

तस्मात्ततः स्वेदजोद्भिज्जीवा अपि ॥ १७२ ॥

अण्डजश्रेणीके जीवोंके शरीरोंमें कहीं कहीं उद्भिज्ज और स्वेदज दोनों श्रेणीके जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है। जब उत्तरोत्तर उन्नति करानेवाले तीन कोष जिस देहमें पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ नीचेके दो कोषोंके विकासवाले जीवभी उत्पन्न हो सकते हैं, यह युक्तिसंगत भी है। अब शंका यह उठती है कि, स्वेदज जीव प्रायः दर्शनेन्द्रिय गोचर नहीं होते; परन्तु उद्भिज्ज जीव तो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। वे एक छोटेसे अण्डजजीवमें कैसे उत्पन्न होते हैं? इसका समाधान यह है कि, उद्भिज्जश्रेणीके भी बहुतसे जीव एकाएक दृष्टिगोचर नहीं होते। जहाँ कोई उत्पन्न होता है, वहाँ पहले कुछ भी नहीं दिखाई देता, परन्तु वह निम्नश्रेणीका उद्भिज्ज प्रकट हो जाता है। थोड़े ही दिनोंके उपरान्त वह प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। इसी निम्नश्रेणीके अनेक उद्भिज्जजीव बहुत सूक्ष्म होते हैं और वे अन्य जीवोंके शरीरमें भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतः अण्डज-शरीरमें उद्भिज्ज और स्वेदज दोनों श्रेणीके जीवोंका उत्पन्न होना युक्तिविरुद्ध नहीं है॥ १७२॥

जरायुजमें किन कोषोंका विकास होता है सो बताते हैं:—

जरायुजमें अन्नमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमयकोषका विकास है॥ १७३॥

जरायुजश्रेणीके जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और

जरायुजेऽन्नप्राणमनोविज्ञानमयानाम्॥ १७३॥

विज्ञानमय कोषका पूर्ण विकास होता है ; परन्तु आनन्दमयकोष गौण रहता है ॥ १७३ ॥

इसमें विशेषता क्या है, सो बताते हैं :—

अतः इसमें अण्डज स्वेदज उद्भिज्जकी उत्पत्ति होती है ॥ १७४ ॥

अन्यतम उन्नतकोषके विकासके कारण जरायुजश्रेणीके जीवशरीरमें स्वेदज, उद्भिज्ज और अण्डज इन तीनों प्रकारके जीवोंका आश्रय होना विज्ञानविरुद्ध नहीं है ॥१७४ ॥

अब मनुष्यशरीरके विषयमें कहा जाता है :—

मनुष्य पूर्ण होनेसे उसमें सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हो सकती है ॥ १७५ ॥

मनुष्यपिण्ड पूर्ण है और सब शरीरोंसे श्रेष्ठ है। इस कारण विशेषतावर्णनके लिये कहा जाता है कि, मनुष्यशरीरमें अन्य सब निम्न जीव आश्रयको प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यशरीरपर दद्रु आदि रोगरूपसे उद्भिज्जजीवों, ऊपर चर्मपर तथा भीतर रक्तादिमें नाना रोगद और रोगयुक्त स्वेदज जीवों, बाहर लोमकूप तथा भीतर विष्ठा आदिमें अण्डजजीवोंकी सृष्टि होती है और जरायुजसृष्टिके पूर्ण और अपूर्ण सब प्रकारकी सृष्टिका तो मनुष्यपिण्ड आकर ही है। दूषित मनसे मानव-पिण्डके आश्रय-

---

अतस्ततोऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जाश्च ॥ १७४ ॥

सर्वप्राणिप्रसवो मानवः पूर्णत्वात् ॥ १७५ ॥

द्वारा मलिनसे मलिन सृष्टि और संयत मनकी सहायतासे उन्नतसे उन्नत सृष्टि मानव-पिण्डमें ही सम्भव है। मानवपिण्ड पञ्चकोषद्वारा पूर्णावयव है, इस कारण ज्ञान और आनन्दकी पूर्णता भी मानवपिण्डमें ही सम्भव है। अपनी असत् धारणाकी पूर्णतासे मनुष्य पशु भी बन सकता और सत्धारणाकी पूर्णतासे देवताभी बन सकता है। यही मनुष्यकी पूर्णताका वैचित्र्य है ॥ १७५ ॥

पञ्चकोषसे पूर्ण मनुष्यकी और भी विशेषता कह रहे हैं:—

वह पिण्डेश्वर है ॥ १७६ ॥

उद्भिज्जादि सहज-पिण्डके जीव कदापि पिण्डेश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि वे असम्पूर्ण रहते हैं। उनमें यथाक्रम एक-एक कोषका अधिक विकास होता रहता है, जैसा कि पहले कहा गया है। वस्तुतः उनमें पाँचों कोष बने तो रहते हैं, क्योंकि सब जीवों में सब कोषोंके तथा सब इन्द्रियोंके लक्षण विद्यमान रहते हैं। परन्तु उनमें जैसे पहले कहा गया है, यथाक्रम कोषोंकी असम्पूर्णता अवश्य रहती है। इस कारण वे असम्पूर्ण पिण्डके अधिकारी होनेसे अपने अपने पिण्डके अधीश्वर नहीं हो सकते। मानव-पिण्ड सब प्रकारसे पूर्ण होनेके कारण मानवपिण्डका जीव अवश्य ही पिण्डेश्वर कहा जा सकता है। विशेषतः मनुष्यसे ही देवता आदि बनते हैं, मनुष्य ही मुक्तिका अधिकारी

पिण्डेश्वरोऽसौ ॥ १७६ ॥

होता है, इस कारण मनुष्यके पिण्डेश्वर होनेमें सन्देह ही क्या है ॥१७६॥

और भी महिमा कही जाती है :—

इस कारण इसमें ऐशी शक्तियोंका विकास होता है ॥ १७७ ॥

मानवपिण्डकी पहले विशेषता कहकर उसके अनन्तर आधिभौतिक विशेषतारूप पिण्डेश्वरत्ववर्णन करके अब आधिदैविक विशेषताका वर्णन किया जाता है। मनुष्य-शरीरमें तप और योगबल द्वारा नाना दैवी तथा ऐशी शक्तियोंका विकास हो सकता है। परकायाप्रवेश, दूरश्रवण, दूरदर्शन आदि दैवीशक्तियों तथा अणिमा, लघिमा आदि ऐशी विभूतियोंका उसमें विकास होता है। वस्तुतः मनुष्यशरीर अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और सहज इन चारों श्रेणियोंकी सिद्धियोंका विकासस्थल है, इसमें सन्देह नहीं। यह उसका विशेषत्व है। भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—

"जन्मसंस्कारमन्त्रौषधिसमाधिसिद्धयः"

जन्मसिद्धि, संस्कारसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, औषधिसिद्धि और समाधिसिद्धि इसप्रकार अनेक सिद्धियाँ हैं ॥ १७७ ॥

और भी कहा जा रहा है :—

अत ऐशीविकाशार्हत्वमस्य ॥ १७७ ॥

इसकारण मनुष्यशरीरमें निःश्रेयसाधिगम होता है ॥ १७८ ॥

अब आध्यात्मिक विशेषता कही जारही है कि, मानवपिण्डमें ही निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। मृत्युलोक कर्मभूमि है। मृत्युलोक चतुर्दशभुवनोंका केन्द्र है। मृत्युलोकमें ही मनुष्यत्वप्राप्ति अनन्तर जीव देवता बनकर ऐशकर्मकी सहायतासे क्रमशः त्रिमूर्त्तिपद प्राप्त करके ब्रह्मीभूत हो जाता है, अथवा जैवकर्मकी सहायतासे शुक्लगतिद्वारा सूर्य्यमण्डल-भेदन करता हुआ मुक्त हो जाता है। सहजगति द्वारा तो मनुष्यशरीरमें ही जीव मुक्त हो सकता है, यह मानवपिण्डकी विशेष महिमा है ॥ १७८ ॥

अन्य प्रकारका महत्त्व कहा जाता है :—

मनुष्यमें लौकिक और अलौकिक द्विविध शक्ति है ॥ १७९ ॥

मानवपिण्डकी यह एक और विलक्षणता है कि, इसमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारकी शक्तियोंका विकास होता है। देवताओंका अधिकार मनुष्यसे बढ़कर होनेपर भी देवतागण यदि इस लोकके लौकिक कर्म करना चाहें, तो उनको यहाँके लौकिक केन्द्रके अवलम्बनसे करना पड़ेगा। उदाहरण-रूपसे समझ सकते हैं कि, वे यदि किसीको मारना चाहें, तो मेघस्थित वज्र द्वारा अथवा सर्पादिमें प्रेरणा करके उसके द्वारा

निःश्रेयसाधिगमश्च ॥ १७८ ॥

लौकिक्यलौकिकी च शक्तिः ॥ १७९ ॥

मारना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि किसीका कल्याण करना चाहें, तो दूसरेके अथवा उसीके अन्तःकरणमें प्रेरणा करके करना होगा। देवतागण प्रकारान्तरसे मनुष्यके दर्शनेन्द्रियगोचर स्थूलशरीरके धारण कर लेनेपर भी वे स्थूलशरीरका सब यथावत् लौकिक कार्य्य नहीं कर सकते। परन्तु दूसरी ओर मनुष्यमें दोनों तरहकी योग्यता है। मनुष्य योगशक्तिद्वारा मारण, वशीकरण उच्चाटनादि कार्य्य भी कर सकता है और लौकिक रूपसे भी इन कार्योंको कर सकता है। संयमद्वारा दैवकार्य्य भी कर सकता है और लौकिक पुरुषार्थद्वारा लौकिक कार्य्य भी कर सकता है ॥ १७६ ॥

और भी कहा जाता है :—

लौकिक अलौकिक प्रत्यक्ष भी है ॥ १८० ॥

एक यह और महत्त्व कहा जाता है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें लौकिक प्रत्यत्तके उपयोगी दर्शनेन्द्रिय हैं। दूसरी ओर मनुष्यसे ऊपरकी जो देवता आदि योनियाँ हैं, उनमें अलौकिक दिव्य प्रत्यत्तके साधन हैं। परन्तु मनुष्यपिण्ड सब पिण्डोंका मध्यवर्त्ती होनेके कारण और मनुष्यका अधिकार स्वाधीनताके विचारसे सबसे बढ़कर होनेके कारण मनुष्यमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारके प्रत्यत्त करनेकी शक्ति विद्यमान है। मनुष्य साधारणतः अपने नेत्रगोलककी सहायतासे

लौकिकमलौकिकञ्च प्रत्यक्षम् ॥ १८० ॥

अथवा अणुवीक्षण दूरवीक्षण आदि यन्त्रोंकी सहायतासे बहुत कुछ स्थूलपदार्थोंको प्रत्यक्ष करता है। दूसरी ओर अपनी योगशक्ति द्वारा अपने तृतीय ज्ञाननेत्रको खोलकर अलौकिक प्रत्यक्षको यहाँतक बढ़ा सकता है कि, सर्वातीत भगवान्‌का भी दर्शन कर सकता है। अलौकिक प्रत्यक्ष करनेकी युक्ति योगदर्शनमें और अलौकिक प्रत्यक्ष करनेका रहस्य और प्रमाण सांख्यदर्शनमें भलीप्रकारसे पूर्वाचार्योंने सिद्ध किया है॥ १८० ॥

प्रसङ्गसे योनियोंमें आश्रयस्थल-निर्णय किया जाता है :—

उद्भिज्जयोनि तथा मनुष्ययोनि जीवका आश्रयस्थल है॥ १८१ ॥

सबप्रकारकी योनियोंमें यदि आश्रयका सम्बन्ध विचार किया जाय, तो यही कहा जायगा कि, उद्भिज्जयोनि और मनुष्ययोनि सब प्रकारकी योनियोंका आश्रयस्थल है। उद्भिज्ज-योनिके आश्रयसे मृत्युलोककी अन्य सब योनियाँ जीवन धारण करती हैं। मृग उद्भिज्जके ही आत्मसमर्पणसे जीवित रहता है और उसी मृगके नाशसे व्याघ्र जीवित रहता है। मनुष्य-पर्य्यन्त यावत् प्राणी मृत्युलोकमें स्थायी रहते हैं। मृत्युलोक उद्भिज्जकी सहायतासे स्थायी है। दूसरी ओर मनुष्यकी सहायतासे चतुर्दशभुवन सुरक्षित हैं। मनुष्ययोनि न हो तो

उद्भिन्मर्त्यौ जीवाश्रयौ॥ १८१ ॥

मृत्युलोककी सुव्यवस्था न हो। मनुष्ययोनि न हो तो प्रेतलोक, नरकलोक आदिकी आवश्यकता न हो और मनुष्यलोक न हो तो उच्चदेवलोकोंका न सम्वर्द्धन हो; क्योंकि यज्ञद्वारा ही वे सम्बर्द्धित होते हैं और न उनकी अस्तित्व-रक्षा ही हो। क्योंकि मनुष्यसे ही वे देवता बनते हैं ॥ १८१ ॥

इसका कारण कहा जाता है :—

अवधिके द्विविध होनेसे ॥ १८२ ॥

जीवभूत-प्रवाहकी दो परिधियाँ हैं। एक उद्भिज्ज और दूसरी मनुष्य। उद्भिज्जसे यह प्रवाह प्रारम्भ होता है और जीवन्मुक्तमें यह विलीन होता है। मुक्तावस्थाकी जितनी अवस्थाएँ हैं, वे मनुष्ययोनि-सापेक्ष हैं। दूसरी ओर जीवावस्थाका आरम्भ, जो चिज्जड़ग्रन्थिकी प्रथम सम्भावना है, उद्भिज्जयोनिसे सम्बन्ध रखता है। अतः ये दोनों योनियाँ जीवप्रवाहकी दो परिधियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं॥ १८२ ॥

शंका-समाधान किया जाता है :—

जीवत्वका विकास उद्भिज्जमें होता है ॥ १८३ ॥

यदि जिज्ञासुको यह शंका हो कि, जीवत्वकी प्रारम्भिक परिधि क्या उद्भिज्जके सिवाय और कुछ नहीं हो सकती? घटने-बढ़नेवाले और भी अनेक पदार्थ हैं, उनको क्यों नहीं परिधि मानी जाय? इत्यादि शंकाओंमें पूज्यपादमहर्षि-सूत्रकारने

अवधिद्वैविध्यात् ॥ १८२ ॥ जीवत्वजनिरुद्भिदः ॥ १८३ ॥

इस सूत्रका आविर्भाव किया है और यह निश्चय दिलाया है कि, उद्भिज्जसे ही जीवत्वका प्रारम्भ होता है। इसका कारण यह है कि, पञ्चकोष तथा ज्ञानेन्द्रियोंके विकासका लक्षण उद्भिज्जपिण्डमें ही प्रकाशित होता है। स्मृतिशास्त्रमें ही कहा है :—

"उष्णतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चाऽपि स्पर्शस्तेनाऽत्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियात्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥"

गर्मीके दिनोंमें गर्मी लगनेसे वृक्षोंके वर्ण, त्वचा, फल, पुष्प आदि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है। प्रबल वायु, अग्नि तथा वज्रके शब्दसे वृक्षोंसे फल पुष्प शीर्ण हो जाते हैं, कानके द्वारा शब्द

सुननेसे ही ऐसा होता है, अतः उद्भिज्जोंमें श्रवणेन्द्रिय भी विद्यमान है। लता वृक्षोंको वेष्टन करती हुई सर्वत्र जाती है, आँखोंसे देखे बिना मार्गका निर्णय नहीं हो सकता, अतः उद्भिज्जोंमें दर्शनेन्द्रिय भी विद्यमान है। अच्छी बुरी गन्ध तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग और पुष्पित होने लगते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें घ्राणेन्द्रिय भी विद्यमान है। पाँवके द्वारा जलपान करना, रोग होना, तथा रोगका नाश होना भी उनमें देखा जाता है, अतः उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियभी विद्यमान है। डण्ठीके मुखद्वारा जिसप्रकारसे कमल ऊपरकी ओर जल ग्रहण करता है, उसीप्रकार वायुसे संयुक्त होकर पाँवके द्वारा वृक्ष जलपान करता है, यही सब उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियका अस्तित्व सिद्ध करता है। उद्भिज्जोंमें जो सुखदुःखके अनुभव करनेकी शक्ति देखनेमें आती है, टूट जानेपर पुनः नवीन शाखा पत्रादिकी उत्पत्ति देखी जाती है, इससे उद्भिज्जोंमें जीवत्व है, अचैतन्य नहीं है, यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ॥ १८३ ॥

विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं :—

प्रस्तरादि धातुओंके परिणामी होनेपर भी उनमें जीवत्व नहीं है ॥ १८४ ॥

यदि यह शंका हो कि, प्रस्तरादि पदार्थोंको जब बढ़ते हुए देखा जाता है, तो क्यों नहीं उनमें जीवत्व होना मान सकते हैं?

परिणामत्स्वपि न प्रस्तरादिषु ॥ १८४ ॥

इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान यह है—कहीं बालूसे पत्थर बनता है, कहीं मिट्टीसे पत्थर बनता है, कहीं आग्नेयपर्वतके प्रस्रवणसे गले हुए पदार्थ जो निकलते हैं, उनसे पत्थर बनता है और ये सब पत्थर क्रमशः बढ़ते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। सोना, चाँदी आदि धातु, हीरा, माणिक आदि रत्न और हरिताल आदि उपधातु सब बढ़ते हुए दिखायी पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकारका पदार्थोंका बनना और उनका बढ़ना जीवपिण्डके बढ़नेके सदृश नहीं होत । है। इनमें परिणाम होकर ऐसा बढ़ना होता है। तड़ित्‌शक्ति अथवा ऐसे ही प्रकृतिके स्थूलशक्तिविशेषकी तरंगोंके प्रभावसे इन पदार्थोंके निकटके परमाणु पंचतत्त्वोंकी सहायतासे उन पदार्थोंमें परमाणु बढ़ा देते हैं ; इससे वे पदार्थ क्रमशः बढ़ते रहते हैं। मानवपिण्ड तथा सहजपिण्डादिमें जैसे प्राणमयकोषकी सहायतासे और अन्नकी सहायतासे अन्नमयकोष बढ़ता है, वैसा इन पदार्थोंमें नहीं होता है। विशेषतः जैसा ज्ञानेन्द्रियोंका लक्षण उद्भिज्जमें पाया जाता है, जैसा कि पहले कहा गया है, वैसा लक्षण प्रस्तरादि पदार्थोंमें कदापि नहीं पाया जाता । इस कारण प्रस्तरादिमें जीवत्वकी शंका युक्ति और विज्ञानविरुद्ध है। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि, उन पदार्थोंके समष्टिरूपसे अधिदैव अवश्य हैं। जिस प्रकार नदीके, समुद्रके अधिदैव देवताविशेष होते हैं; वैसे ही पर्वतविशेष, प्रस्तरविशेष, रत्नविशेष तथा धातुविशेषके अधिदैव देवता अलग अलग होते हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उनके सामञ्जस्यकी रक्षा करते हैं॥ १८४ ॥

और भी कहा जाता है:—

अधिदैवके सम्बन्धसे उनका शक्तिमत्त्व है ॥ १८५ ॥

अब यदि प्रश्न हो कि, उनमें जीवत्व नहीं है, तो असाधारण शक्तियोंका विकास कैसे होता है ? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि जीवोंमें तो असाधारणशक्तियोंका विकास है, जैसा कि, पहले बहुत कुछ कहा गया है, परन्तु धातुसमूह, रत्नसमूह तथा नाना जड़भूतसमूहमें जो असाधारणशक्तियोंका विकास होता है, वह उन पदार्थोंके रक्षक अधिदैवोंकी सहायतासे हुआ करता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जल, अग्नि, पर्वत आदिके जो स्वाभाविक गुण हैं, वे तो स्वभावसे उत्पन्न हैं, परन्तु उनके द्वारा जो समय समयपर असाधारण शक्तियोंका विकास होता है, जैसे कि, वायुके द्वारा आँधी आदिकी उत्पत्ति, जलके द्वारा घोर जलप्लावनादि कार्य्य, वे सब उन पदार्थोंसे सम्बन्धयुक्त अधिदैवोंकी इच्छाशक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं ॥१८५॥

प्रसंगसे कहा जाता है:—

चराचरमें सप्तधातु स्थितिके कारण हैं ॥ १८६ ॥

सहजकर्मसे सम्बन्धयुक्त सप्तधातु, जो प्रकृतिके सहज सप्तविभागसम्भूत हैं, वे स्थूलसर्गकी स्थितिके कारण होते हैं। स्थावरमें सप्तधातु, यथा—सुवर्ण, लौह आदि और जंगममें

तच्छक्तिमत्त्वमधिदैवसम्पर्कात् ॥ १८५ ॥

चराचरे सप्तधातुस्थितिनिमित्तम् ॥ १८६ ॥

सप्तधातु, यथा—मांस, रक्तादि हैं। स्थावरमें सुवर्णादि सप्तधातु सर्वव्यापक हैं और उन्हींके परस्पर सम्मेलनसे अनेक उपधातु भी बनते हैं। सूक्ष्मदृष्टिसे यह अच्छी तरह देखनेमें आता है कि, पृथिवीके सब विभागोंमें और यहाँतक कि पृथिवीके अन्तर्गत जलमें भी सुवर्णादि सप्तधातुओंका सम्मेलन रहता है और ये ही सप्तधातु स्थावरपदार्थोंकी स्थितिके कारण प्रकारान्तरसे बनते हैं। जबतक प्रस्तरादिमें इन धातुओंका सम्बन्ध बना रहता है, तबतक प्रस्तरादिका अस्तित्व बना रहता है। चाहे पदार्थविद्या-द्वारा उनकी प्रत्यक्षसिद्धि न भी हो, परन्तु सब स्थावरपदार्थोंमें सप्तधातु विद्यमान है, यह विज्ञानसिद्ध है। इन धातुओंके क्षयके साथ ही साथ प्रस्तरादिमें क्षय उत्पन्न होता है और उसके परमाणु बिखरकर नष्ट होजाते हैं। उसीप्रकार मानवपिण्ड आदिमें रक्त, मांस, अस्थि आदि सप्तधातु उस पिण्डकी स्थितिके कारण होते हैं। यह तो आयुर्वेदशास्त्रसे सर्वथा सिद्ध है और यह भी सिद्ध है कि, जब सप्तधातुओंमें क्षय उत्पन्न होता है, तभी मनुष्यका शरीर क्षीण होने लगता है; यहाँतक कि सप्तधातुओंमें से एकका भी क्षय हो, तो शरीर नहीं रहता। जंगमके सप्तधातुओंमें से और सब धातु स्त्री और पुरुषमें एकसे रहते हैं, केवल वीर्य्यके स्त्रियोंमें दो विभाग हो जाते हैं। इसी कारण आयुर्वेदाचार्योंका मत है कि, स्त्रियोंमें आठ धातु हैं। यथा—सृष्टि-उत्पादक रज तथा कान्ति और शक्तिवर्द्धक वीर्य, वस्तुतः सप्तम धातुके ही ये दो भेद स्त्रीशरीरमें होते हैं॥ १८६॥

दूसरा फल कहते हैं :—

उससे उभयत्र परिणाम होता है ॥ १८७ ॥

सप्तधातुओंसे दूसरा फल क्या होता है, सो सहज कर्मके गतिनिदर्शनार्थ कहा जाता है। स्थावरमें और जंगममें उभयत्र परिणाम होना भी सप्तधातुओंका ही कार्य्य है ॥ १८७ ॥

इसका उदाहरण देते हैं :—

प्रस्तरादि स्थावरमें और जरादि जङ्गममें ॥ १८८ ॥

जब बालूसे अथवा मिट्टीसे पत्थर बनता है अथवा जब मिट्टीसे कङ्कर अथवा अन्य खनिज पदार्थ आदि बनते हैं, तो वे सब परिणाम पूर्वकथित सप्तधातुओंके ही हेरफेर से हुआ करते हैं। दूसरी ओर जङ्गमपिण्डमें जो वृद्धत्व, स्थूलत्व, कृशत्व आदि परिणाम होता है, वह भी पूर्वकथित सप्तधातुओंके ही हेरफेर से हुआ करता है ॥ १८८ ॥

उसका प्रधानहेतु कहा जाता है :—

त्रिगुणके कारण ॥ १८९ ॥

स्थावर और जङ्गममें इसप्रकार सप्तधातुओंके द्वारा जो परिणाम होता है, इस विषयमें यदि कोई शंका करे कि, इसका मौलिक कारण क्या है? सप्तधातु जब स्थितिके कारण हैं,

---

तेनोभयत्र परिणतिः ॥ १८७ ॥

स्थावरे प्रस्तरादिकं जङ्गमे जरादिकम् ॥ १८८ ॥

त्रैगुण्यात् ॥ १८९ ॥

तो उनके द्वारा परिणाम स्वतः क्यों होने लगता है ? इस श्रेणीकी शंकाओंमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। वस्तुतः सप्तधातुओंके द्वारा स्थावर और जंगममें जो जो परिणाम होता है, उसका मौलिक कारण प्रकृतिका त्रिगुण है। प्रकृतिके त्रिगुणमेंसे जब एकके बाद दूसरा उदित होता है और ऐसा उदित होना स्वभावसिद्ध है, तो इसी गुणपरिणामके अनुसार धातुओंमें परिणाम होता है और धातुओंमें परिणाम होनेसे स्थावरजङ्गमात्मक परिणाम होता रहता है ॥ १८६ ॥

अब स्थूल कारण कहा जाता है :—

रयि और प्राणसे भी ॥ १६० ॥

त्रिगुणके द्वारा परिणामकी गति संसाधित अवश्य होती है। एक परमाणुसे लेकर एक ब्रह्माण्डपर्य्यन्त सबमें ही जो सृष्टि, स्थिति और लयकी क्रिया होती है, सबमें ही जो परिणामका क्रम देखनेमें आता है, उसका मौलिक कारण त्रिगुण है। परन्तु पदार्थकी स्थूलदशामें परिणामकी दो गतियाँ हो जाती हैं। एक ठीक अवस्थामें रखनेवाली और दूसरी रूपान्तर करके रक्षा करनेवाली। इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये समझना उचित है कि, मनुष्यका शरीर उत्पन्न हुआ, यह रजोगुणका कार्य्य है, वह बना रहा, यह सत्त्वगुणका कार्य्य है और वह क्रमशः नाश हो गया, यह तमोगुणका कार्य्य है। पिण्डसृष्टिकी

रयिप्राणतश्च ॥ १६० ॥

यावत् क्रियाओंपर विचार करनेसे अवश्य ही ये परिणाम पाये जायँगे । परन्तु पिण्डत्वकी अस्तित्वदशामें केवल दो शक्तियोंका प्राधान्य रहेगा, यह मानना ही पड़ेगा । वे ही दो शक्तियाँ रयि और प्राण हैं । यथा—श्रुतिमें कहा है :—

"तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतो मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति । आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः । मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् । अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः । प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्त ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ।"

पूछनेपर उसने कहा,—प्रजाकी इच्छा करके प्रजापतिने तप किया, जिससे द्वन्द्वसृष्टि उत्पन्न हुई एक रयि, दूसरा प्राण । इन दोनोंके सम्मेलनसे समस्त प्रजा उत्पन्न हुई । अतः यह बात सिद्ध हुई कि, रयि अर्थात् जड़वस्तु (Matter) और प्राण अर्थात् सूक्ष्मशक्ति (Force) दोनोंकी ही उत्पत्ति प्राणसे होती है । श्रुतिमें अधिष्ठातृत्वभेदसे रयि और प्राणके साथ चन्द्रमा और सूर्यका सम्बन्ध बताया है । सूर्य शक्तिके अधिष्ठाता होनेसे प्राणरूप हैं और चन्द्र अन्नके पोषक होनेसे रयिरूप हैं । संसारमें मूर्त्त अमूर्त्त समस्त वस्तुएँ ही रयि हैं, अर्थात् जड़पदार्थके अन्तर्गत हैं । प्रजापति महीनाके स्वरूप हैं । उनके कृष्णपक्ष रयि और

शुक्लपक्ष प्राणके स्वरूप हैं। इसलिये ऋषिगण दोनो पक्षोंमें ही यज्ञ करते हैं। प्रजापति दिवा और रात्रिके स्वरूप है। उनमें दिवा प्राणका स्वरूप और रात्रि रयिका स्वरूप है। इसलिये जो दिनमे स्त्रीसंसर्ग करता है, वह विनष्ट होता है और रात्रिमें ऋतुकालीन स्त्रीसंसर्ग करनेसे ब्रह्मचर्य-पालन होता है।

कार्य्यब्रह्मके प्रत्येक अङ्गमें जो तीन गुणोंकी स्वतन्त्र साधारणक्रियाएँ होती है, वे ऐसी ही होती है, जैसा कि, पहले कहा गया है। यथा—एक ब्रह्माण्डकी अथवा पिण्डकी उत्पत्ति होना, उसकी पूर्णावस्थामें स्थिति रहना और पुनः उसका नाश हो जाना, ये तीनों क्रियाएँ तीनों गुणोके अनुसार साधारणरूपसे होगी। परन्तु एक पिण्ड अथवा ब्रह्माण्डकी आरम्भ-अवस्था और नाश-अवस्था सृष्टिवैभवप्रकाशके लिये अनुपयोगी है। उसके लिये केवल उस पिण्ड अथवा ब्रह्माण्डकी मध्यावस्था, जो पूर्ण अवस्था है, वही उपयोगी है। इसी पूर्णावस्थामे उसके अस्तित्व संरक्षणके लिये प्रतिक्षणव्यापी जो स्थितिमूलक परिणामका कार्य्य है, उसमे रयि और प्राण ये ही दोनों उपयोगी हैं। प्रकारान्तरसे रयि स्वभावसे परिणामी भूतोंमे यथायोग्य परिणाम उत्पन्न करके उसकी रक्षा करता है और प्राण उसमें जीवनिकाशक्तिको उत्पन्न करके उसकी रक्षा करता है। इन्हीं दोनो क्रियाओंका अवलम्बन करके भक्तिमार्गके आचार्य्यगण कहते हैं कि, सृष्टि उत्पन्न होनेपर भगवान् ब्रह्माका कार्य्य समाप्त हो जाता है, परन्तु भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णुका कार्य्य चिरस्थायी रहता

है। इसी वैज्ञानिक भित्तिपर पुराणोंने भगवान् ब्रह्माकी पूजाका वर्णन अधिक नहीं किया है। केवल उनकी शक्तिरूपिणी वेद-माताकी पूजा अधिक वर्णन की है। दूसरी ओर "एको देवः केशवो वा शिवो वा।" कहकर शिव और विष्णुकी पूजा प्रचारित की है। अतः रयि और प्राणका रहस्य सृष्टिके अस्तित्वके साथमें मौलिकरूपसे विजड़ित है, इसमें सन्देह नहीं। रयिके समझानेके लिये अन्नका उदाहरण लेना उचित है। मनुष्यका अन्न वे ही पदार्थ हैं, जिनके खानेसे मनुष्य जीवित रह सकता है। वृक्षका अन्न वही है, जिसके आहारसे वृक्ष जीवित रहता है। अन्नका उदरस्थ होना, उसका पचन होना, उससे सब धातुओंका पोषण होना ये सब परिणामजनक होनेपर भी रक्षामूलक हैं। प्राण उस शक्तिको कहते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड और पिण्डका अस्तित्व यथावत् बना रहे। वस्तुतः जीवनिका-शक्ति ही प्राण है। प्राणसे रयि और रयिसे प्राणकी क्रियामें सहायता होती है। यह सहायता परिणामजनक है, परन्तु रक्षामूलक है॥ १९०॥

प्रसङ्गसे द्वन्द्व-विज्ञानकी विवृत्ति करते हैं :—

उद्भिदादि जीवनाशक भी और पोषक भी हैं॥ १९१॥

द्वन्द्व-क्रिया किस प्रकार स्वाभाविक है, सो पहले भलीभाँति प्रकाशित हो चुका है। उसी मौलिक नियमके अनुसार सर्वत्र द्वन्द्वशक्ति विद्यमान होनेसे उद्भिज्जादिमें भी अमृतक्रिया और विषक्रिया दोनों देखनेमें आती हैं। यथा—विषवृक्ष और आम्रादि

उद्भिदादयो नाशकाः पोषकाश्च॥ १९१॥

उद्भिज्जोंमें, रोगघ्न और रोगोत्पादक स्वेदजोंमें, मयूर और सर्प आदि अण्डजोंमें तथा गो और व्याघ्र आदि जरायुजोंमें। इन उदाहरणोंसे चतुर्विधभूतसङ्घोंमें इस प्रकारकी द्विविध शक्तिके रहनेका स्थायी प्रमाण मिलता है। यह सृष्टिका स्वाभाविक नियम है॥ १९१॥

अब प्रकृतविषय कहा जा रहा है:—

द्विविध शक्तिमत्त्वके कारण कर्मभी द्वन्द्वधर्मविशिष्ट है॥ १९२॥

प्रकृतिस्पन्दनसे उत्पन्न शक्तिविशेषको कर्म कहते हैं, यह पहले ही कहा गया है। जब कर्म शक्तिविशेष है, तो वह दोनों ओर प्रवाहित हो सकता है। प्रत्येक शक्तिका यह स्वभाव है कि, वह उत्तरप्रवाहिणी हो सकती है; दक्षिणप्रवाहिणी हो सकती है, ऊर्द्ध्व हो सकती है और अधः भी हो सकती है। जब कर्म सत्त्वगुणको आश्रय करके पुण्यस्रोतको धारण करता है, तब वह ऊर्द्ध्वगामी होता है, जब वह कर्म तमोगुणका आश्रय लेकर पापस्रोतको प्रवाहित करता है, तब अधोगामी बनता है। कर्मका यह द्वन्द्व स्वभावसिद्ध है॥ १९२॥

दोनोंमें सेवनीय कौन है, सो कहा जाता है:—

अभ्युदयका कारण होनेसे पुण्यकर्म सेवनीय है॥१९३॥

अब यह स्वतः ही शंका हो सकती है कि, जब कर्म स्वाभाविक

कर्मापि द्वन्द्वधर्मं द्विविधशक्तिमत्त्वात्॥ १९२॥

सेव्यं सुकृतमभ्युदयनिमित्तत्वात्॥ १९३॥

द्वन्द्वताके कारण धर्म और अधर्मरूपमें दो प्रकारका होता है, तो दोनों ही क्यों न सेवनीय हों ? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें सिद्धान्तको स्पष्ट कर देनेके अर्थ इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि, प्राकृतिक द्वन्द्वताके कारण जीवके यावत् कर्म दो श्रेणीमें विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—उर्द्ध्वगामी धर्म और अधोगामी अधर्म। शक्तिके विचारसे दोनों ही समान हैं। क्योंकि धर्म प्रथम अवस्थामें ऐहलौकिक अभ्युदय, दूसरी अवस्थामें पारलौकिक अभ्युदय और तीसरी अवस्थामें अभ्युदय प्राप्त करता हुआ उन्नतिके परपार या ब्रह्मपदमें ले जाकर पहुँचा देता है। यह धर्मशक्तिकी प्रबलताका संक्षेप दृष्टान्त है। दूसरी ओर यदि देखा जाय, तो अधर्म भी धर्मसे कम शक्तिविशिष्ट नहीं है। अधर्म जीवको प्रेतत्व, नरकत्व, यहाँतक कि, स्थावरत्व भी प्राप्त करा सकता है। अधर्म अधोगामिनी प्रवृत्ति बढ़ाता हुआ जीवको नीचेसे अतिनीचे तक पहुँचा देता है। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, देवताओंतकको यमलार्जुनकी तरह स्थावरत्व प्राप्त करा देता है। इस कारण शक्तिरूपसे दोनोंका अधिकार समान होनेपर भी अधर्म सेवनीय नहीं है, धर्म सेवनीय है। जब अधर्म उन्नतिका विरोधी है और धर्म नियमित रूपसे उन्नति कराता है और नीचे नहीं गिरने देता, तो धर्म ही सेवनीय है ॥ १९३ ॥

मनुष्यमें उसका अधिकारनिर्णय किया जाता है :—

स्वतन्त्रताके कारण मनुष्यमें दोनोंका दायित्व है ॥१९४॥

स्वातन्त्र्यादुभयप्रातिभाव्यं मानवस्य ॥ १९४ ॥

मनुष्यसे नीचेकी श्रेणीके जितने जीव है, वे कैसे प्रकृति सम्बन्धसे पराधीन हैं, सो पहले ही भलीभाँति कहा गया है। सुतरां वे पराधीन होनेके कारण उनमें धर्म और अधर्मका अधिकार नही रह सकता। क्योंकि जो पराधीन है, उसका दायित्व हो ही नहीं सकता। जो जिसको पराधीन रखता है, उसका दायित्व उस व्यक्तिपर चला जाता है, यह स्वतःसिद्ध है। अतः स्वतन्त्रतारहित अन्य जीवोंके लिये धर्माधर्मकी शृंखला हो ही नहीं सकती। फलतः मनुष्य जब पंचकोषोकी पूर्णतासे पूर्णावयव है और अन्तःकरणकी पूर्णता होने तथा संस्कार-संग्रहमे समर्थ होने से स्वाधीन है, तो मनुष्य ही धर्माधर्मकी शृंखला रखनेमें समर्थ है। इस कारण उसकी अधर्म करने से अवनति और धर्म करने से उन्नति हुआ करती है ॥ १९४ ॥

मनुष्यकी सुरक्षा कैसे होती है सो कहा जाता है :—

अनुशासनत्रयसे रक्षा होती है ॥ १९५ ॥

मनुष्ययोनिमे जब जीव पहुँचता है और धर्म तथा अधर्मकी शृंखलाका दायित्व उसको प्राप्त होता है, तब अधर्मसे बचने और धर्मको प्राप्त करनेके लिए उसको त्रिविध अनुशासनकी आवश्यकता होती है। वे ही त्रिविध अनुशासन राजानुशासन, शब्दानुशासन और योगानुशासन कहाते है। मनुष्य त्रिगुणभेदसे त्रिविध होते हैं। तामसिक अधिकारीके लिए राजानुशासन कल्याणकारी

अनुशासनत्रयादवनम् ॥ १९५ ॥

है। राजानुशासन दो भागोंमें विभक्त है। यथा—समाजदण्ड और राजदण्ड। राजसिक अधिकारीके लिये शब्दानुशासन कल्याणकारी है। शब्दानुशासनके भी दो भेद हैं। यथा—शास्त्रोपदेश और गुरूपदेश। सात्त्विक अधिकारी महापुरुषोंके लिये योगानुशासन वेदसम्मत है। उसके भी दो भेद हैं। यथा—अपरोक्षानुभूति और परोक्षानुभूति। विपरीत ज्ञानवाले मनुष्यको जबतक राजदण्ड और समाजदण्डका भय नहीं रहेगा, तबतक वह धर्मपथपर चल नहीं सकता। उसीप्रकार सन्देहात्मक-बुद्धिसम्पन्न राजसिक व्यक्तिको जबतक गुरु और शास्त्रकी सहायता नहीं मिलेगी, तबतक वह धर्माधर्मनिर्णय करके अभ्युदयकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता और सात्त्विकबुद्धिसम्पन्न महापुरुष चाहे वानप्रस्थाश्रमधारी हो, चाहे संन्यासाश्रमधारी ही क्यों न हो, उसको योगानुशासनकी सहायता लेकर सत् असत् और आत्मा-अनात्माका विचार करना होता है। इस कारण अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये किसी न किसी अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। बिना अनुशासनका आश्रय लिये मनुष्य धर्ममार्गको निष्कण्टक नहीं रख सकता॥ १६५॥

इसका कारण बताया जाता है:—

बुद्धिके त्रिविध होने से॥ १६६॥

मनुष्यकी बुद्धि त्रिगुणके अनुसार त्रिविध होती है। सत्याश्रययुक्त निश्चयात्मिका बुद्धिको सात्त्विक, सन्देहात्मिका

बुद्धित्रैविध्यात्॥ १६६॥

बुद्धिको राजसिक और विपरीतज्ञान करानेवाली बुद्धिको तामसिक कहते हैं। इसी त्रिविध बुद्धिके अनुसार अधिकार स्वभावसिद्धरूपसे तीन श्रेणीके होनेसे त्रिविध अनुशासन भी स्वभावसिद्ध हैं। त्रिविध बुद्धिके लक्षणोंके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में इस प्रकारसे वर्णन है :—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च॥
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता॥
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।

हे पार्थ! धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये, अधर्मसे निवृत्ति होनी चाहिये, किस समय क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये किसमें भय है और किसमें अभय, किससे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और किससे मुक्त होता है, ये बातें जिस बुद्धिसे जानी जाती हैं, उसे सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं। हे पार्थ! जिस बुद्धिसे यह ठीक नहीं मालूम होता कि, धर्म क्या है और अधर्म क्या है, क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, उसे राजसी बुद्धि कहते हैं। हे पार्थ! अज्ञानसे ढकी रहनेके कारण जिस बुद्धिसे अधर्म्म धर्म्म जान पड़ता है और हित अहित मालूम होने लगता है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं॥ १६६॥

प्रसंगसे क्रियाका नियामक कौन है, सो कहा जाता है :—

देश और काल स्वाभाविकी क्रियाका नियामक है । १९७॥

अनुशासनके अधीन होकर कर्म करनेसे मनुष्यकी क्रमोन्नति वाधारहित होगी, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। उसी प्रकार देशकालका विचार भी अवश्य करने योग्य है। क्योंकि देश-काल कर्मका नियामक है। कर्म स्वाभाविक है, क्योंकि प्राकृतिक स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। ऐसा होनेपर भी देश-काल उसका नियामक होता है। प्राकृतिक स्पन्दन देश और कालके अनुसार न्यूनाधिकरूपको धारण करता है। क्योंकि प्राकृतिक परिणाम देशकालसे परिच्छिन्न है। यद्यपि मूलप्रकृतिका स्वरूप देश-कालसे सूक्ष्म है, परन्तु प्रकृति जब वैषम्यावस्थाको प्राप्त होकर परिणामिनी होती है, तो वह वैषम्यावस्थाप्राप्त गुणवती प्रकृति देश और कालके द्वारा परिच्छिन्न हो जाती है। जब देश-कालके द्वारा वैषम्यावस्थाप्राप्त प्रकृति परिच्छिन्न है और उसी त्रिगुणमयी प्रकृतिका स्पन्दन कर्म है, तो कर्म भी देश-कालसे परिच्छिन्न है। इस कारण कर्मका नियामक देश-कालका होना स्वतःसिद्ध है। स्थूल उदाहरणसे इस विज्ञानको इस प्रकार समझ सकते हैं कि, सब कर्म सब देशमे और सब कर्म सब कालमें कदापि उपयोगी नहीं हो सकते। यदि मनुष्य दिवानिद्रा करे, तो अल्पायु होगा और यदि रात्रिको निद्रा न करे, तो अल्पायु

नैसर्गिकक्रियानियामकौ देशकालौ ॥ १९७ ॥

होगा। इस कारण रात्रिमें निद्रित होना ही नियम है। इसी प्रकार देशको भी समझना उचित है ॥ १९७ ॥

इससे क्या होता है, सो कहते हैं :—

अत एव कर्म आद्यन्तवान् है ॥१९८॥

जब कर्मका नियामक देश और काल है और कर्म देश-कालके द्वारा सदा परिच्छिन्न रहता है, तो कर्मका सादि और सान्त होना भी सिद्ध होता है। देश और कालकी परिधिके अन्तर्गत जब कर्मका होना सिद्ध हुआ, तो कर्मका आदि भी देश-कालके अन्तर्गत और कर्मका अन्त भी देश-कालके अन्तर्गत होगा। अतः कर्म सादि और सान्त है, यह सिद्ध हुआ ॥ १९८ ॥

प्रसंगतः देश-कालका विज्ञान कहा जाता है :—

देश और काल प्रकृति और ब्रह्मकी प्रतिकृति है ॥१९९॥

जब ब्रह्ममें लीन प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर द्वैतभावको प्रकट करती है, तब पहिले काल और देश प्रकट होता है। वह काल ब्रह्मरूप है और देश प्रकृतिरूप है। कालके अनुभवमें चित्सत्ताका प्राधान्य है। ये ही काल और देश यावत् दृश्यप्रपंचको आच्छादित करके अपने अनादित्व और अनन्तत्वको दिखाकर यथाक्रम ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिके महत्त्वको घोषित करते रहते हैं। इस कारण ब्रह्मकी प्रतिकृति काल और प्रकृतिकी प्रतिकृति देश है, ऐसा मानना विज्ञानविरुद्ध नहीं होगा ॥ १९९ ॥

तस्मादाद्यन्तवत्ता कर्मणः ॥१९८॥ देशकालौ प्रकृतिब्रह्मात्मकौ ॥१९९॥

और भी कह रहे है :—

वे विराटवत् अनादि अनन्त हैं ॥ २०० ॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय कार्यब्रह्मरूपी श्रीभगवान्का जो विराट्रूप है, वह जिस प्रकार आदि-अन्तरहित है, उसी प्रकार देश और काल भी आदि-अन्त-रहित है। यह पहले ही सिद्ध किया गया है कि, पिण्डरूपी अधिभूतसृष्टि और ब्रह्माण्डरूपी अधिदैव सृष्टि ये दोनों सादि और सान्त होनेपर भी अनन्त-ब्रह्माण्डमय सृष्टिप्रवाहरूपी अध्यात्मसृष्टि आदि-अन्तरहित है। यह भी पहले कहा गया है कि, ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति महामायाकी साक्षात् प्रतिकृति यथाक्रम काल और देश है और सृष्टिकी सब वस्तुएँ देश-काल-परिच्छिन्न है। सुतरां अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय भगवान्की विराट् मूर्तिकेलिये आदि-अन्त-रहित देश और कालका होना अवश्यम्भावी है। इस कारण श्रीभगवान्की विराट् मूर्तिके सदृश ये दोनों भी आदि-अन्तरहित है ॥ २०० ॥

कर्मपर उन दोनोंका कैसा प्रभाव पड़ता है सो कहा जाता है :—

देश-कालके अनुसार क्रियाका तारतम्य होता है ॥२०१॥

कर्म देश-कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे और सृष्टिके यावत् पदार्थपर देश-कालका पूर्ण प्रभाव रहनेसे देश-कालके अनुसार

तयोरनाद्यनन्तत्व विराड्वत् ॥ २०० ॥

तदनुवन्धिक्रिया तारतम्यात् ॥ २०१ ॥

कर्ममें रूपान्तर होना स्वतःसिद्ध है। इस कारण देशकी स्थिति और कालकी स्थितिके अनुसार धर्मके सब अंगों और उपाङ्गों के स्वरूपोंमें तारतम्य होता है। केवल उनके साधनोंमें ही तारतम्य नहीं होता है, उनके फलोंमें भी तारतम्य होता है। यज्ञभूमि और यज्ञरहित-भूमिके आचारोंमें तारतम्य होता है। आर्य्यभूमि और अनार्य्यभूमिके धर्मसाधनोंमें तारतम्य होता है। तीर्थमें कर्म करने तथा अन्यत्र कर्म करनेके फलमें अनेक अन्तर होता है, यह स्मृतिसे अनुमोदित है। मरुभूमि, पार्वत्यभूमि और सुन्दर समतल भूमिके निवासियोंके धर्मसाधनके क्रियासिद्धांशोंमें तारतम्य हुआ करता है। उसी प्रकार कालधर्म भी अपरिहार्य्य है। आश्रमधर्मकी मूलभित्ति कालसम्बन्धसे निर्णीत की गई है। मनुष्यकी आयुके अनुसार ही ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यासधर्म निर्णीत हुए हैं। सुकालमें जो कर्म अतिअनाचार और अधर्मरूपसे वेद और स्मृतियोंमें माने गये हैं, दुर्भिक्ष, महामारी, राज्यविप्लव आदिके समय वे ही निन्दनीय कर्म आपद्धर्मके अनुसार माननीय समझे जाते हैं। इस प्रकारसे देश और कालका सदा प्रभाव धर्मके अंगों और उपांगोंपर पड़नेके कारण क्रियाके स्वरूपमें तारतम्य होना अवश्यसम्भावी है ॥२०१॥

सुतरां—

इसी कारण धर्ममें वैचित्र्य होता है ॥ २०२ ॥

अतो धर्मवैचित्र्यम् ॥ २०२ ॥

धर्मका स्वरूप ही वैचित्र्यपूर्ण है। स्मृतिशास्त्रमें धर्मकी महिमा कहकर धर्मको इसप्रकार नमस्कार किया गया है :—

यं पृथक् धर्मचरणाः पृथक् धर्मफलैषिणः ।
पृथक् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

अर्थात् पृथक् पृथक् धर्मोंके आचरण करनेवाले, पृथक् पृथक् धर्मफलकी अभिलाषासे पृथक् पृथक् धर्मोंद्वारा जिसकी पूजा करते हैं, उस धर्मरूप परमात्माको नमस्कार है ।

यही कारण है कि, वैदिक धर्म और सब धर्मोंसे व्यापक और वैचित्र्यपूर्ण है और अनेक अंग-उपांगोंमें विभक्त है। वैदिकधर्म किसी लौकिक विचारपर प्रतिष्ठित न होनेके कारण और लोकोत्तर अपौरुषेय सिद्धान्तोंपर स्थित होनेके कारण यह स्वाभाविक वैचित्र्यपूर्ण है। जब देश, काल और पात्र इन तीनोंकी पृथकृता स्वभावसिद्ध है, तो उसके अनुसार क्रियाके स्वरूप और क्रियाके फलमें भी पृथकृता होना स्वभावसिद्ध है। पात्रका समावेश अन्य दोनोंमें हो जाता है। प्रथमतः स्थूलशरीरको दर्शनशास्त्रके आचार्य्योंने देशके अन्तर्गत माना है। क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड देशका परिचायक है, वैसा ही पिण्ड भी देशका परिचायक है। द्वितीयतः कालधर्मका साक्षात् सम्बन्ध स्थूलशरीरसे होनेके कारण कालका प्रभाव भी स्थूलशरीरसे ही प्रकट होता है। इस कारण देश, काल और पात्र, इन तीनोंमेंसे देश ही प्रधान माना गया है। पात्रका विचार इन दोनोंके अन्तर्गत ही समझा जानेसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने केवल

देश-कालकेद्वारा ही धर्मका वैचित्र्यपूर्ण होना माना है। धर्म, कर्त्तव्य और आचारादिके निर्णय करनेमें देश और कालका विचार रखना विज्ञानसिद्ध है। यही कारण है कि, साधारणधर्म साधारणरूपसे ब्रह्माण्ड-पिण्डका धारक होनेसे सर्वजीवहितकारी है, परन्तु विशेषधर्म विचित्र हैं और विशेष अधिकारमें हितकारी है। मनुष्य पूर्णावयव जीव होनेसे और कर्मसंग्रहमें स्वाधीन होनेसे उसमें रुचिवैचित्र्य और अधिकारवैचित्र्य रहता ही है। इस कारण 'यं पृथग् धर्मचरणाः' इत्यादि कहकर ऋषियोंने धर्मको नमस्कार किया है। वेदके शाखाभेदमें और पुराणों तथा तन्त्रादिके उपासनाभेदमें आचारवैचित्र्य नियमितरूपसे पाया जाता है और सम्प्रदायभेद होनेसे अनेक मत-भेदोंकी प्रतीति होती है। यही कारण है कि भगवान् वेद-व्यासजीने कहा है :—

'वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्नाः
नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' इत्यादि।

वेद अनन्त हैं, श्रुतिवचन भी अनन्त हैं और मुनियोंके मतोंमें भी भिन्नता है। यही कारण है कि, आर्य्यधर्म और अनार्य्यधर्ममें भेद है और यही कारण है कि, जगत्‌में अनेक धर्ममत-मतान्तर होते आये हैं और होते रहेंगे॥ २०२॥

अब प्रसंगसे ऋषियोंका मतभेद कह रहे हैं :—

इसी कारण ऋषियोंके मतमें भेद-प्रतीति होती है॥२०३॥

अतो महर्षिप्रस्थानेषु भेदप्रतीतिः॥ २०३॥

ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डपर्य्यन्त और ग्रह-उपग्रहसे लेकर अणुपर्य्यन्त सबको पृथक्-पृथक्रूपसे धारण करना ही धर्मका कार्य्य है। दूसरी ओर जैसा स्थूलसृष्टिमें धर्मका पृथक्-पृथक् आधिपत्य है, वैसा सूक्ष्मसृष्टिमें भी है। इसी कारण धर्मके स्वरूपमें मतभेदकी प्रतीति और साधनमें अधिकारभेद होना स्वतःसिद्ध है। इसी अपरिहार्य्य कारणसे धर्मके विषयमें ऋषि और मुनियोंमें मतभेद पाया जाता है ॥ २०३ ॥

अब धर्म-लक्षणके विषयमें पहला मत कह रहे हैं :—

विहितकर्म धर्म है, यह जैमिनिका मत है ॥ २०४ ॥

पूज्यपाद महर्षि जैमिनिने जिन-जिन शास्त्रोंमें धर्मके लक्षणके सम्बन्धमें अपना मत कहा है, उसके अनुसार धर्मलक्षण यही है कि, वेदविहित कर्म ही धर्मशब्दवाच्य है। वेद त्रिकालज्ञ हैं। प्रत्येक कल्पका यावत्ज्ञान सृष्टिके आदिमें उसकल्पमें प्रकाशित होनेवाले वेदमें प्रकाशित हो जाता है और वेदसम्मत अन्यान्य-शास्त्र वेदके ही भाष्यरूप हैं। अतः वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूह जिन-जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा देते हैं, वे उनके मतमें धर्मशब्दवाच्य हैं। अतः महर्षिके मतमें वेद और वेद-सम्मतशास्त्रसे अनुमोदित कर्म ही धर्म है और वेद तथा वेदसम्मतशास्त्रसे निषिद्ध कर्म अधर्म है। वेदोक्त और स्मृतिशास्त्रोक्त यावत् कर्मकाण्डादि सब ही इसी सिद्धान्तका

विहितकर्म धर्मेति जैमिनिः ॥ २०४ ॥

अनुसरण करते हैं। उसी प्रकार उपासनाप्रवर्त्तक जितने तन्त्रशास्त्र है, उनमे साधनशैलीको बतानेवाले जितने आचार है उनमेसे तीन आचारोको तन्त्रशास्त्रोंने प्रधानता दी है। इस मतकी पुष्टिके लिये उदाहरण दिया जाता है कि, तन्त्रोमे प्रचलित दक्षिणाचार नामक आचार इसी सिद्धान्तका पोषक है ॥ २०४ ॥

अब दूसरा मत कह रहे है :—

महर्षि नारदके मतमें विधिसाध्यमान कर्म धर्म है ॥२०५॥

पूज्यपाद देवर्षि नारदके मतके अनुसार विधिसाध्यमान कर्म ही धर्म है और धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें गुरु, आचार्य्य और महज्जन ही अनुकरणीय है। धर्माधर्मनिर्णयके विषयमे नाना आचार्य्योंमे मतभेद प्रतीत होता है, वेद और शास्त्रोंमे भी मत-भेद-प्रतीति होती है। अतः आत्मज्ञ गुरु, शास्त्रज्ञ आचार्य्य और कुलपरम्पराय, सम्प्रदायपरम्पराय महज्जन जो पथ बतावें, वही पथ धर्मका पथ है। अथवा इस प्रकारसे भी विचार सकते हैं कि, जो महापुरुष अविद्या दूर करनेके अर्थ विद्याकी शिक्षा देवें वे आचार्य्य कहाते हैं और जो महापुरुष अभ्युदय तथा निःश्रेयस-प्राप्तिके लिये साधनोंकी दीक्षा देवें, वे गुरु कहाते है। ऐसे आचार्य्य अथवा गुरु अवश्य ही वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञ अथवा आत्मज्ञ होते हैं। वे जिस विधिका उपदेश देते है, साधकके लिये वही धर्म है, ऐसा देवर्षि नारदका मत है।

विधिसाध्यमानमिति नारद ॥ २०५ ॥

भक्ताग्रगण्य देवर्षि नारद अपनी भक्तिदृष्टिसे एकमात्र आचार्य्य अथवा गुरुमें ही ज्ञान-सूर्य्यका उदय देखते हैं; इस कारण धर्माधर्मनिर्णयमें वे आचार्य्य अथवा गुरु-प्रदर्शित विधिको ही धर्म मानते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार अनेक वैदिक और अवैदिक धर्मसम्प्रदाय और उपासनासम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं और होंगे। यही कारण है कि, सम्प्रदायोंकी उपासना और कर्मविधिमें पार्थक्य पाया जाता है। परन्तु उन उन सम्प्रदायोंके लिये वे सब उपादेय हैं॥ २०५॥

अब तीसरा मत कह रहे हैं:—

आत्मोन्मुख कर्म धर्म है, यह गौतमका मत है॥ २०६॥

पूज्यपाद महर्षि गौतमके मतमें सब शारीरिक, वाचनिक तथा बौद्धिक कर्म धर्म है, जो मनुष्यको आत्मोन्मुख करता है। यह तो स्वतःसिद्ध है कि, मनुष्यका अन्तःकरण इन्द्रियोन्मुख होते होते निम्नसे निम्न अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। अतः कर्मसमूह जीवको जितने अधिक इन्द्रियोन्मुख करेंगे, उतने ही उनमें अधर्मके भाव उत्पन्न होंगे। सब सिद्धान्तोंका सारांश यह है कि, जो कर्म जीवको आत्मासे विमुख करे, वही अधर्म है। दूसरी ओर धर्मकी ऊर्द्ध्वगति सदा आत्माकी ओर रहती है और अन्तमें धर्मशक्ति ही जीवको अभ्युदयके आत्मोन्मुख स्रोतमें बहाकर अन्तमें निःश्रेयसरूपी आत्मपदमें पहुँचा देती है। इस कारण महर्षिका

आत्मोन्मुखमिति गौतमः॥ २०६॥

धर्माधर्मनिर्णयके विषयमें यह मत विज्ञानानुमोदित है। ज्ञान और अज्ञानके निर्णायक तथा तत्त्वज्ञानप्रकाशक जितने ज्ञानकाण्डके मत हैं, वे सब इसी मौलिक भित्तिपर स्थित हैं। वैदिक, तान्त्रिक अथवा मिश्र उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डकी जो त्रिविध साधनपद्धतियाँ हैं, वे सभी इसी मौलिक सिद्धान्तको आश्रय करके बनायी गयी हैं, तभी वे सब वैदिक कहाती हैं ॥ २०६ ॥

अब चौथा मत कह रहे हैं :—

महर्षि कणादके मतमें अभ्युदय और निःश्रेयस्कर कर्म धर्म है ॥ २०७ ॥

मानवधर्मकी धारिका शक्तिके प्रभावसे मनुष्य पहले ऐहलौकिक अभ्युदयकी इच्छा करता है और उसे प्राप्त करता है। जब वह कुछ और उन्नत हो जाता है, तो पारलौकिक अभ्युदयकी इच्छा करता है और उसे प्राप्त करता है। अन्तमें जब सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि कर लेता है, तो निःश्रेयसकी इच्छा करता है और निःश्रेयसको प्राप्त करता है। इस कारण जिन कर्मोंके द्वारा ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त हो, जो कर्म अभ्युदयका मार्ग सरल कर दें और अन्तमें निःश्रेयसभूमिमें पहुँचा दें, वे सब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्म धर्म-शब्दवाच्य हैं, यही पूज्यपाद महर्षि कणादका मत है।

अभ्युदयनिःश्रेयसकरमिति कणादः ॥ २०७ ॥

आर्य्यजातिकी वर्णाश्रमशृङ्खलाकी मौलिक भित्ति इसी सिद्धान्तपर स्थित है ॥ २०७ ॥

अब पाँचवाँ मत कह रहे है .—

अक्लिष्टपोषक कर्म धर्म है, ऐसा महर्षि पतञ्जलिका मत है ॥ २०८ ॥

इस संसारमे बन्धन और मोक्ष सबका कारण एकमात्र मन है, क्योकि मन वृत्तिराज्यका आधार है। कर्मका संस्कारभी अन्त.करणमे ही जमा रहता है। मन वृत्तिमय है। पूज्यपाद-महर्षि पतञ्जलिने वृत्तिराज्यको दो भागोमे विभक्त किया है। यथा :—क्लिष्टवृत्ति और अक्लिष्टवृत्ति। कितनी ही मनोवृत्तियाँ क्यों न हो, वे या तो क्लिष्ट होंगी या अक्लिष्ट होगी। क्लिष्टवृत्ति तमोवर्द्धक और अक्लिष्टवृत्ति सत्त्ववर्द्धक होती है। अतः महर्षिके मतमे जो शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक कर्म मनकी क्लिष्टवृत्तियो को बढ़ावे, वे अधर्म कहावेंगे और जो कर्म मनकी अक्लिष्टवृत्तियोकी वृद्धि करें, वे सब धर्मशब्दवाच्य होगे। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग, इन चार योग-सिद्धान्तोको अवलम्बन करके जितने साधनसम्प्रदाय हुए हैं और होंगे, उनकी भित्तिको यही मत पुष्ट करता है। उदाहरणरूपसे कह सकते है कि, तन्त्रोक्त दिव्याचारकी साधनविधियाँ सब इसी भित्तिपर स्थित है ॥ २०८ ॥

अक्लिष्टपोषकमिति पतञ्जलिः ॥ २०८ ॥

अब छठाँ मत कह रहे हैं :—

लीलामोचक धर्म है, यह महर्षि कपिलका मत है ॥२०६॥

लीलामयी ब्रह्मप्रकृति महामायाकी लीला यह दृश्यप्रपञ्चरूपी सृष्टि है। त्रिगुणमयी प्रकृतिके त्रिगुण-जालमें फँसकर जीव आवागमनचक्रमे निरन्तर घूमा करता है। इसीमे लीला-विलास स्थायी रहता है। पूज्यपाद महर्षि कपिलके मतमे यही धर्मका स्वरूप निर्णय किया गया है कि, जिन जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंके द्वारा यह त्रिगुण जनित लीला-बन्धन बढ़े, वे ही अधर्म कहावेंगे और जिन जिन कर्मोंके द्वारा यह जीवनबन्धन-कारी लीलाग्रन्थि अपने आपही खुलती जाय, वे सब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्म धर्मशब्दवाच्य होगे। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिका लीला-वैभव पुरुषके स्वच्छ स्वरूपमें प्रतिफलित होकर उसको फँसाता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा साधक जितना ही प्रकृतिके स्वरूपको जानता जाता है, उतना ही पुरुषका फँसाव घटता जाता है। जिन जिन कर्मोंके द्वारा यह फँसाव घटता जाय, पूज्यपाद महर्षि कपिलके मतमें वे ही सब धर्म है। यावत् वैदिक मतानुयायी कर्मकाण्ड और दार्शनिक सम्प्रदायोंके जितने आचार प्रचलित है और होंगे, उन सबकी मौलिक भित्ति यही विज्ञान है ॥ २०६ ॥

लीलामोचकमिति कपिल. ॥ २०९ ॥

अब सातवाँ मत कह रहे हैं :—

महर्षि भरद्वाजके मतमें सत्त्ववृद्धिकर कर्म धर्म है ॥२१०॥

धर्मलक्षणनिर्णयके विषयमें महर्षि सूत्रकार अपना मत कह रहे हैं कि, जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंके द्वारा तमोगुणका हान हो और सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही धर्मशब्दवाच्य है। इसी सिद्धान्तपर यह मीमांसा-शास्त्र प्रतिष्ठित है। सनातनधर्मके सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी धर्मविज्ञान-की मूलभित्ति यही है ॥ २१० ॥

अब आठवाँ मत कह रहे हैं :—

महर्षि अङ्गिराके मतमें ईश्वरार्पित कर्म धर्म है ॥ २११ ॥

महर्षि अङ्गिराके मतका सारांश यह है कि, चाहे किसी प्रकारका कर्म हो, जब वह ईश्वरार्पणपूर्वक किया जाय, तो वही कर्म धर्मशक्तिको उत्पन्न करेगा। आत्मासे प्रकृतिका जिस प्रकार सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रकृतिका कर्मसे सम्बन्ध है। आत्मासे प्रकृति अलग होकर सृष्टि-लीलाविलासको प्रकट करती है। प्रकृतिकी आत्मासे अलग होकर तरङ्गायित होनेकी जो अवस्था है, वही कर्मोत्पत्तिका कारण है। वही जीवभावको उत्पन्न करता है, यह इस दर्शनशास्त्रमें भलीभाँति प्रमाणित हुआ है। यह अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी ब्रह्मप्रकृतिके सृष्टिविलासका गूढ़ी

सत्त्ववृद्धिकरमिति भरद्वाजः ॥ २१० ॥

ईश्वरार्पितमित्यङ्गिराः ॥ २११ ॥

रहस्य है। लयकी क्रियायें इससे विपरीत होती हैं। कर्म जब प्रकृतिमें प्रवेश करता है और प्रकृति ब्रह्ममें अव्यक्त दशाको प्राप्त हो जाती है, तब कर्मके साथ दृश्यप्रपञ्चमय जगत् परमात्मामें लय हो जाता है। बन्धन और मोक्षका एकमात्र कारण जीवका अन्तःकरण जब बहिर्मुखीन होता है, तो वही अवस्था बन्धन उत्पन्नकारी होती है और जब अन्तःकरणकी गति आत्माकी ओर होती है, वही जीवकी मुक्तिका कारण बनती है। इसी दार्शनिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर महर्षि अङ्गिराने सिद्धान्त निश्चय किया है कि, साधक भगवद्भक्तियुक्त होकर जिन जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक कर्मोंको करते समय धृति और विचारको काममें लाकर सच्चे हृदयसे परमात्मामें अर्पण करता हुआ करेगा, वे सब कर्म धर्मशब्दवाच्य होंगे। शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि, जब आत्मोन्मुख होना ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिका एकमात्र कारण है, जब सबकी परिसमाप्ति और सबका आश्रयस्थल आत्मा है और जब आत्माको लक्ष्यमें लाते ही जीवके सब कलुष उसके शुभाशुभ कर्मोंके साथ स्वतः ही हानिको प्राप्त होते हैं, तो यह स्वतःसिद्ध है कि, आत्माकी ओर स्थिर लक्ष्य रखकर जो कोई कर्म किया जायगा, वह जीवका अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्म बन जायगा, चाहे वह सत् हो या असत्। दूसरी ओर यह सिद्धान्त निश्चित है कि, बिना अन्तःकरणके विक्षेपरहित हुए और बिना भक्तिद्वारा भगवद्भावापन्न हुए साधकके मनकी गति आत्माकी ओर हो ही नहीं सकती

और जब भक्तकी मनोवृत्ति आत्मोन्मुखिनी है, तो उस अन्तः-करणमें धर्म और पुण्यका उदय होना स्वभावसिद्ध है। इस विषयको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, अन्तःकरणका अन्तिम तत्त्व भाव है। इस कारण यदि भाव सत् हो, तो असत् कर्मभी सत् हो जाता है और यदि भाव असत् हो, तो सत्कर्मभी असत् हो जाता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जीवहिंसा असत् कर्म है, परन्तु यज्ञमें पशु-बलि धर्म हो जाता है। इसी प्रसङ्गसे एक एक विशेष मतका दिग्दर्शन कराया जाता है। तन्त्रशास्त्रोंमें कर्मकाण्ड और उपासना-काण्डके प्रवर्त्तक जितने आचार हैं, वे सब दक्षिणाचार, दिव्याचार और वामाचाररूपी तीन श्रेणियोंमें विभक्त किये गये हैं। उनमेंसे वामाचारकी आचारपद्धति इसी विज्ञानकी भित्तिपर स्थित है। अतः भावशुद्धिपूर्वक कर्म करना ही धर्म है। ईश्वरस्मरणपूर्वक ईश्वरमें अर्पित कर्म करनेसे भावकी स्वतः शुद्धि होती है। इस कारण पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराका सिद्धान्त यह है कि, शारीरिक, मानसिक आदि कोई भी कर्म हो, श्रीभगवान्में अर्पण करके भगवत्प्रीत्यर्थ जो कर्म होगा, वह अवश्य ही धर्मशब्दवाच्य होगा॥ २११॥

अब नवाँ मत कह रहे हैं :—

लोकहितकर कर्म धर्म है, यह महर्षि व्यासका मत है॥ २१२॥

लोकहितमिति व्यासः ॥ २१२॥

व्यष्टि और समष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही है। अतः जिस कर्मके द्वारा किसी व्यक्तिका हित होता हो अथवा जिस कर्मके द्वारा जगत्का हित होता हो, व्यष्टि और समष्टि-सम्बन्धसे दोनों एक ही है। उसीप्रकार जगत्के साथ जगत्कर्त्ता भगवान्का भी एकत्वसम्बन्ध विद्यमान है। पिपीलिकासे लेकर हस्तीपर्य्यन्त, एक मनुष्यसे लेकर मनुष्यसमाजपर्य्यन्त, सभी समष्टि और व्यष्टिरूप भगवान्से सम्बन्धयुक्त हैं। पशु-पक्षीसे लेकर साधारण मनुष्यसृष्टि पर्य्यन्त और असभ्य मनुष्यसे लेकर उन्नत ज्ञानी मनुष्यतकमें श्रीभगवान्की चित्कलाका तारतम्य रहनेपर भी भगवान् और भगवान्की सृष्टि एकही सम्बन्धसे युक्त है। इसकारण लोकपूजाद्वारा भगवान्की पूजा होती है। इसी प्रकार वसुधा ही अपना कुटुम्ब है, जगत् ही परमात्मा का स्वरूप है, ऐसी बुद्धि रखकर जो छोटेसे छोटा अथवा बड़ेसे बड़ा शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कर्म किया जाय, वही धर्मशब्दवाच्य होगा। पूज्यपाद महर्षिवेदव्यासकी सम्मति यह है कि, शारीरिक, वाचनिक और बौद्धिक जो कर्म लोकहितकर अर्थात् जगद्धितकर उद्देश्यसे नियोजित हो, उसको धर्म कहते हैं। जगत्सेवा ही भगवत्सेवा है और भगवत्सेवाका कार्य धर्मकार्य्य होगा, इसमें संदेह ही क्या है? भगवान् वेदव्यासकी सम्मति है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

उसके लिये एक व्यापक साधारण लक्ष्य धर्मके विषयमें करानेके लिये ऐसा गत प्रकट करना स्वाभाविक ही है। यद्यपि धर्मके व्यापकलक्षण, विरोपलक्षण और साधारणलक्षणके विषयमे बहुत कुछ विस्तृत-मीमांसा पहले पादमें हो चुकी है, तथापि विभिन्न महर्षियोंके विभिन्न मतसे कौनसा कर्म, धर्म हो सकता है और कौनसा नहीं हो सकता, यह विषय इन सूत्रोंमे विवृत किया गया है॥ २१२॥

अब मतपार्थक्यका कारण कह रहे हैं :

संस्कार और अधिकारभेद ही इसका कारण है॥ २१३॥

पूज्यपाद महर्षियोंके मतोंसे इस प्रकारका भेद देखकर जिज्ञासुओंको शंका हो सकती है। इस कारण कहा जाता है कि, महर्षियोंको मतभेद वास्तवमें नहीं है। अधिकारियोंका संस्कारवैचित्र्य और अधिकारवैचित्र्य ही इसका कारण है। अपने पूर्वजन्मार्जित विभिन्न संस्कार और प्रारब्धजनित अधिकारवैचित्र्यके कारण मनुष्योंकी प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिमें भेद होना स्वाभाविक है। उस भेदके कारण साधन-शैलीके अलग-अलग मार्गोंमें रुचि होना भी स्वाभाविक है। उसीके अनुसार जगत्कल्याणबुद्धिसे कृपालु धर्माचार्य महर्षियोंने अलग अलग मार्गका निदर्शन कराया है। जिसको जिस मार्गमें अग्रसर होनेका सुभीता होगा, वह उसी मार्गसे अग्रसर हो सकेगा। सबका पहुँचना या तो

संस्काराधिकारभेदोऽत्र हेतुः॥ २१३॥

अभ्युदयभूमि या निःश्रेयस भूमिपर ही होता है॥ २१३॥

उसका दूसरा कारण कह रहे हैं:—

सर्वजीवहितकारी होना भी इसका कारण है॥ २१४॥

धर्मका विराट् स्वरूप और उसकी व्यापक सत्ता, ब्रह्माण्ड, पिण्ड, जड़, चेतन सबमें समानरूपसे रहकर सृष्टिकी रक्षा करती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें उसका आधिपत्य विलक्षण है। मनुष्य जब पञ्चकोषोंकी पूर्णताको प्राप्त करके अपने पिण्डका अधीश्वर हो जाता है, तब उसको धर्मशक्तिका अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है।

चेतनजगत्में धर्म नियामिका शक्तिकी पूर्णता दृष्टिगोचर हुआ करती है। व्यष्टिसृष्टिके क्रमके अनुसार जीवभावका विकास उद्भिज्जयोनिसे प्रारम्भ होकर जीव क्रमशः स्वेदज, अण्डज और जरायुजके अन्तर्गत लाखों योनियोंमें घूमता हुआ मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। उद्भिज्जयोनिमें अन्नमयकोष, स्वेदजमें प्राणमय-कोष, अण्डजमें मनोमयकोष, जरायुजकी पशुयोनियोंमें विज्ञान-मयकोष और मनुष्ययोनिमें आनन्दमयकोषका विकास हुआ करता है। अर्थात् उद्भिज्जमें एक, स्वेदजमें दो, अण्डजमें तीन, जरायुज पशुओंमें चार और मनुष्योंमें पाँचों कोषोंका विकास होकर पूर्णता हुआ करती है। परन्तु नीचेकी योनियोंमें अन्य कोष गौण रहते हैं। यह सब धर्मकी ही शक्ति है, जिससे जीव प्रकृतिराज्यमें क्रमोन्नत होता हुआ मनुष्ययोनितक पहुँचता

सर्वजीवहिकारित्वं च धर्मस्य ॥२१४॥

है । इसलिये भगवान् वेदव्यासजीने जीवोंकी क्रमोन्नतिको लक्ष्य करके कहा है :—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

धर्मके द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त करते हैं ।

जड़राज्यके समस्त जीव प्रकृतिके अधीन होनेके कारण इनमें धर्मका विकास प्रकृतिकी सहायतासे प्राकृतिकरूपसे हुआ करता है। केवल चेतनराज्यके जीव मनुष्यमें ही कर्म करनेकी स्वतन्त्रता और विचारशक्ति होनेसे उसमें धर्मका विकास स्वतन्त्रताके साथ पूर्णरूपसे हो सकता है । अतएव मनुष्य ही धर्मसाधनका अधिकारी है । श्रीभगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कहा है :—

मानुषेषु महाराज ! धर्माऽधर्मौ प्रवर्ततः ।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः ।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते !
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥

मनुष्यमें ही धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति ठीक ठीक हुआ करती है। मनुष्योंसे इतर जीवोंमें इस प्रकार नहीं होती। अत्यन्त

दुःखी होनेपर भी मनुष्यको खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि चाण्डाल होनेपर भी मनुष्ययोनि और योनियोंसे उत्कृष्ट है। यही प्रथम योनि है, जिसको प्राप्त करके मनुष्य शुभकर्म करता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है।

उद्भिज्जसे लेकर पशुपर्यन्त जड़राज्यके सकल जीव कोषोंके विकासके अनुसार प्राकृतिकरूपसे धर्मविकासको प्राप्त किया करते हैं। एकमात्र अन्नमय कोषका विकास होनेसे ही उद्भिज्जमें ऐसी शक्ति देखी जाती है कि, शाखामात्रके रोपणसे वह शाखा वृक्षरूपमें परिणत हो जाती है। इस प्रकारकी उद्भिज्जकी शक्ति धर्मके किञ्चित् विकासका ही सूचक है। स्वेदजमें प्राणमयकोषके विकासके साथ साथ जो बहुत प्रकारकी प्राणक्रियाएँ देखनेमें आती हैं; यथा—रोगोंके कीटोंसे शरीरमें व्याधि होना अथवा देशमें महामारी फैलना और खूनके सफेद कीटोंके द्वारा व्याधियोंका नाश होना, वे सब स्वेदजयोनिमें धर्मके विकासका ही परिचायक हैं। अण्डजमें मनोमयकोषके विकासके साथ साथ प्रेम, द्वेष आदि वृत्तियोंका विकास होना भी धर्मशक्तिके विकासका ही फल है। जरायुजमें विज्ञानमयकोषके विकासके साथ ही साथ पशुओंमें धर्मविकाससे बहुत प्रकारकी बुद्धि-वृत्तिके लक्षणका प्रकाशित होना तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है। हाथी, घोड़ा और सिंह आदि उन्नत पशु बुद्धिके कार्योंको अपने अपने अधिकारके अनुसार बहुत अच्छी तरह करते हुए दिखायी देते हैं। यह सब धर्मके विकासका ही प्रत्यक्ष लक्षण है। इस

तरह प्राकृतिकरूपसे धर्मविकासको प्राप्त करता हुआ जीव अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है ।

जड़राज्यके जीव प्रकृतिके पूर्णतया अधीन होनेके कारण प्रकृतिमाता उनको शिशुवत् गोदमें लालन पालन करती हुई मनुष्ययोनितक पहुँचा देती है । इसी कारण प्रकृतिका ही पूर्ण प्रतिभाव्य (जिम्मेवरी) होनेके कारण ये जीव पाप-पुण्यके भागी नहीं होते । परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर अहङ्कारके बढ़ जानेसे मनुष्य स्वतन्त्र होकर कर्म किया करता है और प्रकृतिके अनुशासनका उल्लङ्घन करके यथेच्छ इन्द्रियसेवादिमें प्रवृत्त हो जाता है । जड़राज्यमें रहते समय प्राकृतिक नियमानुसार आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि क्रिया नियमितरूपसे हुआ करती थी, वह मनुष्ययोनिमें प्रकृतिपर आधिपत्य लाभ करनेके कारण अनियमित हो जाती है । इसीका यह फल है कि, जीवकी जो क्रमोन्नतिकी धारा उद्भिज्जयोनिसे मनुष्ययोनिके पूर्वतक बनी हुई थी, वह यहाँ बाधा प्राप्त होनेसे पुनः नीचेकी ओर जाने लगती है । यह धर्मकी ही शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्यकी यह अधोमुखिनी गति रुककर ऊद्र्ध्वमुखिनी हो जाती है । इसी कारण सनातनधर्म पृथिवीके सब धर्ममार्गोंका पितास्वरूप है । वह स्वाभाविक और प्रकृतिसहजात है । धर्म ही मनुष्यको मनुष्यधर्मकी विधि, वर्णधर्मकी विधि, आश्रमधर्मकी विधिआदिसे क्रमशः उन्नत करता हुआ अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त कराता है । अतः प्रकृति-प्रवाहके अनुकूल चलकर क्रमशः उन्नतिको प्राप्त

करते हुए अन्तमें मुक्तिलाभ करना ही धर्म है और प्रकृतिके प्रतिकूल चलकर अवनतिको प्राप्त करना अधर्म है। इस प्रकारसे धर्मकी धारिकाशक्ति सहजपिण्डके जीवोंमें स्वाभाविक संस्कारको लेकर प्रकृतिके स्वभावके अनुसार उद्भिज्जादि योनियोंका अभ्युदय कराती है। उसके अनन्तर मनुष्ययोनिमें वही शक्ति असभ्य किरातसे अनार्य और अनार्यसे आर्यजातिमें पहुँचाकर और असभ्यतासे सभ्यताकी अवस्थामें लाकर क्रमशः अभ्युदयमार्गमें अग्रसर करती रहती है और अन्तमें वह जगन्नियामिका शक्ति मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्रदान करके निःश्रेयस-का मार्ग बताती है। तत्पश्चात् उसे आत्मज्ञानका अधिकारी बनाकर उच्चज्ञानभूमिमें पहुँचा देती है। यही धर्मकी सर्वजीव-हितकारिणी शक्ति और उसकी असीम महिमा है। मानवधर्मके बहत्तर अङ्ग और अनेक उपाङ्गोंमेंसे कुछ कुछ अङ्ग और उपाङ्गोंका अवलम्बन करके अनेक अवैदिक धर्ममत और धर्मपन्थ जगत्में प्रकाशित हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे और वे अपने अपने अधिकार के अनुसार तत्तत् अधिकारी जीवोंका अभ्युदय कराते रहते हैं और कराते रहेंगे। यही धर्मका सर्वजीवहितकारित्व है। ऐसे सर्वजीवहितकारी धर्ममें जबतक अधिकारभेद न रहे, तबतक वह सर्वजीव हितकारी नहीं बन सकता ॥२१४॥

अब प्रसङ्गसे उसका सर्वोपरि महत्त्व कह रहे हैं—

वह सर्वधारक है ॥२१५॥

स हि सर्वधारकः ॥२१५॥

सृष्टिके समस्त पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक जड़ और दूसरा चेतन। अतः इन दोनों पदार्थोंको जिस ईश्वरीय शक्तिने धारण कर रखा है, उसको धर्म कहते हैं। भगवान् वेदव्यासने पातञ्जल-योगके भाष्यमें और भी वर्णन किया है :—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः।

धर्मीकी योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है अर्थात् जड़ या चेतन, किसी भी पदार्थमें जिस शक्तिके न रहनेसे पदार्थकी सत्ता ही नहीं रहती, उस शक्तिका नाम धर्म है। जैसा कि, अग्निका उष्णत्व, जलका द्रवत्व, चुम्बककी लौहाकर्षणशक्ति इत्यादि। इसी विज्ञानको चेतनपदार्थमें भी घटा सकते हैं। यथा :— मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है। अर्थात् जिस शक्तिके विद्यमान रहनेसे मनुष्य मनुष्यपदवाच्य हो सकता है, वही शक्ति उसका धर्म है। इसीप्रकार पशुका धर्म पशुत्व, ब्राह्मणका धर्म ब्राह्मणत्व और शूद्रका धर्म शूद्रत्व इत्यादि। अतः इस विज्ञानसे यह पूर्णतया सिद्ध हुआ कि, धर्मकी अलौकिक शक्तिके द्वारा ही समस्त विश्वब्रह्माण्ड सुरक्षित हो रहा है।

प्रकृतिके विशाल-राज्यमें धर्मकी लीला देखकर हृदयवान् व्यक्ति चकित होते हैं। इस विराट्के गर्भमें कितने ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड सुशोभित हैं, जिनकी संख्या करना असम्भव है। महानारायणोपनिषद्में वर्णित है :—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येता-

दृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति। इत्यादि॥

इस ब्रह्माण्डके चारों ओर और भी अनन्तकोटिब्रह्माण्ड देदीप्यमान हैं। हरएक ब्रह्माण्डमें कितने ही ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, शशी, सूर्य, नक्षत्र अपनी अपनी कक्षामें घूम रहे हैं और ये सब जीवलोक हैं। परन्तु धर्मकी ऐसी धारणा करनेवाली शक्ति है जिसके द्वारा सब ग्रह-उपग्रहोंमें आकर्षण-विकर्षणशक्तिका सामञ्जस्य होनेसे कोई कक्षाच्युत नहीं होते। विशाल ग्रहके अधिक आकर्षणसे छोटा ग्रह उसके गर्भमें प्रविष्ट होकर नष्ट नहीं होता। यहाँ धर्मकी विश्वधारण करनेवाली शक्तिका ही फल है। यह बात पाश्चात्य विज्ञानसे भी सिद्ध है कि, प्रत्येक परमाणुमें आकर्षण और विकर्षण दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। स्थूलजगत्‌की सृष्टिके समय आकर्षणशक्तिका आधिक्य होनेसे परमाणु आपसमें मिलकर स्थूलजगत्‌की उत्पत्ति करते हैं। इसीतरह प्रलयके समय विकर्षणशक्तिका प्राबल्य होनेसे सब परमाणु पृथक् पृथक् होकर स्थूलजगत्‌का लय किया करते हैं। परन्तु स्थितिकी दशामें आकर्षण और विकर्षणका सामञ्जस्य रहा करता है। इस सामञ्जस्यका रखना धर्मकी धारिकाशक्तिका ही कार्य है, जिससे स्थितिकी दशामें इस वैचित्र्यमय संसारकी मधुर लीला देखनेमें आती है।

धर्म-विज्ञानके स्वरूपको और भी अच्छी तरह समझनेके लिये धर्मकी धारिकाशक्तिके अनुसार ब्रह्माण्डमें धर्मशक्ति, पिण्डमें धर्मशक्ति, जड़में धर्मशक्ति, चेतनमें धर्मशक्ति और

मनुष्यमें धर्मशक्ति, इन सबको अलग अलग समझनेकी आवश्यकता है। जिसप्रकार स्थूलपदार्थोंमे आकर्षणशक्तिसे परस्परमे मेल और विकर्षणशक्तिसे उसकी पृथक्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार अन्तर्जगत्में अर्थात् मनोराज्यमें राग और द्वेष ये दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। रागशक्तिद्वारा एक मनुष्यका चित्त दूसरेके तरफ खींच जाता है; इसीसे श्रद्धा, प्रेम, स्नेह आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो परस्परके चित्तको खींचती हैं। यही कारण है कि, रागजनित आकर्षणसे पिता, पुत्र, पति, स्त्री आदि आत्मीय स्वजनके मोहसे जगत् दृढ़ बन्धन-युक्त है। इससे ठीक विरुद्ध शक्तिको द्वेष कहते हैं। इसी कारण शत्रुके लिये अन्तःकरणमें इस द्वेषवृत्तिका उदय होनेसे शत्रुके प्रति अमङ्गलकी इच्छा होकर वह द्वेषकी वृत्तिमें बनी रहती है। हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी सर्वमुखिनी प्रतिभासे यह प्रत्यक्ष करके शास्त्रोंमें दिखाया है कि, जड़राज्यमे जैसी आकर्षण और विकर्षणशक्ति है, ठीक वैसी ही चेतनराज्यमें रागशक्ति और द्वेषशक्ति विद्यमान है। रागशक्ति रजोगुणमयी है और द्वेषशक्ति तमोगुणमयी है। उसी प्रकार आकर्षणशक्ति रजोगुणमयी है और विकर्षणशक्ति तमोगुणमयी। दूसरी ओर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिके समन्वयकी अवस्थामे सत्त्वगुणमयी धारिकाशक्तिका उदय होता है और अन्तर्जगत्में राग तथा द्वेषके समन्वयकी अवस्थामें ज्ञानका विकास होकर जीवका अन्तःकरण सत्त्वगुणमय हो जाता है।

इसी कारण समझना उचित है कि, एक ब्रह्माण्डमें जबतक सूर्य, ग्रह, उपग्रह आदिमें आकर्षण और विकर्षणशक्तिका समन्वय विद्यमान रहता है, तभी तक वह ब्रह्माण्ड अपने स्वरूपमें स्थित रहता है और सब ग्रह, उपग्रह आपसमें टकराकर प्रलयसे नष्ट नहीं हो जाते। ब्रह्मशक्ति महामायाकी ही यह जगन्नियामिका ब्रह्माण्डधारिका धर्मशक्ति है, जो प्रत्येक ब्रह्माण्डको अपने अपने स्वरूपमें और अनन्तकोटिब्रह्माण्डोंको अपने अपने स्थानोंमें धारण की हुई है। यही ब्रह्माण्डमें धर्मशक्तिके उदयका दिग्दर्शन है।

अब दूसरी ओर ब्रह्माण्डमें धर्मशक्तिके अनुरूपही प्रत्येक पिण्डमें भी धर्मकी सर्वव्यापिनी और स्थितिकारिणी शक्तिका अनुभव प्रत्यक्ष ही है। प्रत्येक पिण्डमें उस पिण्डकी ऊर्द्ध्वमुखीन जो चित्सत्ता है, उसकी अभिवृद्धि जिस क्रियाके द्वारा हो, वही पिण्डका धर्म है। जीवपिण्ड तीन प्रकारका होता है। एक सहजपिण्ड, दूसरा दैवपिण्ड और तीसरा मानवपिण्ड। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज, इन चतुर्विध भूतसंघोंकी नाना योनियाँ जिन पिण्डोंको आश्रय करके इस मृत्युलोकमें रहती हैं, वे सब पिण्ड सहजपिण्ड कहाते हैं। इसका कारण यह है कि, ओषधि वृक्ष आदि उद्भिज्जयोनियाँ, जल, रक्त, पृथिवीआदिमें रहनेवाली कीटाणुरूपी स्वेदजयोनियाँ, अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले सर्प, कपोत, मयूर आदिकी नाना योनियाँ और जरायुजसे उत्पन्न होनेवाले मृग, हस्तीआदि जरायुजयोनियाँ,

प्रकृतिके सहजकर्मद्वारा संचालित होनेके कारण इनके पिण्ड सहजपिण्ड कहाते हैं। दूसरी ओर दैवीशक्तिसम्पन्न नाना देवताओं, नाना असुरों, नाना ऋषियों, नाना पितरो और नाना प्रेतोंकी अनेक योनियाँ जिन पिण्डोंको धारण करती हैं, वे सब देवपिण्ड कहाते हैं। इस मृत्युलोकमे मनुष्य जिस पिण्डको धारण करता है, वह मानवपिण्ड कहाता है। ब्रह्माण्डको धारण करनेवाली वही धर्मशक्ति अनन्तरूपसे यावत् पिण्डोमे व्याप्त रहकर पिण्डधर्मकी रक्षा करती रहती है। पिण्डधर्मकी रक्षा दो प्रकारसे होती रहती है। एक बहिरूपसे एक अन्तरूपसे। क्योंकि प्रत्येक पिण्डमे शरीर और शरीरी दोनो-का अस्तित्व विद्यमान है। प्रत्येक पिण्डमे उस विशेषपिण्डके पिण्डधर्मकी रक्षा होना शरीरधर्मसे सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक पिण्डके जीवको प्रथम दशामे अभ्युदय और दूसरी दशामे निःश्रेयसका मार्ग मिलना, यह उस पिण्डमे स्थित जीवात्माकी क्रमाभिव्यक्तिसे सम्बन्ध रखता है। धर्मकी जगद्धारिकाशक्ति एक ओर पिण्डकी यथावत् क्रिया-सम्पादनमे सहायक रहती है और दूसरी ओर अन्तःकरणमें सत्त्वगुणको उत्तरोत्तर विकसित करती हुई उसको अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गपर चलाया करती है।

अब धर्मशक्ति जड़जगत्मे किस प्रकारसे कार्यकारिणी रहती है, सो विचारने योग्य है। चाहे प्रस्तरखण्ड हो, चाहे काष्ठ-खण्ड हो, उसके उदाहरणसे यह औदाहरण समझनेयोग्य है। काष्ठकी

सृष्टि होते समय वृक्षमें उस काष्ठके परमाणु आकर्षण-शक्तिद्वारा खींचकर एकत्रित हुए थे। यही काष्ठके रजोगुणकी अवस्था है। समयान्तरमें जब वह काष्ठ घुन लगकर अथवा सड़कर मिट्टीके रूपमें परिणत होता है, यही उसके तमोगुणकी अवस्था है। इसी प्रकार जब पत्थर पृथिवीव्यापिनी तड़ितशक्तिके प्रभावसे मिट्टीआदि द्वारा पत्थरके रूपमें परिणत होता है; यही उसके रजोगुणकी अवस्था है। पुनः जब अग्नि, वायु, जल आदिके प्रभावसे पत्थरके परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं, यही उसके तमोगुण की अवस्था है। परन्तु इन राजसिक और तामसिक अवस्थाओंके समन्वयकी जो अवस्था है, जिस अवस्थामें काष्ठ अथवा पत्थर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, वही सत्त्वगुणकी अवस्था है। इसी अवस्थामें धर्मकी धारिकाशक्ति जड़पदार्थोंमें विद्यमान रहती है।

चेतनजीवमें वही धर्मशक्ति जीवअन्तःकरणमें क्रमशः सत्त्वगुण और ज्ञानकी अभिवृद्धि करती हुई जीवको उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज और अण्डजसे जरायुजजगत्‌की नाना योनियोंमें अग्रसर कराती हुई मनुष्ययोनिमें पहुँचा देती है। पुनः मनुष्ययोनिमें अनार्यसे आर्य, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मणशरीरमें पहुँचाकर क्रमशः तत्त्वज्ञानी आत्मज्ञानी बनाकर मुक्त कर देती है। यही चेतनराज्यमें धर्मशक्तिका ज्वलन्त दृष्टान्त है। अतः जड़राज्य, चेतनराज्य, स्थावर, जङ्गम, पशु, मनुष्य, मानवपिण्ड, देवपिण्डआदि परमाणुसे लेकर

ब्रह्माण्डपर्यन्त सब स्थलमें सर्वव्यापक सबका आश्रयरूपी धर्मही सबकी रक्षा करता है । यही धर्मका सर्वोपरि महत्त्व है ॥ २१५ ॥

और भी कह रहे हैं :—

वह मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता दूर करनेवाला होनेसे सर्वशुद्धिप्रद है ॥ २१६ ॥

पहले यह सिद्ध हो चुका है कि, अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष इन पाँचों कोषोंमें तमोगुण बढ़ानेवाली पाँच मलिन शक्तियाँ हैं। अन्नमयकोषके मलिन प्रभावको मल कहते हैं, प्राणमयकोषके मलिन प्रभाव को विकार कहते हैं, मनोमयकोषके मलिन प्रभावको विक्षेप कहते हैं, विज्ञानमयकोषके मलिन प्रभावको आवरण कहते हैं और आनन्दमयकोषके मलिन प्रभावको अस्मिता कहते हैं । यह भी पहले सिद्ध हो चुका है कि, किस किस प्रकारसे मलिन-क्रिया किस किस कोषमें पहले प्रारम्भ होती है । आत्मा जब इन पाँचों कोषोंसे यथाक्रम आवृत रहता है, तो इन पाँचोंका मालिन्य बढ़नेसे आत्माका प्रकाश भी ढँकता जाता है और उनका मालिन्य घटनेसे आत्माके ऊपरका भी मालिन्य घटता जाता है । यह भी पहले सिद्ध हो चुका है कि, शुद्धाशुद्धविवेकके अनुसार आचार माननेपर ये पाँचों मालिन्य बढ़ने नहीं पाते,

---

मलविकारविक्षेपावरणास्मितापहन्तृत्वात् सर्वशुद्धिप्रदश्च ॥२१६॥

अपने आप घट जाते हैं। धर्मकी ऐसी प्रबल और सर्वमुखिनी शक्ति है कि, उसके द्वारा मल विक्षेप आदि पाँचों दोष अपने आप कम होते जाते हैं और त्रिविधशुद्धि स्वतः होकर अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त हो जाता है। यह भी पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, विश्वधारक धर्म सत्त्वगुणपोषक, सत्त्वगुणवर्द्धक और सत्त्वगुणमय है। सुतरां स्वच्छकारी स्वच्छसत्त्वगुणमय धर्म सर्वशुद्धिप्रद होगा, इसमे सन्देह ही नहीं है ॥२१६॥

अब प्रकृत विषयको कह रहे हैं :—

क्रियापरिणाम त्रिविध और सप्तविध है ॥२१७॥

जिस प्रकार देश और कालके अनुसार कर्मका वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्राकृतिक त्रिविध विभाग और सप्तविध विभागके अनुसार भी कर्मका वैचित्र्य उत्पन्न होता है। सत्त्व, रज, तमोरूपी त्रिगुण; अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपीभावत्रय; वात, पित्त, कफरूपी दोषत्रयआदि प्राकृतिक त्रिविध विभाग स्वतःसिद्ध हैं। उसी प्रकार सप्तधातु, सप्तदिन, सप्तज्ञानभूमिआदि स्वाभाविक प्राकृतिक सप्तविभाग हैं। इन सब प्राकृतिक विभागोंके अनुसार क्रियापर अवश्य ही वैचित्र्यपूर्ण प्रभाव पड़ता है और उनके अनुसार कर्मका वैचित्र्य प्रकट होता है। कर्मके वैचित्र्यपूर्ण होनेसे धर्ममें भी वैचित्र्य उत्पन्न होता है। यही कारण है कि, देशकालके पार्थक्य, त्रिविध-

---

त्रिविधा सप्तविधा च क्रियापरिणतिः ॥२१७॥

अधिकारपार्थक्य तथा सप्तविध अधिकार-पार्थक्यद्वारा धर्माधिकारोमे वैचित्र्य होना विज्ञानसिद्ध है ॥२१७॥

इस विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं :—

युक्तक्रियाके ये भेद हैं ॥२१८॥

युक्तक्रियाको स्थायी रखनेके लिये देशकाल विचार तथा त्रिविध अधिकार और सप्तविध अधिकार विचार करना अवश्य कर्त्तव्य है। प्रकृतिके स्पन्दनसे उत्पन्न कर्म धर्मरूपको भी धारण कर सकता है और अधर्मरूपको भी धारण कर सकता है। नियमित फलप्रद भी हो सकता है और अनियमित फलप्रद भी हो सकता है। इस विचारसे धर्मप्रवर्त्तक व्यक्तियोके लिये सिद्धान्त निश्चय करके कहा जा रहा है कि, देशकालके अधिकारों तथा त्रिविध और सप्तविध अधिकारोंको लक्ष्यमे रखकर कर्मकी प्रवृत्ति होनेपर वह युक्तकर्म कहावेगा। बाधारहित होकर नियमित फलप्रद कर्मको युक्तकर्म कहते हैं। इन पूर्वकथित विषयोको विचारमे रखकर कर्म करनेसे उसमे विफलता हो ही नहीं सकती ॥२१८॥

अयुक्तक्रियाके सम्बन्धमे कह रहे है :—

अयुक्तक्रियाका परिणाम बहुशाखासे युक्त होता है ॥२१९॥

युक्तक्रियायाः ॥२१८॥

आनन्त्यमयुक्तायाः ॥२१९॥

आध्यात्मिकभावसे युक्त अथवा धर्म और मोक्षलक्ष्यसे युक्त जो क्रिया होती है, वह युक्तक्रिया कहाती है। यद्यपि युक्तक्रियामें अधिकारभेद अवश्य ही होते हैं; परन्तु उसकी शैली एक ही है और उसके विरुद्ध जो अयुक्त क्रिया है, उसकी शैली बहुशाखाओं-से युक्त होती है। क्योंकि अयुक्तक्रियामें धर्म और मोक्षसिद्धान्त-रहित केवल इन्द्रियसेवाजनित अर्थकामादिकी प्रेरणा रहती है। इन्हीं दोनों लक्ष्योंके अनुसार कर्त्ताकी बुद्धि भी दो प्रकारकी होती है, जिसके उपलक्ष्यमें श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

अर्थात् हे कुरुनन्दन ! व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है तथा अव्यवसायियोंकी बुद्धि बहुशाखाओंसे युक्त और अनन्त होती है।

आत्मा एक और अद्वितीय होनेके कारण आत्मोन्मुख-प्रवृत्तिकारी जितनी क्रियायें होंगी, वे सब युक्तक्रिया होनेसे एक ही ऊर्द्ध्वगामी भावसे युक्त होंगी। यद्यपि युक्तक्रियामें मोक्ष ही प्रधान लक्ष्य रहेगा, परन्तु अभ्युदयका सम्बन्ध रहनेके कारण उसमें अधिकार तारतम्य होना सम्भव है। कुछ ही हो, युक्तक्रियाओंकी गति प्रकारान्तरसे एक ही शैली की होगी। किन्तु इस सूत्रमें वर्णित अयुक्तक्रियाकी गति ठीक उससे विपरीत होती है। क्योंकि उसमें अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद एकमात्र आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं रहता है। जिस प्रकार विद्याका

राज्य एक अद्वितीय आत्मानुसन्धान है, परन्तु अविद्याका राज्य अनन्तवैचित्र्यपूर्ण सुखदुःखात्मक भोग है, ठीक उसीप्रकार अयुक्तक्रिया अनन्तवैचित्र्यपूर्ण अवस्थाओंसे युक्त होती है ॥२१९॥

प्रसङ्गसे अब भोगकी शैली कही जा रही है :—

भोगकी निष्पत्ति द्विविध होती है ॥२२०॥

क्रियाओंका मौलिक भेद कहकर अब महर्षि-सूत्रकार भोगका मौलिक भेद कह रहे हैं। जहाँ क्रिया है, वहाँ अवश्य ही प्रतिक्रिया होती है। वस्तुतः जहाँ कर्म है, वहाँ कर्मफल-भोग भी अवश्यम्भावी है। वह कर्मफलभोग मौलिक विज्ञानके अनुसार दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। क्रिया अन्तः-करण और शरीर दोनोंके द्वारा सम्पादित होती है; क्योंकि विना अन्तःकरणकी प्रेरणाके स्थूलशरीर कार्य नहीं कर सकता और न विना अन्तःकरणकी सहायतासे स्थूलशरीर भोगकी निष्पत्ति कर सकता है। दूसरी ओर स्थूलशरीरके भोगकी चरितार्थता अन्तःकरणमें ही होती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, निद्रित या मूर्च्छित व्यक्तिको जब देहाध्यास नहीं रहता है, उस समय उसके शरीरपर चन्दन लेपन करनेसे जिस प्रकार चन्दनकी भोगसमापत्ति नहीं होती, उसी प्रकार केवल मनसे ही यदि कोई जलपान करे, तो तृषित व्यक्तिकी तृषाकी विकलता दूर नहीं हो सकती। इसकारण भोगकी

द्विविधा भोगनिष्पत्तिः ॥२२०॥

निष्पत्तिके लिये जिसप्रकार शरीरकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अन्तःकरणकी आवश्यकता है। सुतरां भोगकी शैली भी दो प्रकारकी है ॥२२०॥

प्रसङ्गमे कहते हैं—

त्रिगुण और त्रिभाव धर्म और कर्म-वैचित्र्यका कारण है ॥२२१॥

प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण एवं पुरुषके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, ये तीन भाव स्वाभाविक हैं। इसी कारण सब पदार्थ और सब वृत्तियाँ त्रिगुण और त्रिभावमें सम्बन्ध रखती हैं। सृष्टिका प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वभावसे ही त्रिगुण और त्रिभावसे पृथक पृथक् स्वरूपको धारण करता है। कोई ऐसा विषय नहीं हो सकता, जिसका सम्बन्ध तीन गुण और तीन भावोंसे न हो सके। सुतरां धर्म जो जड़ और चेतन दोनोंका धारक है और जो जड़ाप्रकृति और चिन्मयी प्रकृति दोनोंमें अनुस्यूत है और जो कर्म सृष्टि, स्थिति और लयका कारण है, वे दोनों त्रिगुण और त्रिभावके सम्बन्धसे अलग कदापि नहीं रह सकते। सुतरां तीनों गुणों और तीनों भावोंके घात-प्रतिघातसे धर्म और कर्मका स्वरूप अनन्तवैचित्र्यमय हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणरूपमे समझ सकते हैं कि, भोजन एक कर्म है। द्रव्यशुद्धिके विचारसे किया हुआ

त्रयो गुणभावा धर्मकर्मवैचित्र्ये निदानम् ॥२२१॥

भोजन सात्त्विक, केवल स्वादके विचारसे किया हुआ भोजन राजसिक और बिना विचारे अनर्गल भोजन तामसिक होगा। यज्ञशेषरूपसे भोजन अध्यात्मशुद्धिप्रद, इष्ट-प्रसन्नता अर्थात् साम्प्रदायिक विचारसे भोजन अधिदैवशुद्धिप्रद और केवल शरीरके नैरोग्य के विचारसे किया हुआ भोजन अधिभूतशुद्धिप्रद होगा। इसी प्रकार दान एक धर्माङ्ग है। केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे किया हुआ दान सात्त्विकदान होगा, मतलबसे किया हुआ दान राजसिक दान होगा और अनर्गल बिना विचारे किया हुआ दान तामसिक दान कहावेगा। इसी प्रकार वह दान जगत्को ब्रह्मरूप समझकर किया जाय, तो अध्यात्मशुद्धिप्रद होगा। अपने देश, अपनी जाति अपने इष्टदेव और अपने पितृ आदिके निमित्त जो दान होगा, वह अधिदैवशुद्धिप्रद होगा और जो दान अपने ही शरीरके लक्ष्यसे होगा, वह अधिभूतशुद्धिप्रद होगा इसी प्रकारसे त्रिगुण और त्रिभावके परस्पर सम्मेलनके घात-प्रतिघातसे धर्म और कर्म नाना वैचित्र्य-रूपको धारण करता है ॥२२१॥

और भी कहते है :—

त्रिभावकी युगपत् क्रिया होनेसे भी ॥२२२॥

जितने प्रकारके कर्म हैं, वे तीन भावोंमे विभक्त किये जा सकते हैं। यथा :—शारीरिक कर्म, जिसमें वाचनिककर्मादि भी सम्मिलित हैं। मानसिक कर्म, जिसमें संकल्पादि सम्मिलित है

त्रिभावस्य युगपत्कार्य्यकारित्वं चापि ॥२२२॥

और बौद्धिककर्म, जिसमें ज्ञान और विचारका सम्बन्ध है। सब कर्म इन्हीं तीनो श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एकसे दूसरी श्रेणी और दूसरीसे तीसरी श्रेणी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। इस कारण एक समयमे ही तीनोकी अलग अलग क्रिया प्रकट हो सकनी है। मनुष्य जब जगत्के लिये दान करता है, तो वह शारीरिक कर्म है। जब जगतके लिये दानका संकल्प करता है, तब वह मानसिक कर्म और जगतकल्याणके लिये दानका उपाय निर्धारण करता है, वह बौद्धिक कर्म है। परन्तु एकसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी श्रेणीका सूक्ष्मतरराज्यसे सम्बन्ध रहनेके कारण तीनोकी क्रिया एक साथ भी हो सकती है। इसका उदाहरण यह है कि, ब्राह्मणभोजन एक अधिभौतिक यज्ञ है। यज्ञकर्त्ता उत्तम पदार्थ देकर श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोको भोजन कराता है। उत्तम पदार्थोंका संग्रह करना और सदाचारसे भोजन कराना यह शारीरिक कर्म है। इसमे शील और सदाचारादि तथा धनव्ययकी आवश्यकता होती है। सबको उत्तम योजनासे ब्राह्मणभोजनरूपी आधिभौतिक यज्ञ सुसम्पन्न होता है। परन्तु उसी समय यज्ञकर्त्तामे साथ ही साथ मानसिककर्म और बौद्धिक-कर्म भी हो सकता है। ब्राह्मणोकी बहिश्चेष्टापर अनुकूल अथवा प्रतिकूल लक्ष्य डालना मानसिक कर्म है। उसी प्रकार कौन कैसा पात्र है, इसका विचार करना बौद्धिककर्म है। ये तीनों ही युगपत् हो सकते है और यज्ञके फलको सुधार सकते हैं अथवा बिगाड़ सकते हैं ॥२२२॥

प्रसङ्गसे फलोत्पत्तिका मूल कह रहे हैं :—

वासना ही फलोत्पत्तिका मूल है ॥२२३॥

चाहे तामसकर्म हो, चाहे राजसकर्म हो, चाहे सात्त्विककर्म हो, चाहे अध्यात्मकर्म हो, अधिदैवकर्म हो या अधिभूतकर्म हो, चाहे शारीरिककर्म हो मानसिककर्म हो अथवा बौद्धिक कर्म हो, सब अवस्थामें ही यदि वासनासंग्रहका अवसर रहे, तो वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म और कर्मसे कर्मफल उत्पन्न होता है। केवल वासनासे फलोत्पत्ति नहीं होती । उसी प्रकार वासनारहित कर्मसे भी फलोत्पत्ति नहीं होती। यही कारण है कि, जीवन्मुक्त पुरुष वासनारहितकर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त रहते हैं। अतः कोई कर्म हो, साथ साथ वासना रहनेसे फलोत्पत्ति होती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, धान्यवृक्षका यदि सब धान्य-संग्रह करके काममें लाया जाय, तो उसका बीज नष्ट हो जानेसे उस धान्यकी जाति नष्ट हो जाती है और बीज रहनेसे पुनः बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फलकी उत्पत्ति होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार वासनाके प्रभावसे सब कर्मोंसे फलोत्पत्ति होना निश्चित है। वासना बराबर बनी रहनेसे कर्मकी उत्पत्ति अवश्य होती रहती है ॥२२३॥

और भी कहते हैं :—

क्रियाकी प्रतिक्रिया होना निश्चित होनेसे भी ॥२२४॥

वासनैव फलोत्पत्तौ मूलम् ॥२२३॥

क्रियाप्रतिक्रियाया नूनं भावित्वं च ॥२२४॥

प्राकृतिक स्पन्दनसे क्रियाकी उत्पत्ति होती है और त्रिगुणके स्वाभाविक तरङ्गसे प्रकृतिमें स्पन्दन होता रहता है। इस कारण प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होना भी स्वाभाविक है। त्रिगुण-जनित क्रिया जब उत्पन्न होती है, तो जैसे तड़ागका जलतरङ्ग तड़ागके तटतक पहुंचकर स्वभावसे पलट ही जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक क्रियाकी समाप्तिमें प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। दूसरी और सब दृश्यपदार्थ देशकालसे परिच्छिन्न हैं, इस कारण तरङ्गका पलटना होता ही रहता है। कर्मरूपी ऊर्मिमालाएँ व्यक्तिगत देश और कालरूपी तटमें पहुँचते ही पुनः लौटती हैं। यही क्रियासे प्रतिक्रियाके अवश्यम्भावी होने का मौलिक सिद्धान्त है ॥२२४॥

प्रसंगसे फलोत्पत्तिका प्रकार कह रहे हैं :—

शरीर, शक्ति, जाति, आयु, भोग, प्रकृति और प्रवृत्ति प्रारब्धजनित होती है ॥२२५॥

कर्मफल उत्पन्न होते समय जब प्रारब्ध बनता है, तो उससे स्थूलशरीर, स्थूल और सूक्ष्मशक्ति, ब्राह्मणादि तथा आर्य-अनार्य आदि जाति, आयुका काल, भोगके विषय, जीवकी प्रकृति और प्रवृत्ति ये सब जीवको प्राप्त होते हैं। संस्काररूपी बीजसे वासनाकी सहायतामे जब प्रारब्धरूपी अङ्कुरोत्पत्ति होती है, तो उस समय प्रारब्धभोगके अनुकूल जीवको स्थूलशरीर, यथायोग्य शक्ति प्रारब्धके अनुकूल जाति, आयु और भोग तथा अङ्कुरित संस्कारके

शरीर- शक्ति-प्रकृति-प्रवृत्ति-जात्यायुर्भोगाः प्रारब्धजन्याः ॥२२५॥

अनुकूल स्थूलशरीरकी प्रकृति और सूक्ष्मशरीरकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है ॥२२५॥

प्रसङ्गसे भोगके भेद कह रहे हैं :—

भोगसमूहके चौबीस भेद हैं ॥२२६॥

जहाँ क्रिया होती है, वहाँ प्रतिक्रिया अवश्य होती है और जहाँ बीज रहता है, वहाँ अवसर मिलनेपर उससे अङ्कुरोत्पत्ति होना निश्चित है। इसी प्रकार प्रारब्धजनित भोगका होना अवश्यम्भावी है। वह भोग अनन्त प्रकारका होनेपर भी कर्मपारदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने अनन्तभोगराशिको चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया है। जीव जो कुछ कर्म शरीरद्वारा, मनद्वारा या बुद्धिद्वारा करता है, वह सब कर्म प्रतिक्रियारूपसे संस्कार उत्पन्न करता है। उस संस्कारराशियोंमेंसे जो जो संस्कार प्रारब्ध बनकर अङ्कुरोत्पन्न करने लगते हैं, वे ही भोग उत्पन्न करते हैं। इस अत्यन्त गम्भीर कर्म-प्रतिक्रियाशैलीको अच्छी तरह समझनेके लिये और भी स्पष्ट विचारकी आवश्यकता है। पहले कहा गया है कि, संस्कार दो प्रकारका होता है। एक स्वाभाविक, दूसरा अस्वाभाविक। स्वाभाविक संस्कारकी गति और क्रिया एक ही प्रकारकी होती है और उसमें प्रतिक्रियाकी कोई सम्भावना नहीं रहती। यह कैसे सम्भव है, सो पूर्वपादमें अच्छी तरह कहा गया है। अस्वाभाविक संस्कारका मूल जैववासना है। जब जीव मनुष्ययोनिमें पहुँचता है, तो उसके पाँचों कोष पूर्ण हो—

चतुर्विंशतिभेदा भोगस्य ॥२२६॥

जानेसे नवीन वासना उत्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त करता है। वासना विचित्र होती है। इसलिये प्रतिक्रिया भी विचित्र होती है। प्रतिक्रियाकी विचित्रताके कारण फलोत्पत्तिमें भी विचित्रता होती है। मनुष्यशरीर अथवा देव-शरीर पाकर जीव जबतक वासनाके वशीभूत रहता है और मुक्त नहीं होता है, तबतक वह हर समय वासना करता रहता है। चाहे शारीरिक कर्म करे, चाहे मानसिक कर्म करे और चाहे बौद्धिक कर्म करे, वह कर्म करते समय चित्तमें वासना-जड़ित रहनेसे अपने चित्तमें उक्त कर्मोंका बीजरूपी संस्कार लेकर जमा करता जाता है। यही अनन्त जन्म-जन्मान्तरका अनन्त वैचित्र्यपूर्ण कर्मवृत्तसे संगृहीत बीजरूपी संस्कार-राशिका बीजसंग्रह-गृहरूपी संचितकर्म कहाता है। बुद्धिभेद न हो, इसलिये कहा जाता है कि, कर्म चाहे क्रियारूपमें रहे, या संस्काररूपमें रहे, उसको कर्म ही कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि, ब्राह्मणकर्म और क्षत्रियकर्म भी कर्म कहाता है और साधारणरूपसे क्रियमाणकर्म और संचितकर्म भी कर्म कहाता है। जैसे शास्त्रोंमें आत्मा शब्दका प्रयोग आत्माके लिये भी आता है, प्रकृतिके लिये भी आता है और जीवात्माके लिये भी आता है ; ठीक उसी प्रकार कर्म-शब्दका प्रयोग भी व्यापक है। ये सब बातें समझकर कर्म, संस्कार और कर्मफल आदि शब्दोंके प्रयोगोंको हृदयङ्गम करना उचित है। क्रियाके कर्त्ताके हृदयकी वासनाके अनुसार क्रियाका बीजरूपी संस्कार संग्रह होता है। वही संस्काररूपी बीज समयपर अङ्कुरित होता है, तब

२९

पुनः वृक्षरूप धारण करके क्रियाके रूपमें होकर फलोत्पन्न करता है। यही पूर्वक्रियाकी प्रतिक्रिया है। फलभोग करते समय जीव वासनाके बलसे पुनः संस्काररूपी बीज संग्रह करता है। यही "बीज-वृक्षन्याय" का अनादि-अनन्तप्रवाह है। इस प्रवाहके सब स्थलोंको ही कर्मशब्द-वाच्य किया जाता है। अब जिज्ञासुको शंका यह हो सकती है कि, भोगके समय भोगकी परिसमाप्तिसे उस कर्मका हान हो जाना उचित था, सो क्यों नहीं होता? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, जीव अपनी पूर्वजन्मार्जित वासना और संस्कारके बलसे क्रियासे प्रतिक्रिया उत्पन्नकरके फलभोग कर लेता है। परन्तु फलभोग करते समय भी उसका अन्तःकरण वासनाजालसे जड़ित रहता है। इसी कारणसे फलभोगरूपी प्रतिक्रियाका अवसान हो जानेपर भी नवीन वासना नवीन संस्कार संग्रह कर लेती है और उस नवीन वासनासे उत्पन्न क्रिया पुनः दूसरी प्रतिक्रियाकी कारण बन जाती है, यही क्रिया और प्रतिक्रियाका क्रम अनन्त वैचित्र्यमयी भोग-शृङ्खला एवं नियमित घूर्णायमान आवागमनचक्रको स्थायी रखता है। क्रियावैचित्र्यके अनुरूप प्रतिक्रियावैचित्र्य होनेसे भोग-वैचित्र्यका होना भी स्वाभाविक है, तो भी पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने भोगकी श्रेणियाँ बाँध दी हैं। वे ही श्रेणियाँ चौबीस हैं, जिनका दिग्दर्शन आगे कराया गया है ॥२२६॥

अब उसका विस्तार कह रहे हैं :—

सुखी, दुःखी, ज्ञानी, मूढ़ और विकलाङ्गरूपसे मनुष्योंका भोग पाँच प्रकारका है ॥२२७॥

भोगसमूहको समझानेके अभिप्रायसे प्रकृतिके चौबीस भेदोंके अनुसार दर्शनकारने उनको चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया है। यद्यपि कर्म-वैचित्र्यके अनुसार भोगवैचित्र्य स्वाभाविक और अनन्त है, तथापि यथासम्भव भेद बतानेके लिये उसकी चौबीस श्रेणियाँ बाँधी गयी हैं। उनमेंसे पाँच श्रेणियाँ मनुष्यपिण्डकी हैं। यथा—सुखी मनुष्योंका भोग, और दुःखी मनुष्योंका भोग, जिनका सम्बन्ध स्वर्ग और नरकके साथ दिखाया जा सकता है और जो स्वाभाविक है। तीसरा ज्ञानी मनुष्योंका भोग, जो अपने ज्ञानसे भोगको घटा सकते हैं। चौथा मूढ़ मनुष्योंका भोग, जिनको अपने भोगका पता ही नहीं चलता है और पाँचवाँ विकलाङ्ग मनुष्योंका भोग, जिनके कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रियोंके नष्ट होनेसे उनके भोगोंमें बहुत कुछ विचित्रता आजाती है ॥२२७॥

और भी कह रहे हैं—

नित्य, नैमित्तिक और तिर्य्यक्‌रूपसे देवताओंका भोग त्रिविध है ॥२२८॥

ब्रह्माण्डके सब लोकोंके भोगोंमेंसे स्वर्ग-सुखभोग सबसे वैचित्र्यपूर्ण होनेपर भी उसको तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—स्वर्गके दिक्‌पालादि पदधारियोंका भोग, स्वर्गमें गये

सुखिदुःखिज्ञानिमूढ़विकलाङ्गतया मानवानाम् ॥२२७॥

नित्यनैमित्तिकतिर्य्यक्‌तया देवानाम् ॥२२८॥

हुए स्वर्गसुखभोगी जीव-समूहका भोग और स्वर्गके नानाविध भूतसङ्घका भोग । स्वर्गीय इन्द्रादि देवपदधारी ऐशकर्मके फलसे स्वर्गके पदधारी बन जाते हैं और वहाँका सुखभोग करते हुए प्रायः अभ्युदयको प्राप्त करने रहते हैं । यह स्वर्गसुखका एक प्रकार है । उसी प्रकार मृत्युलोकसे पुण्यात्मा जीव शरीरपातके अनन्तर कुछ समयके लिये स्वर्गमें जाकर वहाँका सुखभोग करने हैं । यह स्वर्गसुखका दूसरा प्रकार है और स्वर्गमें जो पारिजात आदि वृक्ष, कोकिल आदि पक्षी एवं इसी प्रकारके नानासुखभोगी जीवोंका भोग है, वह स्वर्गीय सुखका तीसरा प्रकार है ॥२२८॥

और भी कह रहे हैं—

उसी प्रकार नारकियोंका ॥२२६॥

शरीरान्तके अनन्तर दुःखभोगका स्थान नरक लोक है । जो जीव पापकर्म करते हैं, उनको नरककी प्राप्ति होती है । नरक भी रौरव, कुम्भिपाक आदि अनेक प्रकार के हैं । वहाँके भोगको भी तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं । नरकके पदाधिकारी जो वहाँका प्रबन्ध करते हैं, उनका भोग, जो जीव मृत्यु आदि लोकोंसे अपने अपने पापकर्मके लिये वहाँ भेजे जाते हैं, उनका भोग और वहाँ के काग, गृध्र, शृगाल आदि तिर्य्यक् योनियोंका भोग ॥२२६॥

और भी कह रहे हैं—

तीन पिण्डके अनुसार अवतारोंका है ॥२३०॥

तद्वदेव नारकिनाम् ॥२२९॥ पिण्डत्रयानुसार्य्यवताराणाम् ॥२३०॥

अवतार तीन श्रेणीके तीन पिण्डोंको अवलम्बन करके हुआ करते हैं। यथा—श्रीराम, कृष्ण आदि मानवपिण्डधारी अवतार, मत्स्य, कूर्म आदि सहज पिण्डधारी अवतार और नृसिंह, हयग्रीव आदि देवपिण्डधारी अवतार। अवतारोंमें विशेषता यह होती है कि, उनके भोगका सम्बन्ध एक ओर उस देहधारीके साथ और दूसरी ओर जिसका अवतार होता है, उसके साथ रहनेसे उनके भोगमे वैचित्र्य आ जाता है। इस भोगकी विचित्रताकी भी तीन श्रेणियाँ बाँधी गयी है ॥२३०॥

और भी कहते हैं—

उसी प्रकार आरूढ़पतितोंका ॥२३१॥

आरूढ़पतित जीवोंका भोग त्रिविध होता है। चाहे देव-योनि हो, चाहे असुरयोनि हो, चाहे मनुष्ययोनि हो, सब श्रेणियोंके जीव ही आरूढ़पतित होकर तीन श्रेणियोंके पिण्डोंका आश्रय कर सकते हैं। यथा—सहजपिण्ड, देवपिण्ड और मानवपिण्ड, देवपिण्डके अनेक उच्च नीच विभाग हैं, उनमेसे उच्च अधिकारसे निम्न अधिकारमे आरूढ़पतित होना सम्भव होता है। दूसरी ओर देवपिण्डधारियोका तिर्यक्योनिमे आना सम्भव है। यथा—यमलार्जुन नामक देवताओंका मृत्युलोकमे वृक्षयोनिमें आजाना। इसी प्रकार देवताओंका आरूढ़पतित होकर मानव-पिण्डमे आनेके प्रमाण पुराण-शास्त्रोमे अनेक मिलते हैं। यथा—

तद्वदारूढ़पतितानाम् ॥२३१॥

जय विजय आदिके। इसी प्रकार मृत्युलोकके मनुष्योंका भी आरूढ़पतित होकर तिर्य्यक्‌योनिमें पहुँचनेका प्रमाण पुराणोंमें बहुत मिलता है। यथा—भरतका मृग होना, पिङ्गाख्य, विराध, सुपुत्र और सुमुख नामक मुनिपुत्रोंका पक्षियोनिमें आरूढ़ पतित होना। सुतरां आरूढ़पतितकी तीन श्रेणियाँ बाँधकर उनके भोगोंका भी त्रिविध विभाग कर सकते हैं ॥२३१॥

और भी कहते हैं—

स्वर्ग-नरक-सम्बन्धसे आतिवाहिकका भोग द्विविध है ॥२३२॥

एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाते समय जीवको जो अस्थायी स्थूलशरीर मिलता है और जिस अवस्थाको पाकर पुण्यात्मा सुख भोगता हुआ और पापात्मा दुःख भोगता हुआ एक लोकसे लोकान्तरमें जाता है, जीवकी उस गतिको आतिवाहिक गति और उस समय जो स्थूलशरीर प्राप्त होता है, उसको आतिवाहिक शरीर कहते हैं। तत्त्वदर्शी मुनियोंने उस अवस्थाके भोगके दो भाग किये हैं। यथा—नरकलोकमें जाते समय दुःखमय भोगकी प्राप्ति होती है और स्वर्गलोकमें जाते समय सुखमय भोगकी प्राप्ति होती है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस मृत्युलोकके शरीरसे ही जिनकी गति स्वर्गलोकमें होती है, जैसी धर्मराज युधिष्ठिर और वीरवर अर्जुन तथा और अनेक राजाओंकी हुई थी, उसको क्या समझना चाहिये? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, इस प्रकारके अलौकिक शक्तिविशिष्ट व्यक्तियोंके एक लोकसे

आतिवाहिको द्विधा स्वर्गनरकाभ्याम् ॥२३२॥

लोकान्तरको जाते समय दैवीसहायतासे उनके शरीरमें परमाणुओं का परिवर्तन होकर जो विशेष अवस्था प्राप्त होती है, वह भी आतिवाहिक गतिका एक विशेष प्रकार है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, स्वर्गलोक तेजस्तत्त्व प्रधान है और मृत्युलोक पृथिवीतत्त्वप्रधान है। इस कारण तैजसतत्त्वके लोकमें पार्थिव-तत्त्वका शरीर तभी पहुँच सकता है, जब उस शरीरके परमाणुओं का परिवर्तन हो जाय। देवताओंकी सहायतासे ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है। अतः दार्शनिक विज्ञानसे यह निश्चित है कि, दैवीसहायतासे किसी असाधारण दशामें स्थूलशरीरमें ऐसा परिणाम हो सकता है और जब स्थूलपार्थिवदेहधारी व्यक्ति मृत्युलोकसे भूलोकके देशोंको अतिक्रमण करता हुआ, तदन्तर भुवर्लोकके देशोंका अतिक्रमण करता हुआ स्वर्लोकमें पहुँचता है और यहाँ अपना स्थूलशरीर छोड़कर नहीं जाता, तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि, उस गतिके समय उसके स्थूलशरीरमें दैवीसहायतासे ऐसा परिणाम होता है कि, जिससे वह लोकान्तर-में जा सके। यह परिणाम उसके लिये आतिवाहिक देहका काम करता है ॥२३२॥

और भी कहते हैं—

पदाधिकारी और नैमित्तिक प्रेतोंका इस तरह प्रेतत्वका भोग द्विविध है ॥२३३॥

प्रेतलोकके जीवोंके भोगोंके दो विभाग किये जा सकते हैं।

प्रेतानां द्विधा पदनिमित्ताभ्याम् ॥२३३॥

यथा—प्रेतलोकके पदधारी बेतालादिका भोग और प्रेतलोकगामी जीवोंका भोग । प्रेतलोकके पदधारी प्रेतोंका सम्हाल करते हैं, उनको रक्षा करते हैं और उनको दण्ड भी देकर उनके अधिकारके अनुसार उन्हें चलाते हैं । इस कारण प्रेतलोकगामी साधारण जीवोंसे उनका भोग विशेष है ॥२३३॥

और भी कह रहे हैं—

भक्त और ज्ञानीका भोग एक एक है ॥२३४॥

ब्रह्माण्डकी भोगश्रेणियोंकी पर्यालोचना करनेपर यह भी विचारमें आवेगा कि, सबसे उन्नत ब्राह्मस्वर्गमें जिसको पञ्चम, षष्ठ और सप्तमलोक अर्थात् जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक कहते हैं और शास्त्रोंमें जिनको ब्रह्मलोक भी कहते हैं, उनमें नाना उपासनालोक और नाना ज्ञानलोक भी विद्यमान हैं । वहाँके रहनेवाले महात्माओंकी भोग-श्रेणी दो भागोंमें विभक्तकर सकते हैं । एक वह श्रेणी है, जिसमें सालोक्य, सामीप्य आदि गतिप्राप्त महात्माओंके भोग उपासना-सम्बन्धीय भोगके दृष्टान्त हैं । ऐसे उपासक महात्माओंके भोग अन्य भोगोंसे अतिविलक्षण होते हैं और ज्ञानी महात्माओंके भी भोग ऐसे ही विचित्र होते हैं । देवलोकके देवर्षियोंका भोग इसी श्रेणीमें समझना उचित है । इस प्रकारसे उपासक महात्माओंके भोग और ज्ञानी महात्माओंके भोग एक-एक श्रेणीके अलग-अलग होते हैं, ऐसा समझना उचित है ॥२३४॥

भक्तज्ञानिनोरेकैकः ॥२३४॥

और भी कह रहे हैं—

विलक्षणता होनेसे स्त्रियोंकी भोगश्रेणी एक है ॥२३५॥

जितने प्रकारकी भोगश्रेणियाँ हैं, उनमेंसे तेईसका वर्णन करके अब चौबीसवीं भोगश्रेणीका वर्णन महर्षिसूत्रकार कर रहे हैं। स्त्रियोंका भोग एक स्वतन्त्र श्रेणीका है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, सृष्टिधारामें स्त्री-धारा दोनों अलग-अलग बहती हैं। एकमें आकर्षणशक्ति और दूसरीमें विकर्षणशक्ति विद्यमान है। एक क्षेत्ररूपा है, दूसरी बीजरूपा है। अतः दोनोंका भोग स्वतन्त्र स्वतन्त्र होगा, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण स्त्री-जातिकी भोगश्रेणी एक स्वतन्त्र भोगश्रेणी है, ऐसा मानना ही पड़ेगा ॥ २३५ ॥

प्रसङ्गसे कहते है—

आवान्तरभेदसे अनेक प्रकारका है ॥ २३६ ॥

यद्यपि दार्शनिक विचारके अनुसार विभाग करनेसे भोगके चौबीस प्रकार होते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है, परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि, इनके अवान्तरभेदसे भोगके अगणित भेद होंगे। यथा—स्त्री शरीरके, स्त्री-संस्कारके अनुसार भोगकी एक ही श्रेणी होनेपर भी त्रिलोक-पवित्रकारिणी सतीके भोग, अपवित्र वेश्याके भोग, माताके भोग और स्त्रीके भोग तथा उनके भी अवान्तरभोगोंकी अनेक श्रेणियाँ बन सकती हैं। इसी

स्त्रीणामेक एव वैलक्षण्यात् ॥ २३५ ॥

आवान्तरभेदादनेकधा ॥ २३६ ॥

प्रकार देवपदधारी व्यक्तियोंके भोगके देश-काल-पात्रभेदसे अनेक भेद हो सकते हैं। यथा—चतुर्विध-भूतसङ्घके चालकपदधारी, विभिन्न पीठोंके रक्षक विभिन्न देवपदधारी और दिक्पालपदके अधिकारी व्यक्तियोंके भोगोंमें बहुत व्यवधान होगा। इस प्रकार प्रत्येकके अवान्तर भेदोंमें भोगोंकी अगणित श्रेणियाँ हो सकती हैं ॥ २३६ ॥

प्रसंगसे कहते है—

भोग-वैचित्र्य होनेसे प्रारब्धभोगके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं ॥ २३७ ॥

ऐसा देखनेमें आता है कि, प्रारब्धसे जीवको विशेष धनकी प्राप्ति होनेपर भी कोई उसको पापमें लगाता है, कोई उसको पुण्यमें लगाता है और कोई उसको सञ्चय करके दूसरोंके भोगके लिये रख जाता है। सञ्चय करनेवाले धनीको यथेष्ट सदुपदेश देनेपर भी वह धन-व्यय नहीं कर सकता। इसी प्रकार विद्या, बल और नाना ऐश्वर्य्योंकी प्राप्तिके उदाहरणसे इस सूत्रके विज्ञानको समझना उचित है ॥ २३७ ॥

वह कैसे होता है, सो कहा जाता है—

सभी भोग दोनों शरीरोंद्वारा होते हैं ॥ २३८ ॥

कर्मका विपाकरूप भोग स्थूलशरीर और सूक्ष्म-शरीर इन दोनों के द्वारा ही हुआ करता है। प्रथम तो साधारणतः दोनों शरीर

प्रारब्धमप्येवं भोगवैचित्र्यात् ॥ २३७ ॥
सर्वेऽपि देहाभ्याम् ॥ २३८ ॥

ही भोगको सुसिद्ध करते हैं। जैसा पहले कहा गया है कि भोगमें स्थूलशरीर भोगका आयोजन करता है और अन्तःकरण उसका अनुभव करता है। यह साधारण नियम है। असाधारण भोग केवल अन्तःकरणसे भी होता है। इसी कारण शरीरके रोगको व्याधि कहते हैं और अन्तःकरणके रोगको आधि कहते हैं। ये ही अशुभ भोगके उदाहरण हैं। इसी प्रकार शुभभोगके उदाहरणमें पूजाप्रसाद और धर्मप्रसादको ले सकते हैं। इष्टदेवके सम्मुख चढ़ाया हुआ मिष्टान्न स्थूलशरीरके द्वारा शुभभोग प्रधानतः प्रदान करता है, परन्तु धर्मसाधन, पुण्यकर्म आदिका शान्ति-सुख रूपी शुभभोग अन्तःकरणमें होता है। यही कारण है कि, सब लोकोंमें दोनों शरीर रहते हैं। मृत्युलोकमें जिस तरह पार्थिवशरीर सूक्ष्मशरीरके साथ रहता है, अन्यलोकमें अन्यलोकोंके उपयोगी अन्यतत्त्व प्रधान अन्य प्रकारका स्थूलशरीर रहता है ॥ २३८ ॥

अब प्रसङ्गसे जन्मान्तर्गतिका वर्णन किया जाता है—

आतिवाहिकी गति सूक्ष्मशरीरकी होती है ॥ २३९ ॥

भोगकी निष्पत्ति स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंसे होनेसे यह शङ्का स्वतः ही हो सकती है कि, दोनों शरीरोंका जब इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है और मृत्युके बाद स्थूलशरीर यहीं पड़ा रहता है, तो लोकान्तरप्राप्ति किस प्रकारसे होती है? इस प्रकारकी स्वाभाविक शङ्काकी निवृत्तिके प्रसङ्गसे कहा जाता है कि, लोकान्तर-

---

सूक्ष्मस्य गतिरातिवाहिकी ॥ २३९ ॥

प्राप्तिके समय केवल सूक्ष्मशरीरकी आवश्यकता होती है। यद्यपि सब लोकोंमें ही स्थूलशरीर पुनः मिल जाता है और यद्यपि भोगकी निष्पत्ति दोनों शरीरोंके द्वारा ही होती है, तथापि लोकान्तरप्राप्तिके समय स्थूलशरीर अनावश्यकीय होनेसे उसको जीर्णवस्त्रपरित्याग-की तरह जहाँका तहाँ छोड़ना पड़ता है और सूक्ष्मशरीरसे लोकान्तरमें जाना पड़ता है। उस समय उस सूक्ष्मशरीरधारी जीवको जिसमें रखकर लोकान्तरमें पहुँचाया जाता है, उसको आतिवाहिक देह कहते हैं और उस गतिको आतिवाहिकी गति कहते हैं। जैसे लिफाफेमें रखकर चिट्ठी भेजी जाती है, उसी प्रकार आतिवाहिक देहमें रखकर सूक्ष्मशरीरको लोकान्तरमें देवतागण पहुँचाते हैं। वहन करता है, इस कारण वह आति-वाहिक शरीर कहाता है॥ २३९॥

अब उस गतिको स्पष्ट कर रहे हैं—

इसके द्वारा पितृलोकादिमें गति होती है॥ २४०॥

वह लोकान्तरमें ले जानेवाली आतिवाहिकी गति प्रेतलोक-व्यापी, नरलोकव्यापी, पितृलोकव्यापी, देवलोकव्यापी, असुरलोक-व्यापी अथवा इसी मृत्युलोकमें पुनरावृत्तिकारी होती है। मनुष्य मृत्युके अनन्तर या तो दुःखभोगके लिये प्रेतलोक और नरकलोकमें जाता है, या सुखभोगके लिये पितृलोकमें अथवा भुवः स्वः आदि देवलोकोंमें अथवा अतल, वितल आदि असुरलोकोंमें अथवा मिश्रभोगके लिये और कर्म करनेके लिये कर्मभूमि मृत्युलोकमें

सा पितृलोकादौ॥ २४०॥

ही पहुँचता है। ये सब गतियाँ आतिवाहिक देहकी सहायतासे ही होती हैं। इस सूत्रमें पितृशब्दका प्राधान्य इस कारण रक्खा गया है कि, इस मृत्युलोकका साधारण सुखप्रदलोक पितृलोक ही है और प्रेत, नरक तथा पितृलोकके राजा धर्मराज यमकी राजधानी पितृलोकमें ही है ॥ २४० ॥

वह गति किसके प्रबन्धसे होती है, सो कहा जाता है—

देवाधीना है ॥ २४१ ॥

देवतागण आतिवाहिकी गतिमें प्रधान सहायक होते हैं। प्रेतलोकमें ले जानेके लिये और नरकलोकमें ले जानेके लिये एक प्रकारके क्षुद्र देवता सहायक होते हैं, जिनको यमदूत कहते हैं। अन्यगतिमें जो दैवी शक्तियाँ सहायक होती हैं, उनको देवदूत कहते हैं। लोकान्तर प्राप्तिके समय सूक्ष्मशरीर विशिष्ट जीव बहुत ही दुर्बल और पराधीन रहता है। इस कारण बिना दूसरेकी सहायताके न वह हलचल कर सकता है और न वह कहीं जा सकता है। उस समय उक्त दैवी शक्तियाँ आतिवाहिक देहरूपी लिफाफेमें उसको रखकर लोकान्तरमें पहुँचाया करती हैं। यदि ऐसा हो कि, इसी मृत्युलोकमें स्थूलदेह छोड़कर जीवको पुनः इसी मृत्युलोकमें जन्म लेना पड़ा हो, तो भी उसको इसी प्रकार देवताओंकी सहायता लेनी पड़ती है ॥ २४१ ॥

देवाधीना ॥ २४१ ॥

प्रसङ्गसे मनुष्यके जन्मविषयक विज्ञानको कहा जा रहा है—

आधिभौतिक पितरोंके अधीन है ॥ २४२ ॥

अब जिज्ञासुओंको यह शंका हो सकती है कि, देवतागण जब आतिवाहिक देहमें रखकर सूक्ष्मशरीर विशिष्ट जीवको सब लोकोंमें पहुँचाते हैं और उसी प्रकार इसी मृत्युलोकमें मातृगर्भमें भी पहुँचाते हैं, तो इस मृत्युलोकका स्थूलशरीर कौन बनाता है? और वह कहाँसे मिलता है? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। तात्पर्य यह है कि पिताके वीर्यके द्वारा देवतागण मातृगर्भमें सूक्ष्मधारी जीवको पहुँचा दिया करते हैं यह निश्चित ही है। जीवका स्थूलशरीर मातृगर्भमें माता-पिताके रजोवीर्यकी सहायतासे पितृगण बना दिया करते हैं। अर्यमा आदि अनेक नित्य पितृ-पदके अधिष्ठाता एक श्रेणीके पितृलोकवासी देवता हैं। वे जगत्के आधिभौतिक प्रबन्धके निरीक्षक हैं। उन्हींके प्रबन्धसे मातृगर्भमें जीवके यथायोग्य भोगकी निष्पत्तिके उपयोगी स्थूलशरीर बन जाता है। सारांश यह है कि मनुष्यका स्थूलशरीर पितृगणके निरीक्षणसे बनता है और सूक्ष्मशरीरधारी जीवको यथासमय उस देहमें देवतागण पहुँचा देते हैं। तब वह जीव तीनों शरीरोंसे पूर्ण होकर नवीन कर्म करने और प्राचीन कर्मके फल भोगनेके उपयोगी बन जाता है। यही मनुष्यके जन्मग्रहण करनेका रहस्य है ॥ २४२ ॥

पितृतन्त्रमाधिभौतिकम् ॥ २४२ ॥

अब मुक्ति-प्रसंगसे शंका समाधान किया जाता है—

कारण ऋषियोंके अधीन है ॥ २४३ ॥

स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरकी गतियाँ प्रधानतः केवल बन्धन और भोगके निमित्त हैं, तो क्या भोगसे उपरति और मुक्तिके निमित्त किसी शरीरकी उपयोगिता नहीं है? दोनों शरीरोंकी गति तो जानी गई, अब तीसरे शरीरकी गतिका कुछ रहस्य है या नहीं? शरीरोंके विषयमें पितरोंकी और देवताओंकी सहायताका रहस्य जाना गया, ऋषियोंकी कुछ सहायता इस विषयमें कुछ प्राप्त होती है या नहीं? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। समाधान यह है कि, कारणशरीरकी गति ऋषियोंके अधीन मानी जा सकती है। कारणशरीर ही जीवके जीवत्वके स्थापन और रक्षणका कारण है। उसकी दशा एकसी ही रहती है, केवल जब जीव अज्ञानभूमिसे आगे निकलकर ज्ञानकी भूमियोंमें पहुँचता है, उस समय उसके कारणशरीरकी गतिमें कुछ क्रमोन्नति होने लगती है। क्रमशः उन्नत ज्ञानीका कारणशरीर रूपान्तरको धारण करता हुआ गत्यन्तरको प्राप्त होता है, और अन्तमें वह कारणशरीर शक्तिहीन हो जाता है। उस समय अन्तमें ज्ञानी महापुरुष तीनोंसे अपनेको पृथक् समझ लेता है। अतः इस भूमिमें पहुँचकर कारणशरीरकी इस प्रकार उन्नतिशील गति ज्ञानीको प्राप्त होती है, सो ज्ञानके अधिष्ठाता ऋषियोंकी कृपासे प्राप्त होती है॥ २४३ ॥

कारणमृष्यायत्तम्॥ २४३ ॥

उसी प्रसङ्गसे और भी कहा जाता है—

ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती है ॥ २४४ ॥

जीव जब सातो अज्ञान-भूमियोंको अतिक्रम करके सप्तज्ञान-भूमियोंके अधिकारमें पहुँच जाता है, तो आत्मज्ञानकी क्रमोन्नतिके साथ ही साथ कारणशरीरमें परिणाम प्रारम्भ होता है और अन्तमें आत्मज्ञानकी पूर्णताके साथ ही साथ कारणशरीर शक्तिहीन हो जाता है। उस समय स्वरूपज्ञानके द्वारा मुक्ति-पदका उदय हो जाता है। ज्ञान ही मुक्तिका कारण है और उस स्वरूपज्ञानके उदयमें ऋषियोंके कृपाजनित कारण शरीरमें भी परिणाम होनेकी आवश्यकता है। परन्तु इतना अवश्य लक्ष्यमें रखना चाहिये कि, आत्मज्ञान ही मुक्तिका साक्षात् कारण है। ऐसी स्थिर धारणा रहनेपर साधक लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो सकेगा ॥ २४४ ॥

प्रसंगसे अन्य दोनोंकी आवश्यकता सिद्ध की जाती है—

स्थूल और सूक्ष्म अभ्युदयके मुख्य अवलम्बन हैं ॥ २४५ ॥

मुक्तिके सम्बन्धमें कारणशरीरका प्राधान्य होनेपर भी कारण-शरीरका परिणाम पुरुषार्थसे अतीत है। क्योंकि वह ज्ञानोन्नतिके साथ स्वतः होता है। परन्तु कर्मके विचारसे और कर्त्ताके पुरुषार्थके विचारसे अभ्युदय और निःश्रेयस-सिद्धिरूप धर्मसाधनमें स्थूल-

---

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः ॥ २४४ ॥

स्थूलसूक्ष्मे मुख्यावलम्बेऽभ्युदयस्य ॥ २४५ ॥

शरीर और सूक्ष्मशरीर ये दोनों ही प्रधान अवलम्बन हैं। चाहे अर्थ-कामादिकी इच्छाकरनेवाला अभ्युदयाकांक्षी साधक हो अथवा मोक्षार्थी साधक हो, उसकी क्रमोन्नति तभी होगी, जब उसके कर्म करनेमें स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर दोनों सहायक होंगे। वस्तुतः निःश्रेयसके साक्षात् कारणका ज्ञान होनेसे अभ्युदयके विचारसे स्थूल और सूक्ष्मशरीर ही प्रधान अवलम्बनीय हैं॥ २४५॥

और भी कहा जाता है—

दोनोंका संस्कार अभ्युदयका हेतु है॥ २४६॥

स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर दोनोंके ही द्वारा कर्मसंग्रह करनेमें प्रधान सहायता होती है। वस्तुतः कर्मके अवलम्बन ही ये दोनों हैं। मनुष्यसे निम्नश्रेणीकी योनियाम अर्थात् चतुर्विध-भूतसंघमें इन्हीं दोनों शरीरोंकी सहायतासे सहज कर्मके द्वारा स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्ति करता हुआ जीव अभ्युदयको प्राप्त करता रहता है और अन्तमें मनुष्ययोनिमें पहुँचकर पूर्णताको प्राप्त करता है। मनुष्ययोनिमें भी इन्हीं दोनों शरीरोंकी सहायतासे जीवकी क्रमाभ्युदय-गति बनी रहती है। यही कारण है कि, वैदिकदर्शनोंमेंसे कोई कोई दर्शनशास्त्र केवल इन्हीं दोनों शरीरोंको मानते हैं। कर्मसंग्रह करनेमें भी दोनों सहायक होते हैं, कर्मफल भोगकरनेमें भी दोनों सहायक होते हैं और प्रारब्ध, क्रियमाण कर्मोंकी सन्धिमें सहायता देकर ये दोनों मनुष्यके

तद्धेतुत्वमुभयसंस्कारस्य॥ २४६॥

अभ्युदयका कारण बनते हैं। अतः दोनोंके द्वारा संस्कारसमूह संगृहीत होकर जीवका अभ्युदय कराते रहते हैं। केवल भोगकी ही निष्पत्ति इन दोनोंके द्वारा नहीं होती, किन्तु ये अभ्युदयके भी कारण हैं ॥ २४६ ॥

प्रसङ्गसे कर्मसाफल्यहेतु कहा जाता है—

दोनोंका एक साथ संयोग न होनेसे मंगल नहीं होता ॥ २४७ ॥

प्रथम अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम अवस्थामें निःश्रेयस यही कर्मका साफल्य है। कर्मके द्वारा मनुष्य बन्धनको प्राप्त होता है और कर्मके द्वारा ही मनुष्य मुक्तिपदको प्राप्त होता है। वस्तुतः कर्म मनुष्यको अनार्य्यसे आर्य्य, असत् शूद्रसे सत् शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण और क्रमशः उन्नततर ज्ञानभूमिमें पहुँचाकर अन्तमें अन्तिम ज्ञानभूमिमें पहुँचाकर मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। क्रमोन्नतिकी यह स्थायी गति तभी होती है और निःश्रेयसका उदय तभी होता है, जब जीवके स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर दोनों ही अनुकूल मिलते जायँ और दोनों ओरसे संस्कारसमूह आनुकूल्य करते रहें। क्योंकि एक यदि अनुकूल हुआ और दूसरा प्रतिकूल हुआ, तो यथार्थ मंगल नहीं हो सकता और बाधा होती है अथवा यदि दोनों प्रतिकूल हुए, तब तो कोई आशा ही नहीं है। इस कारण अभ्युदय और निःश्रेयसके निमित्त दोनोंका आनुकूल्य होना परमावश्यकीय है।

श्रेयो न मिथोऽनुकूलत्वाभावे ॥ २४७ ॥

वह आनुकूल्य साक्षात् और परोक्षरूपसे दो प्रकारका होता है। साक्षात्का उदाहरण यह है कि, दोनों शरीर ही सात्त्विक—शान्त-रजस और यथाक्रम मल और विक्षेपरहित हों। परन्तु यदि ऐसा न हो, तो परोक्ष सहायताका उदाहरण यह है कि, सूक्ष्मशरीर शान्त-रजस नहीं है, परन्तु स्थूलशरीर अकर्मण्य है; ऐसा होनेपर मनुष्य असत् कार्य्यसे वहुत कुछ बचता है और उसकी ऊर्ध्वगति बनी रहती है। इस प्रकारसे किसी न किसी शैलीसे अभ्युदयका मार्ग जब खुला रहता है, वही मंगलकर है। वस्तुतः परममंगलकर वाधारहित अवस्था वही हो सकती है, जब दोनों श्रेणीके संस्कार धर्मके संग्रहमें आनुकूल्य करें ॥ २४७ ॥

साफल्यहेतुका क्रम कहा जारहा है—

सूक्ष्मकी लोकान्तरगति होती है ॥ २४८ ॥

अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिरूपी मंगलके निमित्त सूक्ष्म-शरीर जीवको एक लोकसे लोकान्तरमें लेजाकर सहायता करता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, एक जीवने पापसंग्रह किया, तो पापके क्षालनके लिये सूक्ष्मशरीर उसको प्रेत अथवा नरकलोकमें ले जायगा; वहाँ पापभोग कराकर जिस प्रकार मलको जलाकर सुवर्ण शुद्ध किया जाता है, उस प्रकार उसको शुद्ध करके पुनः कर्मभूमि मृत्युलोकमें लाकर उन्नततर कर्माधि-कारका अवसर देता है। उसी प्रकार यदि अलौकिक सुखभोगकी

लोकान्तरे गतिः सूक्ष्मस्य ॥ २४८ ॥

जीवको इच्छा रहे, तो भी उसकी उन्नति रुक जाती है; ऐसा होनेपर सूक्ष्मशरीरकी सहायतासे वह जीव स्वर्गादि सुखप्रद लोकोंमें जाता है और वहाँ सुखभोगद्वारा उन वासनाओंका नाश करके पुनः उन्नततर कर्मसंग्रहके लिये उसी सूक्ष्मशरीरकी सहायतासे कर्मभूमि मृत्युलोकमें आता है और इस प्रकारसे सूक्ष्मशरीरद्वारा बार बार अन्य सूक्ष्मलोकोंमें भोगद्वारा कर्मक्षय करता हुआ यथाक्रम कर्मभूमिमें आकर पूर्व कही हुई रीतिके अनुसार एक अवस्थासे दूसरी उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता हुआ अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयसको प्राप्त करके वह परममंगलरूप साफल्यको प्राप्त करता है ॥ २४८ ॥

और भी कहा जाता है—

स्थूलकी अन्यगति होती है ॥ २४९ ॥

कर्मके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिके निमित्त स्थूलशरीर बार बार पृथक् होकर जीवका मंगलसाधन करता है। सूक्ष्मशरीर जिस प्रकार साथमें रहता हुआ लोकान्तरमें लेजाकर अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण बनता है, उसी प्रकार स्थूलशरीर बार बार मृत होकर और जीर्ण वस्त्रकी तरह जीवसे अलग हो होकर जीवके मंगलका कारण बनता है। दार्शनिक व्यक्तिके निकट वस्तुतः जीवकी मृत्यु मंगलका कारण समझी जाती है। चाहे सूक्ष्मलोकका शरीरत्याग हो अथवा स्थूलमृत्युलोकका शरीरत्याग हो, वह स्थूलशरीरका त्याग जीवकी

गतिरन्या स्थूलस्य ॥ २४९ ॥

भविष्यत् कर्मोन्नतिका कारण होता है। क्योंकि उसको भविष्यत्में अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिके निमित्त नूतन अवसर प्राप्त होता है ॥ २४९ ॥

इस विज्ञानकी पुष्टि की जाती है—

श्रुतिसे प्रमाणित होनेसे ॥ २५० ॥

जन्मान्तरवादरहस्य, सूक्ष्मशरीरकी लोकान्तरगति आदि लोकोत्तर विषय दार्शनिक युक्तिसे सिद्ध होनेपर भी श्रुतिके आप्तप्रमाणद्वारा पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार सिद्ध करके स्वविज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं। श्रुतिमें कहा है :—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिम् रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान न ते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाद् चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद् देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनः निवर्तन्ते।

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः सम्वसरं सवत्सरादादित्यात्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येषः देवयानः पन्था इति।

इष्टापूर्त्तादि सकाम यज्ञके अनुष्ठानके फलसे मृत्युके अनन्तर गृहस्थोंको धूमयान अर्थात् पितृयानगति प्राप्त होती है। इस

श्रुतिप्रामाण्यात् ॥ २५० ॥

गतिके अनुसार क्रमशः धूमाभिमानिनी रात्रिदेवता, कृष्णपक्ष-देवता, मासदेवता, दक्षिणायन देवताओंके लोकसमूहको अतिक्रम करके वे सम्वत्सराभिमानिनी देवताओंके लोकको प्राप्त होते हैं। इस तरहसे पितृलोक और आकाशमें प्रवेश कर अन्तमें चन्द्र-देवतालोकमें प्राप्त करते हैं। वहांके राजा चन्द्र ही हैं। इस लोकमें जलमय शरीरलाभ करके जीव वहांके देवताओंके भोग्य वस्तु बनते हैं और देवताओंके साथ अनेक तरहसे आनन्दभोग किया करते हैं। जब तक कर्मक्षय न हो, तब तक इस तरहसे चन्द्रलोकमें निवास कर जिस पथमें जीवको ऊर्ध्वगति मिली थी, उसी पथसे फिर संसारमें लौटते हैं। निवृत्तिपरायण मुनिगण अरण्यमें निवास करते हुए श्रद्धाके साथ जो तपस्या-उपासनादिका अनुष्ठान किया करते हैं, उसके फलसे देहान्तके बाद उन लोगोंकी गति सूर्यद्वारसे होती है। वे लोग अर्च्य-भिमानी देवताओंके लोक, दिवसाभिमानिनी देवताओंके लोक, आपूर्यमाण पक्ष-देवताओंके लोक, षण्मासदेवता, संवत्सरदेवता, आदित्यदेवता और चन्द्रमादेवताके लोकसमूहको अतिक्रम करके जब विद्युत् देवताओंके लोकमें पहुँचते हैं, तब एक देवपुरुष आकर उन लोगोंको ब्रह्मलोकमें लेजाते हैं, यही देवयान-पन्था है ॥ २५० ॥

प्रसंगसे शंकासमाधान किया जाता है—

स्थूल सूक्ष्मका सम्बन्ध है ॥ २५१ ॥

स्थूलसूक्ष्मयोः सम्बन्धः ॥ २५१ ॥

अब यदि जिज्ञासुको शंका हो कि, स्थूल और सूक्ष्मशरीर दोनोका स्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकार जैसा कि, पहले वर्णन किया गया है, ऐसा होनेपर और जीर्णवस्त्रकी तरह स्थूलशरीरका सम्बन्ध होनेपर क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि, दोनोका परस्पर सम्बन्ध नही है ? स्थूलशरीरका जब सर्वथा त्याग हो जाता है, तब पीछे उसका क्या कोई भी सम्बन्ध नही रहता है ? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। वस्तुतः दोनो शरीरोंका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। स्थूलशरीर यहीं जीर्णवस्त्रकी तरह छूटकर भस्म अथवा मिट्टी हो जाता है। ऐसा होनेपर भी संस्कारजन्य सम्बन्ध परस्परका पीछे भी रहता है। स्थूलशरीरके सम्बन्धसे ही जीव अपनेको देही मानता है और सूक्ष्मशरीरके सम्बन्धसे ही जीव अपनेको देही करके अनुभव करता है। अर्थात् चाहे जीव मृत्युलोकमे हो, चाहे प्रेतलोकमे हो और चाहे देवलोकमे हो, वह तत् तत् लोकमे प्राप्त अपने स्थूलशरीरके अवलम्बनसे ही अपनेको देही समझता है, मनुष्यलोकमे अपनेको मनुष्य समझता है, प्रेतलोकमे प्रेत समझता है, देवलोकमे देवता समझता है इत्यादि। उसी प्रकार जब जीवका अन्तःकरण हो और उसमे मन बुद्धि आदि हो, तभी वह अपना जीवत्व और अपना देही होना अनुभव करता है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि, दोनोका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है और यही कारण है कि, देहीको स्थूलशरीर छोड़नेकी इच्छा ही नही होती ॥ २५१ ॥

प्रसंगसे शास्त्रीय मीमांसा की जाती है—

प्रथमके गंगासंयोग होनेपर दूसरेका संस्कार देखा जानेसे ॥ २५२ ॥

शास्त्रीय आज्ञा है कि, स्थूलशरीरका यदि गंगासम्बन्ध हो जाय अर्थात् यदि गङ्गाके तीरपर शरीर छूटे, गंगाके स्पर्शसे छूटे, श्रीगङ्गाजीमें अन्त्येष्टि-क्रियाका भस्म डाला जाय इत्यादिरूपसे शरीरका चाहे किसी प्रकार गंगासम्बन्ध हो, तो उस परलोक-गामी जीवको बड़ी सहायता मिलती है और बड़े पुण्यकी प्राप्ति होती है। इस प्रकारकी शास्त्रीय आज्ञासे भी पूर्वसंस्कारकी सिद्धि होती है। विशेषतः जब दोनों शरीरोंका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, तभी प्रेतलोकगामी, नरकलोकगामी अथवा पितृलोकगामी जीव अपने स्थूलशरीरपर दृष्टि रखता है और ऐसी दृष्टि रखनेपर जब वह देखता है कि, उसके शरीरका गंगासम्बन्ध हुआ है, तो इस प्रकारकी गंगास्मृतिसे उसके संस्कार शुभ हो जाते हैं। यही संस्कारजनित विज्ञान है। इसके अतिरिक्त अधिदैवसम्बन्धसे गंगादेवीकी प्रत्यक्ष सहायता तो दैवीमीमांसाशास्त्रके विज्ञानसे सिद्ध होती है ॥ २५२ ॥

प्रसंगसे उभयकी सहायताका फल कहा जाता है—

दोनोंके सत्-संस्कारसे मंगल होता है ॥ २५३ ॥

जाह्नवीयोगे नाद्यस्य परस्य संस्कारदर्शनात् ॥ २५२ ॥

मङ्गलमुभयोः सत्-संस्कारात् ॥ २५३ ॥

जिस अवस्थामें स्थूलशरीरसे संगृहीत संस्कार और सूक्ष्मशरीरसे संगृहीत संस्कार दोनों ही शुभ होते हैं, उस समय मंगलकर कर्म और मंगलकर कर्मफलका उदय होता है। स्थूल उदाहरणके लिये कहा जाता है कि, जब किसी मनुष्यकी प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों ही अनुकूल हों, तो उसका अभ्युदय अवश्यसम्भावी है। प्रकृतिका अधिकतर सम्बन्ध स्थूलशरीरसे और प्रवृत्तिका अधिकतर सम्बन्ध सूक्ष्मशरीरसे है। यदि किसी मनुष्यको प्रकृति सात्त्विक हो और प्रवृत्ति भी सात्त्विक हो, तो वह व्यक्ति अवश्य ही अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गमें बाधारहित होकर अग्रसर होगा ॥ २५३ ॥

विज्ञानकी पुष्टि की जाती है—

अन्यथा होनेसे अन्यथा होता है ॥ २५४ ॥

अब शङ्का यह होती है कि यदि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरोंके संस्कार शुभ नहीं हो, तब क्या होता है ? इस श्रेणीकी शङ्काके समाधानमें महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि अन्यथा अर्थात् दोनोंके संस्कार परस्पर प्रतिकूल हों, तो अन्यथा होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि यदि किसी मनुष्यकी स्थूलशरीरकी प्रकृति घोर तामसिक हो, और सूक्ष्मशरीरकी प्रकृति सात्त्विक हो तो उसकी उन्नतिका मार्ग सरल नहीं होगा, स्थूलशरीरकी तामसिक प्रकृति उसके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके पुरुषार्थमें सब समय बाधा

अन्यथा चेदन्यथा ॥ २५४ ॥

पहुँचाया करेगी और वह बाधा-रहित होकर अग्रसर नहीं हो सकेगा ॥ २५४ ॥

प्रमाणद्वारा विज्ञानकी पुष्टि की जाती है—

इसी कारण शास्त्रोंमें दोनोंका अलग-अलग निरूपण किया है ॥ २५५ ॥

विज्ञानकी पुष्टिके लिये महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरोंके संस्कार परस्पर अनुकूल नहीं होनेसे मंगल नहीं होता है, जीवकी क्रमोन्नतिमें बाधा होती है; इसीलिये शास्त्रोंमें दोनों शरीरोंका अलग-अलग वर्णन पाया जाता है। यथा भगवद्गीता "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।" अर्थात् जैसे मनुष्य पुराना वस्त्रका त्याग करके नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देही जीर्ण पुराने शरीरका परित्याग करके दूसरा नया शरीर प्राप्त करता है। यहाँ सूक्ष्मशरीरधारी जीवको देही कहा गया है, और स्थूलशरीरको देह कहा गया है ॥ २५५ ॥

अब भोगके कारणका निरूपण करते हैं—

द्वन्द्व (सुख-दुःखका भोग) तथा संस्कारके निमित्त होता है ॥ २५६ ॥

अतः पृथङ् निरूपणमुभयोः शास्त्रेषु ॥ २५५ ॥

द्वन्द्वकरणकः संस्कार निमित्तकः ॥ २५६ ॥

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार प्रसङ्गसे अब भोगके कारणोंपर विचार कर रहे हैं और कहते हैं कि सुख-दुःखकी अनुभूतिका कारण धर्म एवं अधर्म तथा उनके संस्कार हैं। धर्माचरणका फल सुख और अधर्माचरणका फल दुःख है। सृष्टिमें जितना सुख-दुःखरूपी भोगोंके वैचित्र्य देखनेमें आते हैं, उनके सबके मूलमें धर्म एवं अधर्मरूपी द्वन्द्व ही है। धर्माधर्मके संस्कार जो कर्माशयमें एकत्र होते रहते हैं, वे सदा जीवके साथ ही रहते हैं, और वे ही देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, सूकर-कूकर आदि समस्त योनियोंमें सुख-दुःखके भोगके लिये जीवोंको घुमाते रहते हैं ॥ २५६ ॥

प्रसङ्गतः भोगसे निवृत्ति कब होती है सो कहते हैं—

क्रियाके अन्तमें भोगसे उपरम होता है ॥ २५७ ॥

भोगकी निवृत्ति कब और कैसे सम्भव है, इस विषयमें भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि क्रियाके अन्त होने पर भोगसे निवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभक्रियासे ही शुभाशुभ संस्कार एवं शुभाशुभ संस्कारोंसे सुख-दुःखरूपी भोगोंकी उत्पत्ति होती है ; इस कारण यदि क्रियाका अन्त हो जाय तो भोगोंका अन्त हो जाना भी विज्ञान सिद्ध है। जैसे मूलका उच्छेद हो जानेपर वृक्षका रहना असम्भव है उसी प्रकार सुख-दुःखादि भोगोंका मूलक्रियाका अन्त हो जानेपर भोगोंका अन्त स्वतः हो जायगा ॥ २५७ ॥

क्रियान्ते तदुपरमः ॥ २५७ ॥

अब भोगके निवृत्तिका दूसरा प्रकार कहते हैं—

दूसरे प्रकारसे भी होता है ॥ २५८ ॥

अन्यथा अर्थात् दूसरे प्रकारसे भी भोगका उपरम होता है। भोगकी निवृत्तिका दूसरा प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति है, यदि किसी व्यक्तिको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाय और तत्त्वज्ञानके प्रभावसे वह निष्काम हो जाय तो उसे कर्मफल स्पर्श नहीं करता है। यथा—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

भगवद्गी० अ० ४ श्लो० १९-२३

अर्थात् जिसके सब कर्म फलाकांक्षासे रहित होते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके कर्म भस्म होगये हैं, उसको ज्ञानीगण पण्डित कहते हैं। जो कर्मफलकी आसक्तिसे शून्य वासनारहित

अन्यथा च ॥ २५८ ॥

होनेके कारण सदा आत्मामें ही तृप्त फल-सिद्धिरूप आश्रयसे रहित है, वह कर्म करते रहनेपर भी कुछ नहीं करता है। फल-कामनाहीन संयत-मन, संयतशरीर, सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करनेवाला व्यक्ति केवल शरीरसे कर्म करते रहनेपर बन्धन-को प्राप्त नहीं होता है। स्वतः प्राप्तलाभसे ही संतुष्ट, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, किसीसे वैर न करनेवाला तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान रहनेवाला व्यक्ति कर्म करके भी कर्मबन्धनमें नहीं बँधता है। ऐसे आसक्तिरहित राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे मुक्त ज्ञानमें स्थित और यज्ञके लिये ही कर्म करनेवाले महापुरुषके सब कर्म लीन हो जाते हैं॥ २५८॥

विषयको स्पष्ट करनेके लिये और भी कहते हैं—

वह प्रेतश्राद्धकी तरह असाधारण साध्य है॥ २५९॥

साधारणतः क्रियाके अन्तसे भोगका उपरम होता है; किन्तु ज्ञानादिसे भी उसका उपरम होता है, यह असाधारण अधिकार है। जिस प्रकार प्रेतत्वप्राप्त जीवकी प्रेतत्वोपयोगी कर्मोंका भोग होजानेपर प्रेतत्वसे निवृत्ति हो ही जाती है और साधारण रीति यही है, परन्तु कर्मपारदर्शी महर्षियोंने प्रेतत्वप्राप्त जीवोंकी कष्टमयी दशा जानकर उसकी निवृत्तिके लिये प्रेत-श्राद्धकी व्यवस्था भी की है और गयाश्राद्धादिसे निश्चित रूपसे जीवकी प्रेतत्वसे निवृत्ति होती है, यद्यपि यह क्रम साधारण नहीं असाधारण है, यह मानना ही होगा॥ २५९॥

सोऽसाधारणसाध्यः प्रेतश्राद्धवत्॥ २५९॥

भोगके उपरमके विषयमें भगवान् महर्षि सूत्रकार कर्त्तव्य-निर्देश कर रहे हैं—

रोगके समान उभय-निष्पाद्य है ॥ २६० ॥

जिस प्रकार कोई रोग होनेपर रोगीकी रोगकी शान्तिके लिये साधारण उपाय चिकित्सा पथ्य आदिकी व्यवस्था की जाती है, असाधारण उपाय दैवानुष्ठान एवं प्रायश्चित्त आदि भी किया जाता है, उसी प्रकार भोगके उपरमके लिये भी साधारणक्रिया तथा असाधारण ज्ञानादि उपायोंसे भोगकी निवृत्ति होती है। अतः दोनों प्रकारके पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २६० ॥

कर्मका स्वरूप समझानेके लिये कहते हैं—

व्यष्टि और समष्टि कर्म निमित्त है ॥ २६१ ॥

कर्मका रहस्य एवं उसका स्वरूप समझानेपर ही मनुष्य कर्मके फन्देसे बच सकता है, अतः कर्मका गम्भीर रहस्य समझानेके लिये ही पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि जितना भी सृष्टिप्रपञ्च दिखायी देता है, सबका कारण कर्म ही है। कर्मसे ही व्यष्टि तथा समष्टि-सृष्टि उत्पन्न होती है, कर्मके द्वारा ही दोनोंकी स्थिति होती है और कर्मके द्वारा ही उनका संहार होता है। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि, कर्म ही व्यष्टि-समष्टि सृष्टिका कारण है ॥ २६१ ॥

उभयनिष्पाद्यो रोगवत् ॥ २६० ॥

कर्मनिमित्ते व्यष्टिसमष्टी ॥ २६१ ॥

और भी कहते हैं—

आद्या अर्थात् पहली भोगवैचित्र्यमयी है ॥ २६२ ॥

आद्या अर्थात् पहली व्यष्टि-सृष्टिमें भोगवैचित्र्य है। तात्पर्य यह है कि व्यष्टिमें भोगोंकी विचित्रता होती है। जितने प्रकारके प्राणी होते हैं, सबके स्वभाव, प्रकृति, भोग आदि विलक्षण होते हैं ॥ २६२ ॥

प्रसङ्गतः पुनः कहते हैं—

इस कारण भूतसंघकी योनिकी अनन्तता है ॥२६३॥

भूतसंघकी योनियाँ केवल चार हैं। यथा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज। इन्हींमें मनुष्ययोनि भी आजाती है, परन्तु उद्भिज्जकी लाखों जातियाँ हैं, स्वेदजकी भी लाखों जातियाँ हैं, उसी प्रकार अण्डजकी भी लाखों श्रेणियाँ हैं और मनुष्ययोनिके पहले जरायुज योनिकी भी लाखों जातियाँ हैं। ये ही सब मिलकर चौरासी लक्ष योनियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्ययोनिमें आकर पापफल भोगके लिये जीव इन योनियोंमें जाता रहता है अतः ये योनियाँ अनन्त हो जाती हैं ॥ २६३ ॥

और भी कहते हैं—

चक्राधिकारी जीवोंके भोगमें पार्थक्य होता है ॥२६४॥

मनुष्ययोनिमें आनेके पहलेकी योनियोंका भोग प्रायः समान

भोगवैचित्र्यमाद्या ॥ २६२ ॥

तस्माद्भूतसङ्घयोनेरनन्तता ॥ २६३ ॥

चक्राधिकारिजीवभोगपार्थक्यम् ॥ २६४ ॥

ही होता है, जैसे पशुयोनिमें सभी गोजातिका भोग समान है सिंहोंके भोग समान हैं। इसी प्रकार पक्षी-योनि, कीट-पतङ्गकी योनियोंका भोग एक समान हैं। इनके आहार-विहार सबके एक जैसे ही होते हैं; परन्तु मनुष्य-योनिमें आकर इसमें भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्ययोनिमें आकर जीव अपने पिण्डका अधीश्वर बन जाता है और पूर्णावयव होनेसे अपनी-अपनी वासनाके अनुसार नानाप्रकारके शुभाशुभकर्मोंका संग्रह करता है। अतः सबके कर्म भी भिन्न प्रकारके होते हैं और कर्म भिन्न-भिन्न होनेसे उनके भोग भी पृथक् पृथक् होते हैं। इसी मनुष्ययोनिके जीव आवागमनचक्रके अधिकारी होते हैं। मनुष्येतर योनियोंके जीव आवागमनचक्रके अधिकारी नहीं होते हैं॥ २६४॥

उससे क्या होता है, सो कहा जाता है—

इसलिये कर्मविपाक अपेक्षित हैं॥ २६५॥

मनुष्ययोनिमें आकर मनुष्य अपने पिण्डका सम्पूर्णरूपसे अधीश्वर बन जाता है, अतः यहाँ आकर वह आवागमनचक्रका अधिकारी बनता है। इससे पहलेकी योनियोंमें मृत्युके अनन्तर जीवको उसके पूर्वयोनिके ऊपरकी योनि प्राप्त होती है, वह आवागमनचक्रका अधिकारी नहीं होता है। इसी कारण महर्षि-सूत्रकारने केवल मनुष्ययोनिके जीवोंके लिये 'चक्राधिकारी' शब्दका प्रयोग किया है। चक्राधिकारी मनुष्योंके विविध कर्मोंके

अतोऽपेक्ष्यः कर्मविपाकः॥ २६५॥

अनुसार उसके भोगमें पार्थक्य होता है, यह पहले कहा गया है। अब महर्षिसूत्रकार कहते हैं कि इसी कारण कर्मविपाककी अपेक्षा है। तात्पर्य यह है कि, देवता, मनुष्य, प्रेत-पशु-कीटपतङ्ग आदि ऊँच-नीच योनियोंका भोग शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम अपेक्षित होता है॥ २६५॥

विज्ञानकी दृढ़ताके लिये पुनः कहते हैं—

उपासकोंको उपासनाद्वारा उर्ध्वलोककी प्राप्ति होनेपर भी पुनः इस लोकमें भोग होता है॥ २६६॥

महर्षिसूत्रकार कर्मविपाककी विलक्षणता दिखानेके लिये पुनः कहते हैं कि उपासकोंको उपासनाके बलसे उर्ध्वलोककी प्राप्ति होनेपर भी इस मृत्युलोकमें भोग होता है। तात्पर्य यह है कि उपासनाके द्वारा जनलोक, महर्लोक, तपोलोक आदि उपासनाके उर्ध्वलोकोंको प्राप्त करनेपर भी पुनः इस मृत्युलोकमें जन्म और भोग होता है॥ २६६॥

अब प्रसङ्गतः भोगका क्रम कहते हैं—

अल्प और अधिकमें अल्पका भोग पहले होता है॥ २६७॥

कर्मभोगके विज्ञानको समझानेके लिये पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है और कहते हैं कि पुण्य एवं पाप कर्मोंमें जो न्यून होता है, उसका भोग पहले होता है

उपासकानामुपास्त्योर्द्धलोकलाभेऽपि कर्मविशेषात्पुनरिह भोगः॥२६६॥

अल्पाधिकयोरल्पस्य प्राग्भोगः॥ २६७॥

जो अधिक होता है, उसका भोग पीछे होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि यदि किसी व्यक्तिका पुण्य अधिक है और पाप कम है, तो उसको पहले पापका फल भोगाया जाता है और यदि किसी मनुष्यका पाप अधिक है, पुण्य कम है, तो उसे पहले पुण्यका फल भोगाया जाता है। इसका प्रमाण महाभारतमें मिलता है। जब धर्मराज युधिष्ठिरको व्याजसे नरकका दर्शन करानेके लिये नरकमें लेजाया गया, तब उन्होंने अपने भाइयोंको नरकमें देखा। जब उन्होंने पूछा कि हमारे इतने धर्मात्मा भाई नरकमें क्यों पड़े हैं और दुर्योधन आदि कौरव स्वर्गमें क्यों गये हैं ? उस समय उनको यही उत्तर दिया गया है यथा—

पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात् स्वर्गमुपैति सः ।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥
तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सूतं प्रति ॥
व्याजेनैव ततो राजन्! दर्शितो नरकस्तव ।

(स्व० प० तृतीय अध्याय श्लो० १४।१५।१६)

अर्थात् जो पहले नरक भोगता है, वह पीछे स्वर्ग प्राप्त करता है, जिसका पाप अधिक होता है, वह पहले स्वर्ग भोगता है; इसी कारण आप मेरे द्वारा लाये गये। व्याजसे आपने द्रोणको पुत्रके प्रतिवञ्चित किया था, इस कारण व्याजसे ही आपको नरकका दर्शन कराया गया ॥ २६७ ॥

वैचित्र्य होनेसे पूर्णता कैसे सम्भव है ? सो कहते हैं—

वैचित्र्य होनेपर भी समयपर पूर्णता होती है ॥ २६८॥

मनुष्ययोनिकी विचित्र अवस्था, विचित्र भोग, आवागमन-चक्रमें नानाविधिकी ऊँच-नीच गतियाँ हुआ करती है, ऐसी स्थितिमें पूर्णता कैसे सम्भव है, यह शङ्का स्वाभाविक होती है, जिज्ञासुओंकी इस श्रेणीकी शंकाके समाधानके लिये भगवान्-सूत्रकार कहते हैं कि विचित्रता होनेपर भी समयपर शक्तिकी पूर्णताका अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्णताका अवसर मनुष्ययोनिके अतिरिक्त किसी अन्ययोनिमें नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ २६८ ॥

पूर्णता कैसे होती है, सो कहते हैं—

त्रिविध शुद्धिसे पूर्णताकी प्राप्ति होती है ॥ २६९ ॥

पूर्णताका अवसर प्राप्त होता है, यह जाननेपर यह भी जिज्ञासा स्वतः होती है कि पूर्णता कैसे होती है, उसका क्रम क्या है। अतः महर्षिसूत्रकार कहते हैं कि त्रिविध-शुद्धिसे पूर्णता प्राप्त होती है, तात्पर्य यह है कि पूर्णताप्राप्तिके लिये आध्यात्मिक शुद्धि, आधिदैविक शुद्धि और आधिभौतिक शुद्धि होना आवश्यक है। विना इन त्रिविध शुद्धियोंके पूर्णता सम्भव नहीं है ॥ २६९ ॥

वैचित्र्येऽपि पूर्णता सत्यवसरे ॥ २६८ ॥

त्रिविधशुद्धौपूर्णत्वम् ॥ २६९ ॥

इसके अभावमें क्या होता है सो कहते हैं—

विपरीत होनेसे अनार्यके अभिषेककी तरह विपरीत होता है ॥ २७० ॥

इससे पहले सूत्रमें महर्षिसूत्रकारने पूर्णताप्राप्तिका उपाय बतलाया है। अब वे कहते हैं कि यदि त्रिविध शुद्धि नहीं हुई तो अनार्योंके अभिषेककी तरह विपरीत फल होगा अर्थात् अपूर्णता बनी रहती है। अतः पूर्णत्व सम्पादनके लिये त्रिविध शुद्धि अनिवार्यरूपेण अपेक्षित है ॥ २७० ॥

व्यष्टि वैचित्र्यप्रतिपादित करके अब समष्टि वैचित्र्यका प्रतिपादन करनेके लिये कहा जाता है—

दूसरी अर्थात् समष्टि लोकोंकी (सृष्टि) वैचित्र्यमयी होती ॥ २७१ ॥

व्यष्टि सृष्टि किस प्रकार विचित्रतापूर्ण होती है, इसका वर्णन ऊपर किया जाचुका है, अब पूज्यपाद सूत्रकार कहते हैं कि चतुर्दशभुवनमय लोकोंकी सृष्टि भी वैचित्र्यमयी हुआ करती है; क्योंकि समष्टि सृष्टिरूपी लोकोंका निर्माण जीवोंके समष्टि कर्मों द्वारा होता है अतः उसमें भी वैचित्र्य होना विज्ञान-सिद्ध है ॥ २७१ ॥

वैपरित्ये वैपरित्यमनार्याभिषेकवत् ॥ २७० ॥

लोकानामितरा ॥ २७१ ॥

वैचित्र्यका स्वरूप निर्देशके लिये कहते हैं—

आधार और आधेयमें वैचित्र्य होनेसे ॥ २७२ ॥

समष्टि सृष्टिमें आधार अर्थात् तत् तत् लोकों एवं आधेय अर्थात् उनमें रहनेवाले जीवोंमें वैचित्र्य होता है, इस विषयका दिग्दर्शन करानेके लिये महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। व्यष्टि जगत्के वैचित्र्यमें जीवोंकी प्रधानता रहती है, परन्तु समष्टिजगत्में आधाररूपी लोकोंकी प्रधानता रहती है। लोकोंके अनुसार उनके आधेय जीवोंकी स्थिति होती है यही विशेषता है ॥ २७२ ॥

उसका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं—

वह गृहस्थाश्रमके समान सबका आश्रय है ॥ २७३ ॥

चतुर्दशभुवनोंमेंसे नीचेके जो सात असुरलोक हैं, वे गौण हैं; इसका कारण यह है कि, सृष्टि, स्थितिलय क्रियामें देवताओं का ही प्राधान्य है, आसुरी शक्ति केवल सृष्टि सामञ्जस्यके लिये व्यवहृत होती है। जिस प्रकार छायाके बिना ज्योतिका महत्त्व नहीं समझमें आसकता है, उसी प्रकार असुरोंके बिना न देवताओंका महत्व समझा जासकता है और न देवतागण अपने प्रमादसे बचकर अपनी मर्य्यादापर स्थित रह सकते हैं। जहाँ पदकी शक्ति है, वहाँ उस शक्तिका अपलाप भी होना सम्भव है। यदि असुरलोकके असुरगण नाना प्रकारके देवभोगसे युक्त

आधाराधेयवैचित्र्यात् ॥ २७२ ॥

स सर्वाश्रयो गार्हस्थ्याश्रमवत् ॥ २७३ ॥

होकर अलौकिक आसुरी शक्तियोंको धारण करके निरन्तर देवताओंका छिद्रान्वेषण नहीं करते और दैवराज्यको छीननेमें प्रयत्नशील न रहते, तो कदापि देवतागण अपनी दैवीशक्तियोंको धारण करके सावधान हो, अपना पदगौरव स्थायी नहीं रख सकते। देवलोककी पवित्रता, देवताओंका सदाचार, धर्मरक्षामें देवताओंकी सहायता, कर्मके नियामक होनेमें उनकी योग्यता और उनका प्रमादराहित्य होना केवल असुरोंके अस्तित्वपर ही ही निर्भर करता है। अतः शुभभोगका आयतन असुरलोक और देवलोक दोनों ही होनेपर भी सप्त असुरलोकोंसे सप्त देवलोक प्रधान है और सप्त देवलोकोंमेंसे भूलोककी प्रधानता है। क्योंकि वह चारो आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमके समान सबका आश्रय स्थल है। यदि गृहस्थाश्रम न रहे, तो जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यास आश्रम, इन तीनों आश्रमोंका निर्वाह कदापि नहीं हो सकता; ठीक उसी प्रकार चारो भेदोंसे युक्त भूलोक यदि न रहे तो सब असुरलोक और देवलोक शृंखलारहित और भ्रष्ट हो जायँगे। भोगको सामयिक होता है, उस सामयिक क्रियाके अनन्तर जीवका पतन और पुनरावृत्ति कर्मभूमि मृत्युलोकमें होती है। मृत्युलोकमें पुनः उसको उत्तम कर्मसंग्रह करनेका अवसर मिलता है। अन्य किसी लोकमें नहीं मिलता है और उसको तिरस्कार और पुरस्कार देकर सन्मार्गमें लानेके लिये प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक हैं। इस प्रकारसे भूलोकका जीव ही अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग सरल करता

है और साथ ही साथ अन्य सब लोकोंका पुष्टिसाधन करता है। अतः चतुःशक्तियुक्त भूलोक अन्य सब लोकोंका आश्रयस्थल है, इसमें सन्देह नहीं और यही कारण है कि, वेद और पुराणोंमें इन चारों लोकोंसे युक्त भूलोकका ही अधिकतर वर्णन पाया जाता है ॥ २७३ ॥

अब मृत्युलोककी महिमा कही जाती है—

मृत्युलोक कर्मभूमि होनेके कारण केन्द्र है ॥ २७४ ॥

जिस प्रकार चतुर्दशभुवनोंमें भूलोकका प्राधान्य है, उसी प्रकार भूलोकमें मृत्युलोकका प्राधान्य है। इस कारण प्रकारान्तरसे समस्त ब्रह्माण्डभरमें मृत्युलोकका महत्त्व है। वस्तुतः मृत्युलोक आवागमनचक्रका केन्द्र होनेके कारण जीव जब तक मुक्त न हो, तब तक उसको घूम घूमकर बार बार मृत्युलोकका आश्रय लेना पड़ता है। चाहे उन्नतसे उन्नत असुरलोकका जीव हो और चाहे उन्नत से उन्नत देवलोकका जीव हो, उसके शुभ कर्मविपाकके अनन्तर उसको अवश्य ही मृत्युलोकमें आना पड़ेगा और पुनः यथायोग्य कर्मसंग्रहके अनन्तर इसी मृत्युलोकसे उसको अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग प्राप्त होता है। विना बाधाके शुभाशुभ कर्म करने और संस्कार संग्रहकरनेका यथार्थ अवसर केवल इसी मृत्युलोकमें ही जीवको मिलता है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, मृत्युलोक ही ब्रह्माण्डभरका केन्द्र है और यही इसका सर्वोपरि प्राधान्य है ॥ २७४ ॥

मृत्युलोकः केन्द्रं कर्मभूमित्वात् ॥ २७४ ॥

और भी महत्त्व कहा जाता है—

चतुर्दशभुवनके भोगोंसे पूर्ण होनेसे भी ॥ २७५ ॥

मृत्युलोकमें एक जाज्वल्यमान विशेषता यह है कि, चतुर्दशभुवनोंमें जितने शुभ अशुभ भोग हैं, उन सबोंका आदर्श (नमूना) इस मृत्युलोकमें पाया जाता है। राजाओंके स्वर्गीय सुखभोग, दरिद्रोंके नाटकीय दुःखभोग, उन्मादग्रस्त व्यक्तिका प्रेतत्व दुःखभोग, आसुरी सम्पत्तिके सुकृतशाली व्यक्तियोंके लिये आसुरी सुखभोग, दैवी सम्पत्तिके सुकृतशाली व्यक्तियोंके ऊद्ध्र्वलोकोंके सदृश सुखभोग, मृत्युलोकके इन सब उदाहरणोंसे यह भलीभांति प्रतीत होगा कि चतुर्दशभुवनोंके शुभाशुभ सब श्रेणीके लोकोंके सदृश सब प्रकारके कर्मविपाकोंका सादृश्य इस मृत्युलोकमें पाया जाता है। इस भोग वैचित्र्यका सादृश्य ब्रह्माण्डके अन्य किसी लोकमें नहीं पाया जाता है। यह विशेषता स्वतः सिद्ध है ॥ २७५ ॥

प्रसंगसे आर्य्यावर्त्तकी महिमा कही जाती है—

उसमें त्रिविध शुद्धिके कारण आर्य्यावर्त्तका प्राधान्य है ॥ २७६ ॥

जिस प्रकार एक ब्रह्माण्डमें भूलोककी प्रधानता है, जिस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डमें मृत्युलोक केन्द्र समझा जाता है, उसी प्रकार इस मृत्युलोकमें आर्य्यावर्त्तकी प्रधानता है। क्योंकि

चतुर्दशभुवनभोगपूर्णत्वाच्च ॥ २७५ ॥

तत्र त्रिविधशुद्धितः प्राधान्यमार्य्यावर्त्तस्य ॥ २७६ ॥

आर्य्यावर्त्त शरीरमें मस्तकके समान उत्तमांग समझा जाता है। उसमें त्रिविध शुद्धि होनेसे उसकी यह प्रधानता है। आर्य्यावर्त्त के प्रमाणके सम्बन्धमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

पूर्व समुद्रसे लेकर और पश्चिम समुद्रतक विन्ध्याचल और हिमालयके मध्यको पण्डित लोग आर्यावर्त्त कहते हैं।

इस लक्षणमें जब पूर्वसमुद्र और पश्चिम समुद्रका प्रमाण मिलता है, और दक्षिणमें विन्ध्यगिरिके होनेका प्रमाण मिलता है, तो जो विन्ध्याचल पर्व्वत मध्यभारतमें है, उस पर्व्वतसे यह विन्ध्यगिरि अलग है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। जो विन्ध्यगिरि पर्व्वत नीलगिरिके साथ संश्लिष्ट है, और सेतुबन्धकी ओर सुदूर दक्षिण प्रान्तमें समुद्रके निकट है, उसी विन्ध्य पर्व्वतसे इस श्लोकमें कथित विन्ध्य पर्वतका सम्बन्ध है। जिस प्रकार नील पर्व्वत उडीसामें भी है, और उत्तराखण्डमें भी है, उसी प्रकार विन्ध्य पर्व्वत मध्यभारतमें भी है, और दक्षिण भारतमें भी है। तात्पर्य यह है कि, उत्तरमें पर्व्वतराज हिमालय, दक्षिणमें दक्षिण समुद्रके तटस्थ विन्ध्य पर्व्वत, पूर्वमें वंगीयसागर और पश्चिममें अरबीय सागर जिस देशकी सीमा है, और जिस देशको वर्त्तमान समयमें भारतवर्ष कहते हैं, वही देश आर्यावर्त्त कहाता है। इस देशमें पृथ्वीके अन्य देशोंकी अपेक्षा त्रिविध शुद्धि वर्त्तमान है। भारतवर्ष-में चारों जातिकी पृथिवी विद्यमान है, छः ऋतु अपने समय

पर उदय होते हैं, तथा प्रत्येक समयमें भी छः‌ओं ऋतु विद्यमान रहते हैं। यथा हिमालयमें शीत ऋतु, दक्षिणमें वसन्तऋतु, मरुस्थलमें ग्रीष्मऋतु कामाख्याप्रान्तमें वर्षाऋतु इत्यादि। सब रंगके मानवपिण्ड, सब अवस्था और श्रेणीके सहजपिण्ड सब जातिकी वनस्पति और ओषधि, सब श्रेणीके रत्न और धातु इस पवित्र भूमिमें उपलब्ध हैं। ये सब आधिभौतिक शुद्धिके लक्षण हैं। नाना तीर्थ और नाना पीठोंसे पूर्ण होनेके कारण और ब्रह्मप्रवाहरूपिणी पतितपावनी पूतसलीला जान्हवीके द्वारा पवित्रा होनेके कारण यह भूमि आधि-दैविक शुद्धिसे युक्त है। और इस भूमिमें आत्मज्ञानका विशेष अवसर रहनेके कारण तथा मुक्तिके क्षेत्र होनेके कारण इसकी आध्यात्मिक शुद्धि स्वतः सिद्ध है। यथा स्मृतिशास्त्रमें कहा गया है—

मन्ये विधात्रा जगदेककाननं विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम्।
धर्म्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्र वै कैवल्यरूपञ्च फलं प्रचीयते॥

यह मैं जानता हूँ कि इस संसारमें ब्रह्माने भारतवर्षरूपी सुन्दर एक बन निर्माण किया है जिस बनमें धर्मरूपी पुष्प अनेक हैं और मुक्तिरूपी फल मिलता है।

और भी कहा जाता है—

ज्ञानक्षेत्र होनेसे वह मस्तक है॥ २७७॥

आर्य्यवर्त्तकी दूसरी विशेषता यह है कि, आर्य्यजातिकी यह आदि आवास भूमि होनेके कारण और जीवसृष्टिका प्रारम्भ

त मूर्द्धन्यो ज्ञानक्षेत्रत्वात्॥ २७७॥

इसी भूमिसे होनेके कारण ज्ञानका विकाश इसी पवित्र भूमिसे हुआ है और होगा। इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस भूमिपर जितने मनुष्य हैं उन्होंने इस भारतवर्षमें उत्पन्न हुये ब्राह्मणोंसे अपने-अपने आचारकी शिक्षा पाई है।

सृष्टिका प्रारम्भ, मनुष्यजातिकी आदिनिवासभूमि, वेदका आविर्भाव, त्रिविध शुद्धिकी पूर्णता, वर्णाश्रमधर्म-संरक्षणके कारण चतुर्वर्गके अधिकारका अस्तित्व और आत्मज्ञानका सदाविकाश रहना इस विज्ञानकी पुष्टिका ज्वलन्त प्रमाण है॥ २७७॥

महत्त्वका और भी प्रमाण दिया जाता है—

यहाँके अन्त्यजोंका भी अन्यसे विशेषता है॥२७८॥

चतुर्विध भूतसंघसे मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्योंमें धर्माधर्म विचारशील सभ्यजाति श्रेष्ठ है। सभ्यजातियोंमें आत्मा अनात्माका विचार रखनेवाला, और दैवजगत् पर विश्वास रखकर परलोकमें श्रद्धा रखनेवाला, तथा सब विषयमें आत्मा पर लक्ष्य रखनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ समझा जाता है। पृथिवीके अन्य जितने देश हैं, वहाँ आधिभौतिक लक्ष्य प्रधान होनेके कारण वहाँके मनुष्यजाति निम्न श्रेणीकी तो बात ही क्या है, वहाँके उच्च-मनुष्य-समाजमें भी ये सब लक्षण नहीं मिलते हैं, परन्तु आर्य्यावर्त्तके

एतदन्त्यजस्यापि वैशिष्ट्यमितरेभ्यः॥ २७८॥

असत् शूद्र और अन्त्यजोंमें भी ये सब लक्षण विद्यमान हैं। यह भी महिमाका परिचायक है ॥ २७८ ॥

और भी दैवकारण कहा जाता है—

पतनके समय देवतागण भी यहाँ जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ॥ २७६ ॥

स्वर्गादि सब भोग लोक हैं, वहाँ कर्म करनेका अवसर बहुत कम मिलता है, और कर्म-विपाकका ही अवसर अधिक मिलता है। इस कारण जो उन्नत श्रेणीके देवता ऐश कर्मके द्वारा दैवराज्यमें क्रमोन्नति करनेके योग्य हों, उनके अतिरिक्त सबको स्वर्ग सुखभोगके अनन्तर पुनः कर्म करनेका सुअवसर प्राप्त करनेके लिये मृत्युलोकमें आना पड़ता है। आर्य्यावर्त्तके पूर्व कथित महत्त्वको जानकर ऐसे देवलोकवासियोंकी इच्छा इस आर्य्यावर्त्तमें जन्मग्रहण करनेकी हुआ करती है। जब उनके शुभ कर्मजनित स्वर्गभोग समाप्त होता है, उस समय स्वर्गसे उनका पतन होते समय उनमेंसे जो विचारवान् होते हैं, वे ऐसे ही इच्छा करते हैं कि, आर्य्यावर्त्तमें उनका जन्म हो। यथा स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि।
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ॥
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते।
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ १ ॥

दैवैरप्यत्र जन्मेष्यते ॥ २७६ ॥

कर्माण्यसङ्कल्पित-तत्फलानि।
संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते॥
अवाप्य तां कर्म महीमनन्ते।
तस्मिंल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥ २॥
जानीमनैतत्क्व वयं विलीने।
स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धनम्॥
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः।
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः॥ ३॥

—विष्णुपुराण

देवगण भी भारतवर्षमें जन्म लेनेके लिये तरसते हैं क्योंकि यहाँके निवासी अपने कर्मके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष दोनोंको प्राप्त कर सकते हैं॥ २७९॥

और भी—

वर्णाश्रमकी पूर्णता होनेके कारण यहाँ पितरोंका विशेष सम्वर्द्धन होता है॥ २८०॥

देवताओंका विशेष सम्बन्ध महर्षिसूत्रकार इस भूमिके साथ दिखाकर अब पितरोंका सम्बन्ध दिखा रहे हैं, और कहते हैं कि, अर्य्यमा आदि पितरोंका एक विलक्षण सम्बन्ध इस भूमिके साथ है। नित्यपितर एक श्रेणीके देवता हैं। इस ब्रह्माण्डके आधिभौतिक क्रियाके वे अधिष्ठाता हैं। आर्य्यजातिका चिरस्थायी होना नित्य पितरोंकी कृपा पर ही निर्भर होता है, और वर्णाश्रम मानने-

पितृणामधिकसम्वर्द्धनमत्र वर्णाश्रमपूर्णत्वात्॥ २८०॥

वाली आर्य्यजाति किस प्रकार इस मृत्युलोकमें अन्य अनार्य्य-जातियोंकी अपेक्षा चिरस्थायी रहती है, इसका विस्तारित वर्णन पहले किया गया है। जब वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मनुष्यजातिकी आधिभौतिक शुद्धि हुआ करती है, जब रजोवीर्य्यशुद्धि मूलक वर्णधर्म पितरोंकी प्रसन्नताका कारण होता है, और पितरोंकी कृपासे ही मनुष्यजाति क्षणभङ्गुर मृत्युलोकमें चिरस्थायी हो सकती है तथा वह प्रसन्नता वर्णाश्रमधर्मकी पूर्णता पर निर्भर करती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, मृत्युलोकमें केवल आर्य्यावर्त्तमें ही वर्णाश्रमधर्मका पूर्ण विकास है, इस कारण पितरोंकी विशेष-कृपा प्राप्त करके आर्य्यावर्त्त विशेषत्व लाभ करता है, इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यावर्त्तमें जैसा वर्ण एवं आश्रमकी व्यवस्थाकी पूर्णता है, वैसी पृथिवीपर कहीं अन्यत्र देखनेमें नहीं आती है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। इस कारण आर्य्यावर्त्तकी विशेषता स्वतः सिद्ध है॥ २८०॥

और भी महत्त्व कहा जाता है—

श्राद्ध सम्बन्ध होनेसे भी॥ २८१॥

मृतात्माकी श्राद्ध करनेकी प्रणाली केवल वर्णाश्रममाननेवाली आर्य्यावर्त्तवासिनी आर्य्यजातिमें ही प्रचलित है। श्राद्धरूपी पितृयज्ञ द्वारा केवल पितृलोकका ही सम्वर्द्धन नहीं होता है, किन्तु नरकलोक और प्रेतलोकवासी आत्माओंका भी कल्याण होता है। भुव, स्व आदि ऊर्द्धलोक और अतल, वितल आदि अधोलोक,

---

श्राद्धसम्बन्धाच्च॥ २८१॥

इनसे मृत्युलोकका पूर्ण सम्बन्ध रहने पर भी ऐसा सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि पितृलोक, नरकलोक और प्रेतलोकसे है। अधिक सुख-भोग करनेवाले जीव जो अधिक समयके लिये लोकान्तरमें जाते हैं, अथवा जो देवता और असुर बन जाते हैं, वे ही पूर्वकथित देव और असुरलोकमें प्रायः वास करते हैं। परन्तु भूलोकके मृत्यु-लोक, प्रेतलोक, नरलोक और पितृलोक ये चार अङ्ग होनेके कारण प्रधानतः जीव इन्हीं चारोंमें घूमा करते हैं। पितृलोक सुखभोगका लोक है, मृत्युलोक मिश्रभोगका लोक है, और अन्य दोनों लोक दुःखभोगके लोक हैं। और चारों लोकोंके जीवोंका परस्परमें बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और आकर्षण भी रहता है। श्राद्धादि पितृयज्ञ द्वारा परलोकगामी आत्माको दुःखकी निवृत्ति और अभ्युदयकी प्राप्तिमें बड़ी सहायता मिलती है, इस कारण वे बाधा-रहित होकर उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकते हैं। दूसरी ओर पितृयज्ञ द्वारा नित्य पितृगण भी प्रसन्नता लाभ करके सृष्टिकी आधिभौतिक उन्नतिमें तत्पर हो सकते हैं। सुतरां शास्त्रोक्त श्राद्धयज्ञ जब आर्य्यावर्त्तमें ही प्रचलित है, तो पूर्व कथित सहायता करनेसे आर्य्यावर्त्तकी विशेष महिमा है इसमें सन्देह नहीं॥ २८१॥

प्रसङ्गसे श्राद्धका विज्ञान कहा जा रहा है—

श्राद्ध श्रद्धामूलक होता है॥ २८२॥

प्रथम विश्वास, तदनन्तर श्रद्धा और तदनन्तर सत्य अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यह दार्शनिक स्थिर सिद्धान्त है। प्रथम

श्रद्धामूलकं श्राद्धम्॥ २८२॥

सूक्ष्मलोकों पर तथा दैवीशक्तियों पर और वेदोक्त कर्मकाण्डपर विश्वास रखनेपर मनुष्य श्राद्ध करनेका अधिकारी होता है। जिस मनुष्यजातिमें इस प्रकार सूक्ष्मलोक दैवीशक्ति और विहित कर्मकाण्ड पर स्थिर विश्वास न हो, उस जातिमें श्राद्धका प्रचार असम्भव है। इसी कारण अनार्य्यजाति अथवा नास्तिक मनुष्य श्राद्धका महत्त्व हृदयङ्गम नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार दृढ़ विश्वास होनेपर मनुष्यके हृदयमें श्रद्धाका उदय होता है। स्थिर विश्वाससे जो अनुराग मूलक ऐकान्तिकी चित्तकी धारा उत्पन्न होती है, उसको श्रद्धा कहते हैं। पुनः श्रद्धा सात्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे त्रिविध होती है। त्रिगुणात्मक त्रिविध अन्तःकरण ही इस त्रिभेदका कारण है। इन तीनोंमें शक्ति और उपकारका अवश्य ही तारतम्य है, परन्तु ये तीनों अधिकारी ही श्राद्धादि कर्मकाण्डके अधिकारी होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। इस अलौकिक श्रद्धाशक्ति द्वारा मनुष्यके पाचों कोषोंपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि श्रद्धाकी असाधारण शक्तिसे पाचों कोषोंमें बड़ा भारी परिवर्त्तन हो सकता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि श्रद्धावान् मनुष्य अशुभसे शुभ-दर्शन, तेजहीनसे तेजस्वी होकर अपने अन्नमयकोषमें सब कुछ परिणाम उत्पन्न कर सकता है। श्रद्धालुयोगी इसी शरीरसे विश्वामित्रकी तरह क्षत्रियसे ब्राह्मण और नन्दीश्वरकी तरह मनुष्यसे देवता बन सकता है। ये सब अन्नमयकोषके परिवर्त्तनका उदाहरण हैं। श्रद्धावान्भक्त अपने अन्तःकरणकी प्रेरणासे अपने प्राणमयकोषको

विस्तृत करके अपने इष्टलोकमें मानस उपचारोंको पहुँचाकर अपने इष्टकी पूजा कर सकता है। इसी प्राणमयकोषकी क्रियाके द्वारा सिद्धिसम्पन्न साधक दूसरेके शरीरमे प्रभाव डाल सकता है। इसी शैलीपर श्रद्धामूलक मनोमयकोष और विज्ञानमयकोषकी क्रियाओंका अलौकिक वर्णन योगदर्शनके तृतीयपादमें है। इस श्रद्धाका प्रभाव इतना महत् है कि, अन्तमे श्रद्धाजनित आवरण शुद्धि द्वारा ज्ञानी अपने कारणशरीरका छेदन करके मुक्त हो जाता है। ऐसी त्रिलोकपवित्रकारिणी अलौकिकश्रद्धाके प्रभावसे पितृयज्ञका कर्त्ता द्रव्यशुद्धि और क्रियाशुद्धि तथा मन्त्रशुद्धि द्वारा अपने संकल्पित पदार्थराशि और भावराशिके भी लोकान्तरमे प्राणमयकोष और मनोमयकोषकी सहायतासे पहुँचाकर मृतात्माकी दुःख निवृत्ति तृप्ति और उसके अभ्युदयका कारण उत्पन्न करता है। यही श्राद्धका अलौकिक रहस्य है। श्राद्धक्रियामे विश्वास, संयम और मानसिक बल ये तीनो कारण हैं। द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धि ये तीनों उपकरण हैं और श्रद्धा सब सफलता की भित्ति है॥ २८२॥

उसका प्रथम फल कहा जाता है—

इससे उभय प्रकारके पितरोंका सम्वर्द्धन होता है॥२८३॥

पितर दो श्रेणीके होते हैं। एक नित्यपितर और दूसरे नैमित्तिक पितर। अर्य्यमा अग्निष्वात्ता आदि नित्यपितर कहाते हैं। ये सब नित्य देवपद है; जैसा इन्द्रपद, यमपद, वसुपद आदि

उभयपितृसम्वर्द्धनमेतेन ॥ २८३ ॥

नित्यपद है ऐसे यह भी है, इनके पदधारी बदलते रहते हैं, पद नहीं बदलता है। ये सब देवता पद हैं। नैमित्तिक पितर वे कहाते हैं, कि जो आत्माएँ मृत्युलोकमें अपने स्थूलशरीरको छोड़कर सीधे पितृलोकमें जाते हैं, अथवा प्रेतलोक और नरकलोक होकर जाते हैं और पुनः आवागमनचक्रके द्वारा मृत्युलोकमें आकर जन्म लेते हैं। जिस प्रकार असुरलोकके राजा असुरराज और देवलोकके राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार पितृलोकके राजा धर्मराज यम हैं। भूलोकके चारों विभाग उनके अनुशासनके अन्तर्गत माने जाते हैं प्रत्येक जीव जो भूलोकसे बाहर नहीं चला जाता है, उसको अवश्य ही पितृलोकमें यमराजके राजसिंहासनके निकट उपस्थित होना पड़ता है। इस कारण अनार्य्यजाति उन्हींको परमेश्वर करके मानती है; क्योंकि जो अन्य देवलोक आदिमें अपने उग्र-पुण्य कर्मके प्रभावसे चला जाता है, उसकी गणना साधारण श्रेणीमें नहीं होती है, साधारण आत्माएँ चाहे पुण्यात्मा हो, उनको यमराजके राजसिंहासनके निकट उपस्थित होना पड़ता है, और उन्हींकी आज्ञासे उनको फल भोगना पड़ता है। भेद इतना ही है कि, परलोकगामी आत्माएँ जो पुण्यात्मा होती हैं, वे सीधी यमलोकमें पहुँचाती हैं, और वहाँ उनका स्वागत होता है। और जो पापात्मा होती हैं और प्रेतत्व अथवा नरकयन्त्रणा भोगने योग्य होती हैं, वे सीधी नहीं पहुँचती हैं, वे पीछे पहुँचती हैं, अथवा यदि पहले ही पहुँचती हैं, तो यमराजके दर्शन नहीं होते। ऐसा प्रमाण कि यमराजधानीमें पहुँचते ही पुण्यात्माको राजदर्शन

होते हैं, और पापात्माको केवल राजाज्ञा सुना दी जाती है। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न आचार्य्योंकी यह भी सम्मति है कि मृत्युलोकका राजदण्ड यमदण्डके समान है। इसका कारण यह है कि, यमराज ही राजा अथवा राजप्रतिनिधिके अन्तःकरणमें प्रवेश करके राजदण्ड दिया करते हैं। अतः भूलोकके चारों विभागोंमें धर्मराज यमका समान अधिकार है। और वे धर्मराज इस कारण से कहाते हैं कि, धर्माधर्म संग्रहका भूलोक ही प्रधान केन्द्र है और वे ही इसके राजा हैं। धर्मराजके महिमाज्ञानके बिना उभयविध पितरोंका सम्वर्द्धन कोई मनुष्यजाति कर ही नहीं सकती और न कोई पितृयज्ञ ही पूर्ण हो सकता है। आर्य्यावर्त्त दोनों श्रेणीके पितरोंका सम्वर्द्धन करनेवाला है। आर्य्यजातिका वेद और शास्त्र दैवजगत्के इस रहस्यको भलीभाँति प्रकाशित करता है, इस कारण धर्मराज यमकी यथार्थ महिमा इस भूमिमें प्रकट है और पंचमहायज्ञ, पितृयज्ञ, तर्पण और श्राद्धादिके द्वारा दोनों श्रेणीके पितरोंका यथायोग्य रूपसे सम्वर्द्धन इसी भूमिसे हुआ करता है। अन्यदेशकी अध्यात्म शास्त्रविहीन, आत्मज्ञानसे रहित मनुष्यजातियाँ जब धर्मराज यमको ही सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् करके मानती हैं, और न वे पितरोंका तथा देवताओंका रहस्य जानती हैं और न दैवजगत्के विस्तारको समझती है, तो उन देशोंसे उभय प्रकारके पितरोंका नियमित यथार्थ सम्वर्द्धन होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि, सूक्ष्म दैवीशक्ति पर विश्वास, धर्मराज यमके स्वरूपका ज्ञान, नित्य नैमित्तिक पितरोंपर श्रद्धा रखकर और

वेदोक्त द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धिके द्वारा जब श्राद्ध-यज्ञ होता है तभी उभयविध पितरोंका सम्वर्द्धन हुआ करता है। और इस उभयविध पितरोंके सम्वर्द्धन द्वारा भूलोकके सब अंगोंका परम कल्याण साधन होता है। श्राद्धकी यह असाधारण महिमा है॥ २८३॥

और भी महिमा कही जाती है—

सर्वत्र तृप्ति होती है॥ २८४॥

श्राद्ध दो प्रकारका होता है, एक नित्यश्राद्ध और एक नैमित्तिक श्राद्ध। पंचमहायज्ञान्तर्गत पितृयज्ञादि, नित्य तर्पणादि ये सब नित्य श्राद्ध के अन्तर्गत हैं, और मृत आत्मीय स्वजनका आद्यश्राद्ध, मासिकश्राद्ध, वार्षिकश्राद्ध, गयाश्राद्धादि सब नैमित्तिक श्राद्धके अन्तर्गत हैं। नित्य श्राद्ध महायज्ञ और नैमित्तिकश्राद्ध-यज्ञके अन्तर्गत हैं। नैमित्तिक श्राद्धके द्वारा आत्मीय स्वजन जो परलोकमें जाते हैं, उनकी तृप्ति होती है, परन्तु नित्यश्राद्ध द्वारा ऋषि, देवता, पितृ, आत्मीय स्वजन और आत्मीय स्वजन विहीन जीव, यहाँ तककी चतुर्दश भुवन तथा चतुर्विध भूतसंघ आदि सब जीवोंकी तृप्ति होती है। तर्पणादिके मन्त्रपाठ करनेसे इस विज्ञानकी सहायता स्वतः सिद्ध होगी। अतः श्राद्धका यह प्रधान महत्त्व है कि, उसके द्वारा यथाधिकार सब श्रेणीके जीवोंकी तृप्ति होती है। लोकान्तरमें जीवोंकी कैसे तृप्ति होती है, इसके सम्बन्धमें स्मृति शास्त्रमें प्रमाण यथा—

सर्वत्र तृप्तिः॥ २८४॥

नामगोत्रं पितॄणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः।
अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः॥
नाममन्त्रास्तदादेशा भवान्तरगतानपि।
प्राणिनः प्रीणयन्त्येव तदाहारत्वमागतान्॥
देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दनुजत्वे तथा मद्यं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मनुष्यत्वेऽन्नपानादि नानाभोगकरं भवेत्॥

शंका समाधानके लिये कहा जाता है कि, तृप्ति दो प्रकारकी होती है, एक अन्तःकरणके द्वारा और दूसरा इन्द्रियके द्वारा। अन्तः करणकी तृप्ति केवल सद्भावके उदय होनेसे हो जाती है परन्तु इन्द्रियकी तृप्ति बिना विषयके सम्मुख उपस्थित हुये नहीं होती। प्राणमयकोष और मनोमयकोषकी सहायतासे एक अन्तःकरणका सद्भाव दूसरे अन्तःकरणमें जाकर सद्भाव उत्पन्न कर सकता है। और उसी प्रकार तीव्र संकल्प द्वारा दूसरे लोकमें भोग-उपयोगी पदार्थ भी उत्पन्न कर सकता है। जिस प्रकार संकल्पकी सहायतासे एक अन्तःकरणकी क्रिया दूसरे अन्तःकरणमें पहुँच जाती है, उसी प्रकार प्रयोजन होने पर तत्तत्लोक तथा पिण्डके रक्षक देवताओंकी सहायतासे तत्तत्लोक उपयोगी भोगपदार्थ

भी उनके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि श्राद्ध-क्रिया यदि यथाविधि की जाय, तो अन्तःकरणके द्वारा तो अन्य लोकवासी आत्माएँ तृप्तिलाभ करते ही हैं, अधिकन्तु तत्तत्पिण्ड उपयोगी भोगपदार्थकी प्राप्ति द्वारा भी तृप्ति लाभ करती है ॥२८४॥

इसका मौलिक विज्ञान कहा जा रहा है—

चारों कोषोंके व्यापक होनेसे ॥ २८५ ॥

सब श्रेणीके जीवोंका पंचकोष होता है, उन पंचकोषोंमें से चारकोष तो सूक्ष्म और कारण शरीर कहाता है और पांचवां अन्नमयकोष स्थूल शरीर कहाता है। स्थूल शरीर सब लोकोंमें अलग-अलग होता है, और उस लोकको त्याग करनेपर वहीं रह जाता है तथा वहींके परमाणुओंमें मिल जाता है। चारों कोष जो सूक्ष्म और कारणशरीर कहाता है प्रकारान्तरसे व्यापक है यद्यपि पञ्चमकोष अर्थात् अन्नमयकोष सब लोकोंमें अलग-अलग होता है, उसमें अनेक प्रकार भेद हैं और उसका त्याग ग्रहण भी होता है, परन्तु ये चारकोष चतुर्विध भूतसंघरूपी सहजपिण्ड, मृत्युलोकवासी मानवपिण्ड तथा नाना सूक्ष्मलोक, असुरलोक, व देवलोकवासी दैवपिण्ड सबमें समान रूपसे है। जैसे एक स्वरमें अनेक वाद्ययन्त्र बन्धे रहनेसे एक एकके बजानेसे सब बज उठते हैं; उसी प्रकार चारों कोषोंका सब जगह सम्बन्ध होनेसे श्रद्धायुक्त श्राद्धकी क्रिया सब जगहमें पहुँच सकती है। जिस प्रकार उन

चतुष्कोष व्यापकत्वात् ॥२८५॥

वाद्ययन्त्रोंके बीचमें कोई विशेष आवरण हो, तो नहीं बजते हैं और आवरणरहित स्थानमें एकके बजानेसे सब बज उठते हैं, ठीक उसी प्रकार श्रद्धा, द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, संयम और मनोयोग आदि द्वारा आवरणरहित होनेसे मृत्युलोकके प्राणमयकोष और मनोमयकोषकी क्रिया अन्य लोकोंमें पहुँचकर अभीष्ट फलोत्पन्न करती है। यह रहस्य योगिजनोंके द्वारा स्वतः ही अनुमेय है ॥२८५॥

और फल कहा जाता है—

उसके संस्कारसे प्रेतत्वसे मुक्ति होती है ॥२८६॥

परलोकगामी जीवोंके दुःखभोग करनेके दो प्रधान लोक हैं, यथा एक प्रेतलोक और दूसरा नरकलोक। नरकलोकका कर्म-विपाक सरल नियमसे पूर्ण है, परन्तु प्रेतलोककी गति कुछ विचित्र है। प्रेतत्वकी अवस्था एक उन्मादकी अवस्थावत् है और प्रेतत्व जब उत्पन्न होता है, तो अन्तःकरणकी मूर्छासे उत्पन्न होता है। इस कारण लौकिक उपाय द्वारा प्रेतत्त्वकी विमुक्ति भी हो सकती है। प्रेतश्राद्ध, गया श्राद्धादि उसके उपाय हैं। पूर्वकथित वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार श्राद्धक्रियाका प्रभाव प्रेतलोकमें पहुँचकर प्रेतत्वप्राप्त जीवकी मुक्ति करके उसके परलोकके मार्गको श्राद्धयज्ञ सरल कर सकता है। यह ऐसा विषय है कि, मृत्युलोकमें इस क्रियाका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है ॥२८६॥

तत्संस्कारात्प्रेतत्वविमुक्तिः ॥ २८६ ॥

और भी महत्त्व कहा जाता है—

उसके पुण्यलाभसे नरक विमुक्ति होती है ॥२८७॥

श्राद्धकर्त्ता यदि श्राद्धयज्ञके साथ विशेष पुण्यके कर्म करे, तो उस असाधारण पुण्यके फलसे परलोकगामी आत्माकी नरक यन्त्रणा दूर हो सकती है। जिस प्रकार परलोकमें श्राद्धके द्वारा तृप्ति होती है, जिस प्रकार प्रेतश्राद्ध द्वारा प्रेतत्व दूर होता है, उसी प्रकार यदि परलोकगामी आत्माका आत्मीय अपने धर्म बुद्धि और प्रेमके वश होकर उस श्राद्ध कर्त्ताके साथ परलोकगामी आत्माके निमित्त कोई असाधारण पुण्य कार्य्य करे, तो उस उग्र पुण्यके फलसे देवताओंकी सहायता द्वारा नारकी जीवकी नरकयन्त्रणा कम हो सकती है, अथवा नरकवासकी अवधि घट सकती है। क्योंकि कर्मकी शक्ति असाधारण है और उसकी शक्ति विचित्र है। और देवतागण भी कर्मके वश होकर सब कुछ सहायता कर सकते हैं ॥२८७॥

और भी महत्त्व यह है कि—

स्वर्ग भोगकी वृद्धि होती है ॥२८८॥

यज्ञकी शक्ति असाधारण है। श्राद्धयज्ञके साथ यदि विशेष यज्ञका अनुष्ठान किया जाय, तो परलोकगामी आत्माका स्वर्गसुख तथा स्वर्गभोगकी अवधि बढ़ सकती है। जब श्राद्धकर्त्ताके विशेष-पुण्य कर्म परलोकगामी आत्माका नरकभोग दूर कर सकता है,

तेन पुण्यलाभान्निरयविमुक्तिः ॥ २८७ ॥

स्वर्भोगवृद्धिश्च ॥ २८८ ॥

जब यज्ञ द्वारा देवतागण सम्वर्द्धित होते हैं और जब यज्ञ द्वारा अभ्युदयकी तो बात ही क्या मुक्ति तक सरल हो सकती है, तो उग्र दानयज्ञ, तपोयज्ञ, कर्मयज्ञादि द्वारा माता पिता आदि परलोकगामी आत्मा यदि स्वर्गलोकमें पहुँचे हो, तो उनके स्वर्गवासकी अवधि बढ़ जाएगी इसमें सन्देह ही क्या है। और जब यज्ञमें संकल्प ही प्रधान है, तो कर्त्ताका शुद्ध संकल्प दूसरी आत्माको भी फल दे सकता है, इसमें भी सन्देह नहीं है ॥२८८॥

अब प्रकृत विषयको पुनः कह रहे हैं—

त्रिविध शुद्धिके कारण यहाँके तीर्थ पूर्ण है ॥२८९॥

दैवीमीमांसादर्शनके अनुसार दैवीशक्तिके अधिष्ठानोपयोगी व्यापक प्राणशक्तिके आवर्त्तको पीठ कहते हैं, वह पीठ कई प्रकारका होता है। तीर्थसमूह भी एक प्रकार दैवीशक्तिके पीठ हैं। पीठ पृथ्वीके सर्वत्र हो सकता है; परन्तु भारतकी प्रकृति आध्यात्मिक कारणोंसे विशुद्ध होनेके कारण भारतवर्षीय तीर्थका पूर्णत्व स्वतः सिद्ध है। अन्यदेशके तीर्थपीठोंमें त्रिविध शुद्धिका अभाव होना स्वतः सिद्ध है। कहीं आधिभौतिक शुद्धि है, तो अधिदैवशुद्धि और अध्यात्मशुद्धि नहीं है, और कहीं यदि आधिभौतिक शुद्धिके साथ आधिदैविक शुद्धिका भी कुछ सम्बन्ध है, तो न अधिदैवशुद्धिकी पूर्णता और न अध्यात्म-शुद्धिका होना अन्यत्र सम्भव हो सकता है। आर्य्यावर्त्त भूमिके

तीर्थपूर्णत्वमस्य शुद्धित्रैविध्यात् ॥२८९॥

त्रिविध शुद्धिसे पूर्ण होनेका विज्ञान पहले प्रकाशित हो चुका है। उक्त कारणोंसे यह स्वतः सिद्ध होगा कि अनार्य्य देशोंमें तीर्थ-पीठकी उत्पत्ति होने पर भी वे त्रिविधशुद्धिसे युक्त नहीं हो सकते हैं ॥२८९॥

अब शास्त्रोक्त महत्त्वकी मीमांसा की जाती है—

इस कारण कर्मभूमि है ॥२९०॥

यद्यपि स्थूल दार्शनिक युक्तिके अनुसार चतुर्दश भुवनोंमेंसे मृत्युलोकको ही कर्मभूमि कहा गया है; परन्तु जब आर्य्य-शास्त्रोंमें आर्य्यावर्त्तको ही कर्मभूमि कहा है, तो इसमें शंका हो सकती है कि शास्त्रोंमें जो इस प्रकारके महत्वके वचन हैं, वे पक्षपात के विचारसे हैं या नहीं इसलिये इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है। जब आर्य्यावर्त्तमें मृत्युलोकके अन्य विभागोंकी अपेक्षा त्रिविधशुद्धिका अवसर अधिक है, जब वह मृत्युलोक-रूपी शरीरमें मस्तक रूप है, जब अध्यात्मज्ञानके विचारसे आर्य्यावर्त्तके अन्त्यज प्रजा भी कुछ विशेषता रखती है, जब आर्य्यावर्त्तके महत्त्वको स्मरण करके देवतागण भी अपने स्वर्ग-भोगक्षयके अनन्तर यही जन्मग्रहण करनेकी वासना करते हैं, जब वर्णाश्रमधर्मकी शक्तिके कारण पितृसम्वर्द्धनसे इस भूमिका बड़ा भारी सम्बन्ध स्थापित है, और जब यह भूमि पूर्णशक्ति-युक्त तीर्थोंसे पूर्ण है, तो यह स्वतः सिद्ध है कि आर्य्यावर्त्तको ही

कर्मभूमित्वं तस्मात् ॥२९०॥

कर्मभूमि कह सकते हैं। क्योंकि जिस भूमिमें इतने गुण विद्यमान हैं, वहीं उत्तम कर्म करनेकी सुभीता और आध्यात्मिक उन्नति करनेकी सुविधा जीवको मिल सकती है ॥२९०॥

विज्ञानकी और भी पुष्टिकी जा रही है—

सब श्रेणीके अवतार होनेसे ॥ २९१ ॥

प्रकृत विज्ञानकी पुष्टिके लिये यह प्रमाण दिया जा रहा है कि, आर्य्यावर्त्तके ही यथार्थ कर्मभूमि होनेका एक बड़ा कारण यह है कि, इस भूमिमें सब श्रेणीके अवतारोंका आविर्भाव होता है। मृत्युलोकके अन्यभूमिमें देवताओंके अवतार और असुरोंके अवतार अवश्य होते हैं। आर्य्यावर्त्तके अतिरिक्त देशोंमें असाधारण आसुरी और दैवीशक्तिका समय-समय पर विकास ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसी प्रकार आसुरी ज्ञानप्रकाशक, अलौकिक प्रतिभा भी उन-उन देशोंमें विकशित होती है, जिससे असुरलोकवासी ऋषियोंकी कृपा उक्त देशों पर है ऐसा भी कह सकते हैं। परन्तु उक्त देशोंमें वेद और वेदसंमत अध्यात्मशास्त्रोंके आविर्भावका अवसर न देख पड़नेसे यह मानना ही पड़ेगा कि, उक्त देशोंमें ऋषियोंके सब श्रेणीके अवतारोंका आविर्भाव नहीं होता है। इसी प्रकार शास्त्रोंके द्वारा यह प्रमाणित ही है कि, उच्चश्रेणीके देवताओंके अवतार और श्रीभगवान्के कलावतार तथा पूर्णावतार भारतवर्षमें ही होते आये हैं।

सर्वावतारात् ॥ २९१ ॥

इस कारणसे भी आर्य्यावर्त्तका कर्मभूमि होना सिद्ध होता है ॥ २९१ ॥

और भी कहा जाता है—

देवताओंकी सहायतासे ॥ २९२ ॥

आर्य्यावर्त्तके कर्मभूमि होनेके विषयमें एक प्रबल युक्ति यह है कि, इस भूमिमें दैवी सहायता अधिक मिलती है। कर्मके फल-दाता और नियन्ता देवतागण हैं। दैवराज्य स्थूलराज्यका चालक है। ऐसे दैवराज्यके विभिन्न अधिष्ठाताओंका यदि विशेष सम्बन्ध किसी भूमिके साथ रहे, तो वह भूमि अवश्य ही कर्मभूमि कहलाएगी। आर्य्यावर्त्तकी प्रजाका दैवराज्य पर पूरा विश्वास रहनेसे, आर्य्यावर्त्तमें पीठविज्ञान प्रकाशित रहनेसे यज्ञ महायज्ञके अनुष्ठान इस भूमिमें होते रहनेसे और सब प्रकारकी उपासनाकी शैली प्रचारित रहनेसे देवताओंका विशेष सम्बन्ध इस भूमिसे रहता है, इसमें भी सन्देह नहीं। दैवीसहायता आर्य्यावर्त्तको कैसे अधिक प्राप्त होती है, इसकी विस्तारित युक्तियाँ पूर्वसूत्रोंसे स्वतः ही प्राप्त होती हैं। विशेषतः जहाँके अधिवासियोंका स्थिर विश्वास दैवजगत् पर है, और जहाँके प्रजाका आचार दैवी कृपाप्राप्ति-मूलक है, वहाँ दैवीकृपा अधिक प्राप्त होना स्वतः सिद्ध है। जो स्वतः ही आर्य्यावर्त्तके कर्मभूमित्व विज्ञानकी पुष्टि करनेमें समर्थ है ॥ २९२ ॥

दैवसाहाय्यात् ॥ २९२ ॥

और भी कहते हैं—

पितरोंके अनुकूल होनेसे ॥ २९३ ॥

यद्यपि नित्यपितरोंका कार्य्यक्षेत्र समस्त मृत्युलोक ही है, परन्तु वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था रहनेसे नित्यपितरोंको बड़ी भारी सहायता आर्यावर्त्तसे मिलती है। इस कारण वे स्थायी सहायताके प्राप्त होनेसे आर्यभूमि आर्य्यावर्त्त पर विशेष कृपा दृष्टि रखते हैं; और परस्पर सहायताको स्मरण करके वर्णाश्रमधर्मावलम्बिनी प्रजातन्त्रकी स्थायीरूपसे रक्षा करते हैं। अन्य मनुष्यजातिमें रजोवीर्य्यकी शुद्धि न रहनेसे यह बात नहीं बन सकती है। सुतरां वर्णाश्रमधर्मका पूर्णविकाश रहनेसे, और पितृयज्ञमूलक तीर्थ यथा-गया आदिकी स्थिति रहनेसे पितरोंका घनिष्ठ सम्बन्ध आर्य्यावर्त्तके साथ है और यही उसके कर्मभूमि कहलानेका एक विशेष प्रमाण है ॥ २९३ ॥

प्रकृत विषयको और भी पुष्ट कर रहे हैं—

ऋषियोंकी कृपा होनेसे ॥२९४॥

देवताओंकी प्रधान श्रेणियाँ तीन हैं। यथा अर्य्यमा आदि पितृगण, वसुरुद्रादि देवतागण और अङ्गिरा, व्यास, वशिष्ठादि ऋषिगण, इन तीनों श्रेणीके देवताओंका विशेष सम्बन्ध इस आर्य्यावर्त्तके साथ है। देवता और पितरोंकी विशेष कृपाप्राप्ति

पित्रानुकूल्यात् ॥ २९३ ॥

ऋषिकृपातः ॥२९४॥

द्वारा आर्य्यावर्त्तके कर्मभूमित्वकी सिद्धि पहले दो सूत्रोंमें की गई है अब ऋषियोंकी विशेष-कृपाप्राप्ति द्वारा आर्यावर्त्तके कर्मभूमित्वकी सिद्धि महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। यद्यपि आसुरी नाना विद्याओंका विशेष प्रचार पृथ्वीके अन्य देशोंमें होता रहता है, यद्यपि अनेक अलौकिक पदार्थ-विद्याओंका आविष्कार अन्य देशोंमें हुआ है और होता रहेगा; परन्तु अध्यात्मविद्याओंका पूरा विकाश केवल भारतवर्षमें ही होता आया है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि, देवलोकवासीगण ऋषियोंकी कृपा इस भूमि पर है। ऋषियोंके हृदयमें सृष्टिके प्रारंभमें वेदका आविर्भाव होना, आर्य्यावर्त्तमें वेद-सम्मत नाना अध्यात्मशास्त्रोंका समय समय पर विकास होते रहना, देवलोकवासी नित्य ऋषियोंके नाना अवतारोंका आविर्भाव आर्य्यावर्त्तमें ही होना, नाना विप्लव होते रहनेपर भी अध्यात्म ज्ञानका लोप इस भूमिसे न होना, यह सब ऋषिकृपाप्राप्तिके ज्वलन्त दृष्टांत हैं। अतः इस भूमिके कर्मभूमि होनेके विषयमें सन्देहका अवसर नहीं है ॥ २९४ ॥

इस विज्ञानको और भी दृढ़ कर रहे हैं—

सबधर्मांगोंके साधनस्थल होनेसे ॥२९५॥

इससे पूर्व यह भलीभांति प्रकाशित किया गया है कि, धर्मके भेद कितने हैं, और उसके अंग और उपांग कितने हैं। यद्यपि इस मृत्युलोकके सब विभागके अधिवासियोंमें कुछ न कुछ धर्म और अधर्मका अधिकार प्रचलित हैं, चाहे पृथिवीके किसी

निखिलधर्मसाधनक्षेत्रत्वात् ॥२९५॥

विभागमें कोई धर्ममत प्रचलित हो, चाहे अन्यविभागोंमें अन्य धर्ममत प्रचलित हो, परन्तु उन सब धर्ममतोंमें पूर्णताके लक्षण विद्यमान नहीं हैं, इहलौकिक अभ्युदय, पारलौकिकअभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके पूर्ण लक्षणसमूह, साधारणधर्म और विशेष-धर्मके अधिकारसमूह और उसके सम्पूर्ण अंग और उपांग-समूह केवल वैदिक मार्ग प्रवर्त्तक वर्णाश्रमधर्मावलम्बी आर्य्य-जातिमें ही प्रचलित है और उस आर्य्यजातिका निवास आर्य्या-वर्त्तमें होनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि, सांगोपांगधर्मका पूर्ण-स्वरूप इसी पवित्र भूमिमें प्रकाशित है। सुतरां यही भूमि कर्म-भूमि कहलाने योग्य है ॥२९५॥

अब अन्य प्रकारसे दृढ़ कर रहे हैं—

त्रिविध अधिकारियोंके उत्पन्न होनेसे ॥ २९६ ॥

जीवकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये अधिकारके अनुसार अधिकारीका निर्णय परमावश्यकीय है। और सर्वजीव-हितकारित्व भावकी सिद्धि तभी हो सकती है, जब सब प्रकारके अधिकारियों-को उनके उनके अधिकारके अनुसार पथका प्रदर्शन कर दिया जाय। एक ही अधिकारके पथपर यदि सबको चलाया जाय, तो कदापि सफलताकी सम्भावना नहीं है। पृथिवीके अन्यान्य देशोंमें अधिकारभेदकी व्यवस्था न रहनेसे वहाँ इन सुविधाओंका अभाव है। विशेषतः वेदसमस्त सनातनधर्ममें सब श्रेणीके

त्रिविधाधिकारिजननात् ॥ २९६ ॥

अधिकारोंकी व्यवस्था रहनेके कारण आर्य्यावर्त्तमें त्रिविध अधिकारोंकी शृंखला बनी हुई है। अधिकार और अधिकारी निर्णयकी इस सुव्यवस्थाके रहनेसे भी इस भूमिके अधिवासियोंके चित्ताकाशमें वैसे ही संस्कार अङ्कित रहते हैं। इसी कारण इस भूमिमें त्रिविध अधिकारके अधिकारियोंका पूर्ण लक्षण देखनेमें आता है॥ २९६॥

और भी पुष्ट कर रहे हैं—

त्रिविध भावोंकी स्फूर्त्ति होनेसे ॥ २९७ ॥

आर्य्यावर्त्तकी अन्तः और बहिः प्रकृति त्रिविधभावोंसे पूर्ण है यह स्पष्ट ही है। यहाँकी आर्य्यप्रजा जब वेदोंके तीनों काण्डोंके सेवन द्वारा अपने अस्तित्वकी रक्षा करनेमें समर्थ है, जब देखते हैं कि, स्थूल सदाचारसे लेकर बड़े-बड़े वैदिक यज्ञसे आधिभौतिक स्फूर्त्ति, उपासनाके तथा भक्ति और योगके सब श्रेणीके अधिकारोंसे आधिदैविक स्फूर्त्ति और सब श्रेणीके दार्शनिक चर्चा तथा तत्त्वज्ञानकी पूर्णतासे आध्यात्मिक स्फूर्त्तिके लक्षण समूह आर्य्यावर्त्तके चिदाकाशमें विद्यमान हैं, तो मानना ही पड़ेगा कि, त्रिविध भावोंकी स्फूर्त्ति यहाँ सदा विराजित रहती है। इसका और भी प्रत्यक्ष लक्षण यह है कि अन्य देशकी अनार्य्य जातियाँ यदि इस देशमें आकर बसती हैं, जिनमें त्रिविध भावोंकी स्फूर्ति नहीं थी, कालान्तरमें इस भूमिके चिदाकाशकी शक्तिके प्रभावसे उन

भावत्रैविध्यस्फूर्त्तेः॥ २९७॥

जातियोंमें भी त्रिविध भावोंकी स्फूर्त्तिके लक्षण क्रमशः प्रकाशित हो जाते हैं। इन सब कारणोंसे मानना ही पड़ेगा कि आर्य्यावर्त्त ही कर्मभूमि कहलानेके योग्य है ॥ २९७ ॥

पुनः पुष्टि की जाती है—

सब ऋतुओंका सम्बन्ध होनेसे ॥ २९८ ॥

अन्तराकाशका दृष्टान्त देकर अब वहिः आकाशका दृष्टान्त दिया जाता है। छः ऋतुओंको सर्वत्र तथा सर्वथा विकाश आर्य्यावर्त्तमें ही है, मृत्युलोकके अन्यत्र नहीं है। पृथिवीके अन्यत्र कहीं दो ऋतु, कहीं तीन ऋतु और कहीं चार ऋतुओंका विकाश हुआ करता है। परन्तु ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शीत और वसन्तरूपी षट् ऋतुओंका पूर्ण विकाश भारतवर्षमें नियमित होता है। और यह भी बड़ा भारी महत्त्व है कि, ये छः ऋतु भारतवर्षको किसी समयमें भी नहीं छोड़ते हैं। आसाम प्रदेशमें वर्षाऋतु, दक्षिण विन्ध्यगिरिके निकटस्थ स्थानोंमें वसन्त, हिमालयके नाना प्रदेशोंमें शीत, पश्चिमके मरुस्थलमें ग्रीष्म, अर्वुद, नीलगिरिके प्रदेशोंमें हेमन्त तथा वंग, कलिंग आदि प्रदेशोंमें शरद्‌ऋतुकी प्रतिष्ठा मनोमुग्धकर है। विशेषतः नगराज हिमालयके नाना प्रदेशोंमेंसे कहीं न कहीं सब ऋतु अपनी-अपनी मधुरता विकशित करते ही रहते हैं। इस प्राकृतिक पूर्णतासे भी आर्य्यावर्त्त ही कर्मभूमि होने योग्य है ॥ २९८ ॥

सर्वर्त्तुसम्बन्धात् ॥ २९८ ॥

और भी प्रबल युक्ति दे रहे हैं—

हिमालयकी तरह यह सब पुण्योंका आकर है ॥२६६॥

पर्व्वतराज हिमालय जो भारतके उत्तर दिशाको व्याप्त करके स्थित है, वह निखिल पुण्यका आकर है। पृथिवीभरमें जितने पर्व्वत हैं, उनमें सबसे उच्चतम होनेसे पृथिवीव्यापी आकाशमण्डल में उसकी सबसे अधिक उद्ध्र्व गति है। पृथिवीभरके जितने बड़े तीर्थ हैं, वे सब हिमालयके वक्षःस्थल पर स्थित हैं। पृथिवीकी जितनी पुण्य नदियाँ हैं, उनका उत्पत्तिस्थान यही पर्व्वतराज है। जितने उत्तम जीव-जन्तु हैं, जितने पुण्यमय औषधि हैं, वे सब हिमालयमें ही मिलते हैं। हिमालय सब प्रकारके रत्न और सब प्रकारकी धातुओंकी खनि है, वस्तुतः हिमालय ऋषि और देवताओं की लीलाभूमि होनेसे सर्व्व पुण्योंका आकर है। उसी उदाहरणके अनुसार भारतवर्ष धर्म विकाशका केन्द्रस्थान, वेद प्राकट्यका स्थान, अध्यात्म विद्याके विकाशका स्थान, दैवजगत्के प्रत्यक्ष परिचयका स्थान, ऋषि, देवता तथा श्रीभगवान्के अवतारोंके आविर्भावका स्थान, सब श्रेणीके प्राणियोंका आश्रयस्थान, सभ्य मनुष्यजातिको चिरंजीवी रखनेका स्थान, अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और सहज रूप चतुर्विध सिद्धिके प्राकट्यका और भगवत्-कृपाप्राप्तिका स्थान होनेके कारण मृत्युलोकभरमें सब पुण्योंका आकर है इसमें सन्देह नहीं ॥ २९९ ॥

अयमखिलपुण्याकरो हिमाद्रिवत् ॥ २६६ ॥

अब कर्मविपाकके मौलिक भेद कह रहे हैं—

ज्ञानतः अज्ञानतः भोग द्विविध होता है ॥ ३०० ॥

जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रतिक्रियाका होना अवश्यम्भावी है। मनुष्य जो कर्म करता है, उसकी प्रतिक्रियारूपी फलोत्पत्ति अवश्य ही होती है। शुभाशुभ कर्मके यथावत् फलको ही भोग कहते हैं। वह भोग दो प्रकारसे होता है, एक जानते हुए और दूसरा न जानते हुये। और ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। विशेषतः जीवका भोग एक देशकालमें नहीं होता है। देशभेद और कालभेदसे भोगका भी अवस्थान्तर होता है। उदाहरणस्थल पर समझ सकते हैं कि, देशभेदसे नरक और स्वर्गका भोग ज्ञानतः होता है और मृत्युलोकका भोग अज्ञानतः होता है। उसी प्रकार कालभेदसे बाल्यावस्थाका भोग अज्ञानतः होता है और ज्ञानप्राप्त अवस्थाका भोग ज्ञानतः होता है। इसी प्रकारसे अन्यान्य भोगोंको भी दो श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं ॥ ३०० ॥

प्रथमका वैज्ञानिक स्वरूप कह रहे हैं—

पहला स्वाभाविक है ॥ ३०१ ॥

ज्ञानतः भोगका होना स्वाभाविक है। इस संसारमें देखा जाता है कि कोई अपराधी जब कोई दोष करता है, तो राजा अथवा राजप्रतिनिधि उसको उस अपराधका दण्ड देते समय,

---

ज्ञानाज्ञानभिन्नोभोगः ॥ ३०० ॥

आद्यः स्वाभाविकः ॥ ३०१ ॥

अथवा उसके शुभकर्मके लिये पारितोषिक देते समय उसको कह देता है कि, तुम्हारे अमुक अशुभ कर्मके लिये तुम्हें दण्ड दिया गया, तुम्हारे अमुक शुभकर्मके लिये तुम्हें पारितोषिक दिया जाता है। इसी नियमके अनुसार राजदण्ड, यमदण्ड अथवा स्वर्गादिमें भोगकी प्राप्ति स्वाभाविकरूपसे होती है। कर्मका विपाक होते समय ऐसी दशा स्वाभाविक होनेसे इस श्रेणीका भोग ही अधिक होता है। नाना देवलोक, नाना असुरलोक, पितृलोक, प्रेतलोक, नरकलोक तथा इस मृत्युलोकमें भी गर्भावस्था में, तथा राजाके तथा समाजके निकट तिरस्कृत और पुरस्कृत होते समय तथा और भी अनेक समय ज्ञानसहित ही भोगकी निष्पत्ति हुआ करती है। इस श्रेणीके भोगका अवसर ही जीवके जीवनमें अधिकतर होता है॥ ३०१॥

अब दूसरा कहा जाता है—

दूसरा प्रकृतिप्रसादजन्य है॥ ३०२॥

अज्ञानसे जो कर्मभोग होता है, उसके विषयमें यह समझना उचित है कि प्रकृतिकी कृपासे ही ऐसा होता है। पूर्वकथित विचारके अनुसार यह तो निश्चित ही है कि ज्ञानके साथ भोगका अवसर अधिक है और अज्ञानके साथ भोगका अवसर कम है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेसे यह अवश्य निश्चय होगा कि अज्ञानके साथ जो भोग होता है, वह एक प्रकार साधारण दृष्टिसे

प्रकृतिप्रसादजोऽन्यः॥ ३०२॥

अन्याय प्रतीत होता है। क्योंकि बिना कहे तिरस्कृत पुरस्कृत करना न्यायसे विरुद्ध है। परन्तु जब उसका कारण अन्वेषण किया जाता है, तो यही प्रतीत होता है कि जगज्जननी प्रकृति अति-कृपा करके ही ऐसा करती है। उदाहरण रूपसे समझा जाय कि यदि किसी व्यक्तिको एक शुभाशुभभोग प्राप्त करते समय उसको यह प्रतीत हो जाय कि किस-किस जन्मोंके किन-किन कर्मोंका यह फल है, तो अशुभ फलभोगकी मात्रा और भी शतोगुण अधिक बढ़ जाएगी। इसी प्रकार यदि शुभ फलका कारण ज्ञात हो जाय तो शुभफल भोगके आनन्दका ह्रास हो जाएगा। अशुभ और शुभ दोनोंका उदाहरण दिया जाता है, जिससे विज्ञान स्पष्ट हो जाएगा। यदि कोई घोर व्याधिग्रस्त व्यक्तिको व्याधिका कारण पूर्व घोर पापकर्मकी स्मृति प्राप्त हो, तो उसके घोर व्याधिके साथ असहनीय आधि उत्पन्न हो जाएगी। उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति स्त्री-विलासमें रत होकर पूर्व संयोग-वियोगकी स्मृति प्राप्त करे और उस अपनी स्त्रीके जन्मजन्मान्तर, माता, कन्या आदि होना स्मरण करे, तो उसका वह सुख लुप्त हो जाएगा। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि, जगदम्बाकी कृपा ही ऐसे स्मृतिनाशका कारण है ॥ ३०२ ॥

उसके स्वरूपको स्पष्ट कर रहे हैं—

सब द्वन्द्वमूलक और विचित्र हैं ॥३०३॥

ज्ञानतः भोग हो अथवा अज्ञानतः भोग हो, दोनों श्रेणीके

सर्वो द्वन्द्वमूलो विचित्रश्च ॥३०३॥

कर्मविपाक द्वन्द्वमूलक है और विचित्र है। दोनों ही पुण्य और पापके विचारसे सुख दुःखप्रद है। इस प्रकारसे द्वन्द्वमूलक है और प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे उनको वैचित्र्यपूर्ण भी कह सकते हैं। स्वर्ग और नरकके भोग द्वन्द्वका उदाहरण है और पुनः स्वर्गसुखके अनेक भेद तथा स्वर्गलोकके अनेक भेद और दूसरी ओर नरक दुःखके अनेक भेद और नरकलोकके अनेक भेद, यह सब भोगवैचित्र्यलक्षणके उदाहरण हैं॥ ३०३॥

भोगका हेतुभूत प्रथमको कह रहे हैं—

पुण्य कर्म उन्नतिकारी है ॥३०४॥

यह पहले ही कहा गया है कि सत्त्वगुणवर्द्धक कर्म पुण्य कहाता है। जिस कर्मके द्वारा धारिका शक्ति ठीक बनी रहे और अभ्युदय तथा निःश्रेयसका मार्ग सरल रहे, वही पुण्य कर्म है। सुतरां पुण्य कर्मोंके द्वारा मनुष्यकी उन्नति ही होती रहती है। परन्तु उस पुण्य कर्मका भोग करते समय मनुष्य पापकर्म न करे, तो वह इस जन्म तथा जन्मान्तरमें प्रतिमुहूर्त अभ्युदयको प्राप्त होता रहता है और ऊर्द्ध्वसे उर्द्ध्वतर लोकों तथा अधिकारोंको प्राप्त करता हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि पुण्यकर्मसे जीवकी उन्नति होती है ॥३०४॥

उन्नेतृ पुण्यकर्म ॥३०४॥

अब द्वितीयको कह रहे हैं—

दूसरा इससे विपरीत है ॥३०५॥

पापकर्म, पुण्यकर्मसे ठीक विपरीत है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, सत्त्वगुणवृद्धिसे धर्म और तमोगुण वृद्धिसे अधर्म होता है ; और धर्मप्रद कर्मसे पुण्य और अधर्म प्रद कर्मसे पाप होता है। सुतरां यह स्वतः सिद्ध है कि, यदि पुण्यकर्म जीवके उद्र्ध्वगामी श्रोतको बनाए रखता है, तो उसका विपरीत जो पाप कर्म है, वह अवश्य ही जीवको दिन-दिन निम्नगामी करता रहता है। पापकर्मके द्वारा जीव प्रेत, नरक आदि दुःख-मय लोकोंको ही प्राप्त करता है किन्तु नीचे उतर कर तीर्य्यक् योनि और स्थावरादिको भी प्राप्त कर सकता है ॥३०५॥

प्रसङ्गसे शंका समाधान कर रहे हैं—

प्रायश्चित द्वारा असत् कर्म हस्तिसे हस्तीके समान हट जाते हैं ॥३०६॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें इस प्रकारकी शंका हो सकती है कि, यदि पाप कर्मके द्वारा अधोगति और दुःख ही होता है तो पुनः पापसे मुक्त होनेके लिये अथवा पापकर्म विपाकसे बचनेके लिये प्रायश्चित्तादिकी व्यवस्था शास्त्रोंमें क्यों पायी जाती है? इस श्रेणी-की शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि,

---

विपरीतमन्यत् ॥३०५॥

प्रायश्चिततोऽपसरन्ति कर्माणि हस्तितो हस्तिवत् ॥३०६॥

प्रायश्चितसे अवश्य ही फल होता है। यद्यपि पाप कर्मकी शक्ति नष्ट नहीं होती है, क्योंकि कर्म विना भोगके लय नहीं होता; परन्तु हस्तियुद्धके समान प्रायश्चित्त द्वारा पापकर्मका विपाक हट जाता है। जिस प्रकार एक मत्त हस्तीके अत्याचारसे बचनेके लिये उसके सम्मुख एक शिक्षित तथा बलवान् हस्तीको ले जाकर उससे युद्ध कराया जाता है, उस समय उस बलवान् और शिक्षित हस्तीसे युद्ध करके परास्त हो वह मत्त हस्ती भाग जाता है। इसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, यदि प्रायश्चित्त, अनुष्ठान, दानादिक कर्म प्रबल हों, तो पाप कर्मका अशुभ विपाक उदय होने पर भी हट सकता है। यही प्रायश्चित्तादि शास्त्रोक्त उपायोंका रहस्य है ॥२०६॥

यदि पापवेग रोका न जाय, तो क्या होता है—

पापका वेग शिलाहत स्रोतवेगकी तरह वृद्धि प्राप्त करता है ॥३०७॥

यदि पाप कर्मका वेग रोक न जाय, यदि पापसंस्कार राशिके अनन्तर पाप कर्मराशि क्रमशः एकत्रित होती रहे, यदि प्रायश्चित्त, यज्ञतप दान पुण्य आदि द्वारा पापके प्रबल वेगको निर्बल न किया जाय, तो जिस प्रकार पार्व्वत्य प्रदेशमें नदी स्रोतका वेग शिलाहत होनेसे बढ़ जाता है वैसे ही पापकर्मकी शक्ति बहुत ही बढ़ जाती है। पार्व्वत्य प्रदेशकी तरलतरंगिणी द्रुतगामिनी नदियोंमें

पापरंहः शिलाहतस्रोतो वेगवत् ॥३०७॥

प्रायः देखा जाता है, जब उन नदियोंके वेगके सन्मुख कोई स्थिर शिला आ जाती है, तब उस शिलामें नदीका स्रोत टकरानेसे नदीका वेग बहुत कुछ बढ़ जाता है। उसी प्रकार पापकर्म स्रोत एक दूसरेसे टकरा कर बहुत ही बढ़ जाया करता है ॥ ३०७ ॥

प्रसङ्गसे दोनोंका भेद कह रहे हैं—

वे दोनों ज्ञाताज्ञात हैं ॥३०८॥

कर्मकी गति अतिगहन और तथा पुण्यके स्वरूप अति-वैचित्र्य पूर्ण होने पर भी उन दोनोंको साधारणतः दो-दो भागमें विभक्त कर सकते हैं। ज्ञात और अज्ञात भेदसे पुण्य दो श्रेणीके तथा ज्ञाताज्ञात भेदसे पाप दो श्रेणीके होते हैं। संकल्प पूर्वक यज्ञ, दान तपादिक ये ज्ञातपुण्यके उदाहरण हैं। बिना संकल्पके जगत् कल्याण बुद्धि, परोपकार बुद्धिसे जो स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक कर्म होते रहते हैं, वे सब अज्ञात-पुण्यके उदाहरण समझने योग्य हैं। उसी प्रकार विचारपूर्वक जीवहिंसा, चौर्य्य, परअपकार आदि सम्बन्धके जो कर्म हैं, वे सब ज्ञानकृत पापके उदाहरण हैं। उसी प्रकार काम, क्रोध, ईर्षा, दम्भ आदिके वेगसे कृत अथवा न देखकर जीवादिकी हिंसा आदि अज्ञात पापके उदाहरण हैं। इसी अज्ञात पापमें यदि सावधान करने पर भी पुनः जीव पाप करे, तो वह ज्ञातपापमें परिणत हो जाता है। इस प्रकारकी श्रेणी विभागके अनुसार पुण्य और पाप कर्मका

ज्ञाताज्ञाते ॥३०८॥

विपाक भी तदनुसार ही होता है। अज्ञात पापके कर्मविपाकसे ज्ञात पापका कर्मविपाक अधिक बलशाली होता है। इस विषय में स्मृतिशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं ॥ ३०८ ॥

उनका भोगलोक कहा जाता है—

स्वर्ग और नरक उनके फल हैं ॥३०९॥

पूर्वकथित कर्मोंकी भोगनिष्पत्तिके लिये उक्त कर्मोंके बलसे जो भोगलोक बनते हैं, वे दो श्रेणिमें विभक्त होते हैं। यथा पुण्यभोगके लोकसमूह स्वर्गलोक कहाते हैं, और पापभोगके लोकसमूह नरकलोक कहाते हैं। यद्यपि पुण्यभोगके भोगवैचित्र्यके अनुसार किन्नर, गन्धर्व्व, पितृ, असुर आदि अनेक भोगलोक हैं। और इस मृत्युलोकमें भी पुण्यका भोग होता है; उसी प्रकार पापभोगकी विचित्रताके अनुसार नरकलोकके अनेक भेद और प्रेतलोकके अनेक भेद हैं, और इस मृत्युलोकमें भी पापभोगका अवसर यथेष्ट रहता है। परन्तु उन सबोंको प्रधानतः दो श्रेणीमें विभक्त किया गया है। स्थूल शरीरके पातके अनन्तर जीव पुण्य-जनित सुख भोगके लिये नाना स्वर्गलोकमें जाता है, और पाप-जनित दुःख भोगके लिये नरकलोकमें जाता है ॥३०९॥

प्रसङ्गसे कर्मके विस्तारका कारण कह रहे हैं—

क्रियासे प्रतिक्रिया होती है ॥३१०॥

वृक्षरूपी, कर्म, बीजरूपी संस्कार, कर्म विपाकरूपी फल, और

स्वर्निरयौ तत्फले ॥३०९॥

क्रियया प्रतिक्रिया ॥३१०॥

भोग निष्पत्तिके स्थलरूपी भोगलोकप्राप्ति, इस प्रकारसे कर्मका प्रवाह चलता हुआ क्षयको नहीं प्राप्त होता है; वह प्रतिक्रिया द्वारा पुष्ट होकर उत्तरोत्तर प्रवाहित ही होता रहता है। कर्म करते समय, कर्म भोगते समय, दोनों अवस्थामें ही क्रियासे प्रतिक्रिया होती है; जिससे कर्मका प्रवाह नियमितरूपसे सदा स्थायी रहता है। जीव जब कोई शारीरिक अथवा मानसिक कर्म करता है, उस समय उसके उस क्रियासे दूसरी प्रतिक्रिया प्रकट होती है, उसी प्रतिक्रियाका बीजरूपी संस्कार उसी समय उसके चित्तमें संगृहीत होकर सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार जीव चाहे किसी लोकमें हो, जब वह अपने पूर्व पुण्य अथवा पापका भोग भोगता है, उस भोगावस्थामें भी उसको शरीर और मनसे शुभ और अशुभ संस्कार संग्रह करनेका अवसर मिलता है। यह सब कर्म-बीज संस्कार पुनः बीजसे वृक्षके आकारको धारण करते हैं। इस प्रकारसे क्रियासे प्रतिक्रिया होती हुई कर्मका प्रवाह स्थायी रहता है॥३१०॥

उससे क्या होता है, सो कहते हैं—

उसका प्राचुर्य्य है ॥३११॥

ऐसा होने पर स्वतः ही प्रतिक्रियाका प्राचूर्य्य हो जाता है। चाहे भोगके समय हो चाहे कर्मके समय हो, सब समय ही जब क्रियासे प्रतिक्रियाका अवसर रहता है, तो प्रतिक्रिया प्रतिमुहूर्त

प्राचुर्य्यम्॥३११॥

बढ़ती जाती है इस प्रकार संस्कार संग्रह अधिकसे अधिक होता जाता है। और कर्मरूपी वृक्षकी उत्पत्तिका कारण बीजरूपी संस्कार इतना संग्रह हो जाता है, कि भोगके द्वारा उसका क्षय करना असम्भव होता है। इसी कारण यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है कि संस्कारप्राचुर्य्यके कारण भोगके द्वारा कर्मसे विमुक्ति असम्भव है ॥३११॥

प्रसङ्गसे शंकासमाधान कर रहे हैं—

सृष्टिकी सामञ्जस्यरक्षा कर्म वैचित्र्यमूलक होता है ॥ ३१२ ॥

द्वन्द्वमूलक कर्म, तथा द्वन्द्वमूलक कर्मविपाक और उससे क्रिया प्रतिक्रिया प्राचुर्य्य होनेसे सृष्टि शृंखला तो नहीं नष्ट होती है? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। सृष्टि द्वन्द्वमूलक है, परन्तु द्वन्द्वकी सामञ्जस्य रक्षासे ही सृष्टिकी स्थिति होती है। इसी कारण राग, द्वेष, आकर्षण, विकर्षण, और रजतमके सामञ्जस्यमें ही सृष्टि धारकधर्मका उदय बना रहता है। रज-तमके समन्वयमें प्रकाशित सत्त्व ही धर्मकी प्रतिष्ठाका स्थान है। जैसे समुद्रका जल वाष्परूपसे आकाशमें जाता है, और पुनः वर्षा जल तथा नदीजल होकर सृष्टिका सामञ्जस्य रक्षा करता हुआ समुद्रमें मिल जाया करता है; उसी प्रकार द्वन्द्वात्मक कर्म बहुरूपधारी होने पर भी

सर्गसाम्यरक्षणं कर्म वैचित्र्यमूलकम् ॥३१२॥

फलतः सृष्टि की सामञ्जस्य-रक्षाका ही कारण बनता है। इस विज्ञान को दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं, कि सृष्टिकी सामञ्जस्य रक्षा करता हुआ जड़ चेतनात्मक सृष्टि प्रपंचमें जीव जड़राज्यकी ओरसे चेतनराज्यकी ओर अग्रसर होता हुआ जब मनुष्य होता है, उस समय कर्मप्राचुर्य्य और भोगप्राचुर्य्य दशाको अपनी स्वाधीनतासे उत्पन्न करता है, उससे उसकी ऊद्र्ध्वगति आवागमन-चक्ररूपी आवर्त्तमें फँसकर कुछ रुक तो जाती है, परन्तु इस दशामें वह जीव कर्म करता हुआ दुःखभोगसे तिरस्कृत और सुखभोगसे पुरस्कृत होता हुआ सम्हल जाता है और क्रमशः अपनी ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है। अपने सुख और दुःखकी सन्धियोंमें सावधान होता रहता है। और प्रकृतिके इस सामञ्जस्य-कारी नियमकी सहायतासे जगदाधारके तेजसे खींचकर धर्मकी धारिका शक्तिके बलसे अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करता है। सृष्टिकी सामञ्जस्य रक्षारूपी प्राकृतिक नियमका ही यह फल है। दूसरी ओर जड़ जगत्‌की सामञ्जस्य रक्षा इस प्रकारसे समझी जा सकती है कि पंचभूतात्मक जगत्‌में पंचभूतोंके परमाणु हर समय एक ही से बने रहते हैं, केवल उनके बहिराकारमें रूपान्तर प्रतीत होता है। जलके परमाणुराशि वाष्पस्वरूपमें, मेघरूपमें, वारिधारारूपमें, नदी आदि प्रवाह-रूपमें और समुद्ररूपमें पृथक् पृथक् रूपसे प्रतीत होने पर भी जल-परमाणुओंकी सामञ्जस्यरक्षामें विघ्न नहीं होता है॥ ३१२॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

इसी कारण स्वयोनिहिंसा देखी जाती है ॥३१३॥

पूर्व कथित प्राकृतिक नियमके अनुसार ही देखा जाता है कि, स्वयोनिहिंसा सृष्टिके सब विभागों में पाया जाता है। राग और द्वेष ये दोनों विरुद्ध वृत्तियाँ हैं। ये दोनों प्रकृतिके आकर्षण और विकर्षण शक्ति मूलक हैं। दोनोंका सामञ्जस्य ही सृष्टिका रक्षक है। अतः अपनेमें राग और स्वयोनि अन्यमें द्वेष इन दोनोंके सामञ्जस्यमें सृष्टिका संरक्षण स्वतः हुआ करता है। इस कारण सृष्टिके सब जीवोंमें स्वयोनि द्वेष देखा जाता है। और आकर्षण-रूपी रजोगुण और विकर्षणरूपी तमोगुण दोनोंका समन्वय होता है, वही सृष्टिधारक सत्वगुणका उदय कैसे होता है और धर्मका उदय कैसे होता है, सो पहले विस्तारितरूपसे कहा गया है ॥ ३१३ ॥

अब स्वसिद्धान्तकी पुष्टिके अर्थ उदाहरण दे रहे हैं—

सिंहका मृगहिंसा उसका उदाहरण है ॥ ३१४ ॥

मृगजातिका पशु जीव रक्षक, ओषधि आदि तथा जीव प्राणरक्षक नाना वैरोग्यकारी वनस्पति आदिका नाश करते हैं। यदि मृगसंख्या बढ़ जाय, तो संसारसे बहुमूल्य वनस्पतिका नाश हो जाएगा और दूसरी ओर शस्यकी रक्षा होना असम्भव हो

तदर्थं स्वयोनिहिंसा ॥३१३॥

मृगहिंसा केशरिणाम् ॥ ३१४ ॥

जाएगा । अतः सिंहके द्वारा मृगजातिकी हिंसा होते रहने पर सृष्टि सामञ्जस्यकी रक्षा होती है ॥ ३१४ ॥

दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—

पक्षियोंका कीट भक्षण करना ॥ ३१५ ॥

जरायुजजातिका उदाहरण देकर अब अण्डजजातिका उदाहरण दे रहे हैं। पक्षी भी अण्डजयोनि है और नाना कीट भी अण्डजयोनिके होते हैं। कीट पतङ्ग प्रायः विषाक्त होते हैं, शस्य फल फूल नाशक होते है। इस प्रकारसे कीटोंके द्वारा और विशेषतः मनुष्य जातिकी बहुत कुछ हानि होनेकी सम्भावना रहती है। कीटभुक् पक्षी कीटोंको मारकर सृष्टि सामञ्जस्यरक्षामें सहायता करते है ॥ ३१५ ॥

तीसरा उदाहरण दे रहे हैं—

स्वेदजोंका स्वेदज भक्षण ॥ ३१६ ॥

स्वेदजसृष्टिमें दो श्रेणीके स्वेदज होते है। एक अमृतरूपी दूसरे विषरूपी। एक प्राणके रक्षक, दूसरे प्राणके नाशक। यह स्वाभाविक नियम है कि, प्राण रक्षक स्वेदज, प्राण नाशक स्वेदजका नाश कर डालते हैं। और प्रायः ऐसा प्रमाण मिलता है कि, प्राणरक्षक स्वेदजो का आहार प्राणनाशक स्वेदजोंका शरीर बना करता है। यदि विषमय स्वेदजोका नाश अमृतमय स्वेदजोके

कीटभक्षणं विहङ्गमानाम् ॥ ३१५ ॥

स्वेदजस्य स्वेदजभक्षणम् ॥ ३१६ ॥

द्वारा नहीं होता, तो मनुष्य और पशु आदि सृष्टि रोग महामारीसे नष्ट हो जाती। इस कारण स्वेदजयोनिमें यह स्वयोनि-विवाद सृष्टिके सामञ्जस्यका कारण बनता है ॥ ३१६ ॥

चतुर्थ उदाहरण दिया जाता है—

तरुका तरु नाश करना ॥ ३१७ ॥

उद्भिजयोनिमें यही शैली नाना प्रकारसे देखनेमें आती है। छायाके द्वारा दूसरे तरुका नाश करना, परगाछा (वन्दा) होकर दूसरे तरुका नाश करना, मूल विस्तार द्वारा दूसरे वृक्षका नाश करना, लता होकर दूसरे तरुका नाश करना एक जातिका उद्भिज्ज अधिक होकर दूसरे उद्भिजका नाश करना, इस प्रकारसे नाना शैली द्वारा उद्भिजयोनि स्वयोनिका नाश किया करती है। और इसी प्रकारसे प्रकृतिके आनुकूल्य द्वारा सृष्टि-सामञ्जस्यकी रक्षा होती है ॥ ३१७ ॥

पाँचवाँ उदाहरण दे रहे हैं—

धर्मयुद्ध समाजका स्वास्थ्यकर है ॥ ३१८ ॥

मनुष्य योनिमें धर्मयुद्ध द्वारा भी इसी प्रकार सृष्टि सामञ्जस्यकी रक्षा होती है। अधर्मका नाश, धर्मकी रक्षा, असाधुओंका विनाश और साधुओंका परित्राण, कदाचारका नाश और सदाचारका प्रचार, पाशवबलका ध्वंस और आत्मबलका प्रसार,

---

तरोस्तरुनाशनम् ॥ ३१७ ॥

धर्मयुद्धं स्वास्थ्यकरं समाजस्य ॥ ३१८ ॥

पापका तिरस्कार और पुण्यका पुरस्कार, राजसिकशक्ति और तामसिक शक्तिके समन्वयसे सात्त्विक शक्तिका विकाश, समाजमें शान्ति स्थापन, प्रजाशक्ति और राजशक्तिका समन्वय, इत्यादि सब धर्मयुद्धके शुभफल हैं। अतः मनुष्यसमाजमें धर्मको अवलम्बन करके युद्ध करना मनुष्य-समाजका स्वास्थ्यकर होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३१८ ॥

अब छठाँ उदाहरण दे रहे हैं—

देवासुर संग्राम भी ॥ ३१९ ॥

अन्तर्जगत्में देवासुरका जो संग्राम होता रहता है, उससे दैव-जगत्के स्वास्थ्यकी रक्षा और दैवीसृष्टिमें सामञ्जस्य होता है। वेद तथा स्मृतिमें प्रमाण मिलता है कि—

"द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः, त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त, ते ह देवा ऊचु हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्य-यामेति ॥

(वृहदारण्यक श्रुति)

सामञ्जस्यं तथा सृष्टेर्गत्या द्वन्द्वस्वरूपया।
समन्तात् सर्वथा पातुं सुरा अप्यसुरा अपि॥
दैवे जगति लिप्सन्ते प्रभुत्वमतियत्नतः।
सुरासुरविरोधस्तत्सूक्ष्मे जगति सर्वदा॥
दैवराज्ये यदा देवाः प्राधान्यं यान्ति सर्वदा।
धर्मपूर्णत्वतः सृष्टेः सामञ्जस्यं तदाऽनघम्॥

देवासुर संग्रामश्च ॥ ३१९ ॥

कालप्रभावाज्जीवानां प्रारब्धाच्च समष्टितः ।
शैथिल्यं दैवसाम्राज्यं यदा प्राप्नोति सर्वथा ॥
प्राधान्यमसुराणान्तु वृद्धिमेति तदा ध्रुवम् ।
दैवक्रियासु वैषम्यात्सृष्टौ नाना विपर्य्ययः ॥
क्षीणे तपसि देवानामसुरा यान्ति मुख्यताम् ।
तेषां तपःक्षये देवा लभन्ते प्रभुतां पुनः ॥
आधिदैवे सदाराज्य इत्थं यान्ति सुरासुराः ।
प्रभुत्वं नित्यसंग्राम रहस्यं हि तयोरिदम् ॥

(विष्णुगीता)

उपर लिखित श्रुति और स्मृतिके प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि दैवजगत्में देवासुरसंग्राम होता रहता है । देवतागण असुर-राज्य नहीं छीनना चाहते हैं, परन्तु असुरगण दैवराज्य छीनना चाहते हैं । इस परस्परके स्पर्द्धासे देवतागण सावधान रहते हैं और उनका पतन नहीं होने पाता है। इससे ऊद्र्ध्व लोकोंकी मर्य्यादा और व्यवस्था ठीक-ठीक बनी रहती है। यही दैवराज्यके सामञ्जस्यकी भित्ति है । यदि ऐसा न हो और देवताओंका पतन हो, तो देवताओंकी शृंखला बिगड़ जानेपर समस्त ब्रह्माण्डकी शृंखला बिगड़ जाएगी इस प्रकार शृंखला बिगड़नेसे स्थूल मृत्यु-लोक तककी शृंखला नष्ट हो जाती है । क्योंकि स्थूल जगत् दैव-जगत्के अधीन है। असुरोंका रहना भी इस सुव्यवस्थाके अनुकूल है, परन्तु अपने सीमामें ही रहना शृंखलाके अनुकूल है । दूसरी ओर असुरोंके प्रभाव और युद्धशक्तिके भयसे देवराज और उनके

अधीनस्थ पदार्थाधिकारी देवतागण सावधान, तथा धर्म और कर्त्तव्यपरायण रहते हैं। और उनके धर्म और कर्त्तव्यपरायण होनेसे देवलोककी शृंखला बनी रहती है। और सूक्ष्मदेवलोककी शृङ्खला ठीक रहनेसे स्थूल मृत्युलोकादिकी भी शृङ्खला ठीक बनी रहती है। यही इस सामञ्जस्य विज्ञानका रहस्य है ॥ ३१९ ॥

प्रसङ्गसे वर्णाश्रमधर्मका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं—

वर्णाश्रमधर्म सामञ्जस्यका निरन्तर रक्षक है ॥ ३२० ॥

सृष्टिसामञ्जस्यरक्षा ही प्रकृति अनुकूल कर्म, तथा धर्मके उदयका मौलिक तत्त्व है। यदि सृष्टिमें सामञ्जस्य न रहे, तो उसका नाश हो जाय। और सामञ्जस्य रक्षासे ही सृष्टिकी रक्षा होती है। आर्य्यजातिके जातिगत जीवनकी सामञ्जस्यरक्षा वर्णाश्रमव्यवस्था द्वारा होती है और वर्णाश्रमधर्मके सामञ्जस्यरक्षाकारी व्यवस्थासे ही आर्य्यजाति चिरजीवी रहती है। अनार्य्य मनुष्यसमाजमें इस प्रकारकी सामञ्जस्यरक्षाकी व्यवस्था न रहनेसे अनार्य्य जातियाँ जलमें जलबुदबुदके समान उदय होकर थोड़े ही समयमें असभ्य और नष्ट-भ्रष्ट होकर कालसागरमें लय हो जाती है। अनादिकालसे इस मृत्युलोकमें अनन्त अनार्य्यजातियोंकी उत्पत्ति हुई थी; वे सब जातियाँ समय-समय पर अतिबलशालिनी होने पर भी कालके कराल कवलमें पहुँच गई है।

नितरां सामञ्जस्यरक्षको वर्णाश्रमधर्मः ॥ ३२० ॥

और यह अतिवृद्ध, अनादिसिद्ध आर्य्यजाति अपने वर्णाश्रम व्यवस्थाके बलसे चिरजीवी बनी है और रहेगी। प्रवृत्ति रोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म और इन दोनोंमेंसे प्रत्येकके चार चार विभागके द्वारा किस प्रकार मनुष्यसमाजकी अधिभूतशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अध्यात्मशुद्धि बनी रहती है और किस प्रकारसे मनुष्यजातिका अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग खुला रहता है, सो भलीभाँति सिद्ध हो चुका है। वर्णाश्रमधर्मके द्वारा आभिभौतिक जगत्‌में रजोवीर्य्यशुद्धिसे सामञ्जस्य रक्षा होती है, वर्णधर्म-शृंखलासे आधिदैविक जगत्‌में यथायोग्यधर्मसाधन द्वारा दैवीशृंखलाकी सुरक्षामें सहायता पहुँचती है। और आश्रमधर्म द्वारा यथाक्रम विषयवैराग्यकी उन्नति और ज्ञानभूमिकी क्रमोन्नति होकर आध्यात्मिक जगत्‌की शृङ्खला सुरक्षित रहती है। यही सामञ्जस्यविज्ञानके द्वारा सृष्टके कल्याणका अपूर्व रहस्य है ॥ ३२० ॥

प्रकृत-विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

सङ्करप्रजा अनधिकारी होनेसे अध्यात्म उन्नतिमें समर्थ नहीं होती है ॥ ३२१ ॥

वर्णधर्मके मौलिकतत्त्वकी सहायतासे इस विज्ञानकी पुष्टि पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कर रहे हैं। रज और वीर्य्यकी शुद्धि द्वारा किस प्रकार उभय संस्कारका आकर्षण होकर मनुष्यमें योग्यताकी

नाध्यात्मशक्तः सङ्करोऽनधिकारित्वात् ॥ ३२१ ॥

प्राप्ति होती है, सो पहले भलीभाँति सिद्ध हो चुका है। जब मनुष्यकी संकर उत्पत्ति होती है; और रजोवीर्य्यकी शुद्धता नहीं रहती, तो संस्कारवैगुण्य होनेसे उसमें आध्यात्मिक क्रमोन्नतिका द्वार बन्द रहता है। यदि किसीमें रजकी शुद्धि हो, तो वीर्य्यकी अशुद्धता बाधा देती है और यदि किसीमें वीर्य्यकी शुद्धि हो तो रजकी अशुद्धता बाधा देती है। इस प्रकारसे संस्कारका विपर्य्यय होनेसे मलकी अशुद्धिसे विक्षेपकी अशुद्धि और मलविक्षेप दोनोंके प्रभावसे आवरणकी अधिकता बनी रहती है। इस कारण वर्ण-सङ्करप्रजा काम और अर्थ लोलुप होती है। धर्म और ज्ञानकी अधिकारिणी नहीं होती है॥ ३२१॥

अन्य प्रकारसे पुष्टि कर रहे हैं—

इस कारण नीचमें अध्यात्मदान निषिद्ध है॥ ३२२॥

अब आश्रम धर्मके मौलिकतत्त्वके अवलम्बनसे विज्ञानकी पुष्टि की जा रही है। जिस प्रकार आचारप्रचुर वर्णधर्म है, उसी प्रकार ज्ञान-प्रचुर आश्रमधर्म है। वर्णधर्ममें कर्मका प्राधान्य है, इस कारण योग्यताप्राप्तिके लिये उसमें रजोवीर्य्यकी शुद्धिकी आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रमधर्ममें ज्ञानकी क्रमोन्नतिका सम्बन्ध रक्खा गया है। साधारण विद्याके लिये प्रयत्न ब्रह्मचर्य्या-श्रममें होता है। इस प्रकारसे साधारण ज्ञानलाभ करके गृहस्थाश्रममें ज्ञान जननी विद्याकी सहायतासे साधारणज्ञानको

तस्मान्निषिद्धमध्यात्मदानं नीचे॥ ३२२॥

क्रमशः प्रत्यक्ष किया जाता है। क्योंकि गृहस्थाश्रमके द्वन्द्वमूलक अनुभवके घातप्रतिघातसे ज्ञानराज्यके यावत् वैभवोंको मनन करनेका अवसर मिलता है। वानप्रस्थाश्रममें अध्यात्मविद्याकी वृद्धिका और सन्न्यासाश्रममें उसकी उपलब्धिका अवसर मिलता है। आश्रमधर्मके यथायोग्य नियम पालनद्वारा जो अध्यात्म-विद्या प्राप्तिके अधिकारी बनते हैं, उन्हींके क्रमोन्नतिका मार्ग सरल रहता है। आश्रमधर्मभ्रष्ट नीचसत्त्व, अपवित्र व्यक्तियोंको अध्यात्मविद्याका उपदेश निष्फल ही नहीं होता, किन्तु अहितकर होता है। जिसके आध्यात्मिक उन्नतिका द्वार खुला हो, उसीको आध्यात्मिकपथ-प्रदर्शन करना उचित है। यदि ऐसा न हो और नीच अपवित्र अधिकारीको अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया जाय, तो अहङ्कारवृद्धिके साथही साथ उसका पतन होता है। ज्ञानका उन्माद अहङ्कार है; जिस प्रकार प्रकाशके साथ अंधकारका सम्बन्ध है, उसी प्रकार ज्ञानके साथ अहंकारका सम्बन्ध है। नीच व्यक्तिको अध्यात्मज्ञानका उपदेश देनेसे उसमें अहङ्कारका उदय होना स्वतःसिद्ध है और अहङ्कारके उदय होने से उसकी अवनति होना अनिवार्य्य है। अब इस विचारमें शंका यह हो सकती है कि, जिस मनुष्य-जातिमें वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं है, उस जातिमें क्या आध्यात्मिक विद्या प्राप्तिके अधिकारी ही नहीं हो सकते? इस सूत्रमें नीच शब्द-से तात्पर्य्य क्या है? क्या वर्णाश्रमधर्मी सब ही उच्चाधिकारी हो जाते हैं? इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान यह है कि वर्णधर्म द्वारा प्रवृत्तिका रोध तथा विषय-वैराग्यकी वृद्धि होकर आश्रमधर्म द्वारा

निवृत्तिका पोषण और आत्मज्ञानकी क्रमोन्नति होनेमें सुविधा होती है। इस कारण वर्णाश्रमधर्मकी प्रशंसा है। वस्तुतः वर्णाश्रम-धर्मियोमे भी सत, असत नीच, उच्च सब श्रेणीके अधिकारी हो सकते हैं। वर्णाश्रमधर्मका धर्मत्व विशेषता रखता है। व्यक्तिकी योग्यता और अयोग्यता उसके प्रारब्ध और पुरुषार्थपर निर्भर करती है। वर्णाश्रम न माननेवाली ऐसी अनार्य्यजातियाँ इस पृथिवी पर है और होगी, कि जिनमे कर्मकी विचित्र गतिके अनुसार तत्त्वज्ञानका कुछ कुछ अधिकारका उदय हो सकता है। ऐसी जातियोमे नीच, उच्च दोनो अधिकार होते हैं। परन्तु उनमे ज्ञानके असाधारण अधिकार दुर्लभ है, सुलभ नहीं है। और वर्णाश्रम-धर्मावलम्बी प्रजामे जिस प्रकार चिरस्थायी योग्यताका चिन्ह बना रहता है, अन्य प्रजामें वैसा नहीं रह सकता है। इस सूत्र में नीचशब्दका तात्पर्य्य अनधिकारीसूचक है, व्यक्ति या धर्म-सूचक नहीं है ॥३२२॥

प्रसङ्गसे विद्याशक्तिका रहस्य कहा जाता है—

महाशक्तिरूपा होनेसे इष्ट अनिष्ट विद्या द्वारा होता है ॥३२३॥

विद्या ज्ञान जननी है। और दूसरी ओर विद्यामे आत्मज्ञान बीजरूपसे निहित है। सुतरा ज्ञानजननी विद्या सब शक्तियोसे अतिशक्तिशालिनी है। यहाँ तककी विद्याशक्तिकी सहायतासे

इष्टाऽनिष्टे विद्यया महाशक्तिस्वरूपत्वात् ॥३१३॥

अमंगलमय जीव मंगलमय शिवरूपको प्राप्त होता है। वही विद्या परा अपरारूपसे दो भागमे विभक्त है। स्वस्वरूपप्रकाशिनी अध्यात्मज्ञान विवर्द्धिनी, तत्त्वज्ञानमूलिका विद्या पराविद्या कहाती है। उसकी साधनभूता यावत् लौकिक विद्या अपराविद्या कहाती है। सुतरां विद्या सर्वशक्तिमयी महाशक्तिरूपिणी है। जब वह पूर्णशक्ति रूपिणी है, तब वह इष्ट भी कर सकती है, अनिष्ट भी कर सकती है। अवश्य ही पराविद्याकी तो बात ही और है। क्योंकि पराविद्या केवल ब्रह्मज्ञान प्रदायिनी है। किन्तु अपरा विद्याके अनेक भेद है, क्योंकि वह लौकिक सम्बन्ध युक्त है। वह अपरा विद्या प्रकारान्तरसे सृष्टिके द्वन्द्वमूलक स्वाभाविक अस्वाभाविक सिद्धान्त के अनुसार दो भागमे विभक्त है। यथा दैवी विद्या और आसुरी विद्या। दैवीविद्या पराविद्याकी साधनभूता होनेसे मंगलकारिणी है। परन्तु आसुरीविद्या इन्द्रिय सेवामूलक, अर्थकामपरा और रजतमाश्रिता होनेसे जीव अमंगलकारिणी है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, अनन्त शक्तिधारिणी विद्या मंगल भी कर सकती है अमंगल भी कर सकती है। यदि वह अदूर्ध्वगामिनी है, अभ्युदयनिःश्रेयस प्रदान कर सकती है और यदि अधोगामिनी हो तो जीवको निम्नसे निम्नस्तरमें पहुँचा सकती है ॥३२३॥

प्रसङ्गसे वेदाधिकार निर्णय किया जाता है—

इस कारण शूद्रको वेद नहीं पढ़ाना चाहिये ॥ ३२४ ॥

शास्त्रोमे लिखा है कि वेदाधिकारत्रिवर्णको है शूद्रको नहीं।

शूद्रो नातो वेदमध्याप्य: ॥ ३२४ ॥

और वेद अध्यात्मज्ञानका आकर है, तथा इससे पहले यह सिद्ध हो चुका है कि अनधिकारपूर्वक यदि अध्यात्मज्ञानकी चर्चा की जाय, तो उससे अनिष्ट होता है, तथा विद्या पूर्णशक्तिविशिष्ट होनेसे सब कुछ करनेमें समर्थ है। अतः तमः प्रधान शूद्रवर्ण यदि वेदाध्ययन करे, तो उसके अनिष्ट होनेकी सम्भावना है। इस कारण अनिष्टाशंकासे शूद्रका वेदाध्ययन निषिद्ध है। तदतिरिक्त अनाचार, संस्काररराहित्य, ज्ञान अप्रवृत्ति, यथायोग्य कर्मानधिकार आदि भी इसके प्रबल कारण है॥ ३२४॥

अब पुनः प्रकृतविषयको कहते हैं—

प्रतिक्रियाका परिणाम फलके निमित्त होता है॥३२५॥

कर्मसे कर्मविपाकरूपी जो कर्मकी प्रतिक्रिया होती है, वह फलोत्पत्तिके निमित्त ही होती है, सृष्टिमें भी ऐसे ही देखनेमें आता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, एक वृक्षसे जब बीजकी उत्पत्ति हुई, वह बीज नूतन फलोत्पत्तिके लिये ही होता है। क्योंकि वही फल भोगरूप है, उससे जीवकी तृप्ति होती है। इसी उदाहरणसे समझ सकते हैं कि, मनुष्य जो कर्म करता है, और उसका बीजरूपसंस्कार जो चित्ताकाश और चिदाकाशमें रह जाता है, उससे पुनः प्रतिक्रियारूपी कर्मविपाक उत्पन्न होता है, वही उस जीवके सुख अथवा दुःखका कारण होता है॥ ३२५॥

प्रतिक्रियापरिणतिः फलाय ॥३२५॥

उसके भेदका दिग्दर्शन कराते हैं—

वह पूर्वानुरूपा भी होती है ॥३२६॥

कर्म जिस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण होता है, उसी प्रकार कर्मविपाक भी वैचित्र्यपूर्ण होता है। वह भोगरूपी कर्मविपाक अनन्तरूप-धारी होनेपर भी उसका साधारण भेद यह है कि, वह कर्मके अनुरूप होता है। अर्थात् जिस स्वरूपकी क्रिया होती है, उसी स्वरूपकी प्रतिक्रिया होती है। दिग्दर्शनार्थ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं यथा—यदि कोई व्यक्ति प्रजाको जलकष्ट देवे तो घोर मरुस्थलमें उसका जन्म होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति-का धन चुराकर उसको घोर कष्ट देवे तो, जन्मान्तरमें वह दरिद्र होता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वाधीनता और शक्तिका अपलाप करे तो जन्मान्तरमें वह पराधीन और शक्तिहीन होता है। यदि कोई व्यक्ति किसीका प्राणहनन करे तो, जन्मान्तरमें वह उसके द्वारा मारा जाता है, अथवा अल्पायु होता है। यदि कोई राजा प्रजापीड़न करे, तो वह जीव जन्मान्तरमें प्रजापीड़क राजाकी प्रजा बनता है। दानहीन मनुष्य जन्मान्तरमें धनहीन होता है। विद्वान् व्यक्ति यदि विद्यादान न करे, तो जन्मान्तरमें मूर्ख होता है। पति-शुश्रूषाविहीन पतिको दुःख देनेवाली स्त्री जन्मान्तरमें पतिविहीन विधवा होती है। इत्यादि इस कर्मविपाक शैलीके ज्वलन्त प्रमाण हैं ॥३२६॥

सा पूर्वानुरूपाऽपि ॥३२६॥

इस विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं—

दानादिमें भी ॥३२७॥

साधारण नियम कहनेके अनन्तर अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार विशेष नियम कह रहे हैं, वह यह है कि, दान, तप यज्ञादि अनुष्ठान जिस संकल्पसे किया जाता हैं, उस संकल्पके अनुसार इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें उक्त शुभ संकल्पित कर्मकी प्रतिक्रियारूपसे यथायोग्य संकल्पके अनुसार कर्मविपाकरूप फलकी उत्पत्ति होती है। उदाहरणरूप समझना उचित है कि, दानका कर्त्ता चाहे अर्थदान दे, चाहे अन्नादि दान देवे, वह दान करते समय उस दानके बदलेमें जिस सुखकी प्राप्तिकी इच्छा करेगा, वह सुख उसको प्राप्त होता है। तप करते हुए यदि तपस्वी जन्मान्तरमें राज्यसुख भोगकी इच्छा करे, अथवा कोई विशेष सुखकी इच्छा करे, तो उसको उसी संकल्पके अनुसार तथा तपकी उग्रताके अनुसार फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अश्वमेधादि यज्ञ द्वारा इन्द्रत्वप्राप्ति यज्ञका उदाहरण है। इसी प्रकार अत्युग्रकर्म होनेसे इसी जन्ममें फलोत्पत्ति हो सकती है ॥३२७॥

देशकालपात्रका सम्बन्ध कह रहे हैं—

योग्य दशामें होता है ॥३२८॥

ऐसा भी कर्मविपाकका प्रायः नियम पाया जाता है कि, जैसी

दानादिषु च ॥३२७॥

योग्यदशायाम् ॥३२८॥

दशामें जो क्रिया हुई है, उसकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही दशामें होगी। जिस वयमें जिस देशमें जिस कालमें जो क्रिया हुई है, उसकी प्रतिक्रिया भी उसी वय, उसी देश और उसी कालमें होगी। विपन्नदशामें किसीका धनापहरण करनेसे विपन्नदशामें उसको दरिद्रता आवेगी। विपत्तिमें भी दानबुद्धि रखनेसे कर्मीको वैसेही समयमें सहायता होगी। यहाँ इस विज्ञानका दिग्दर्शनरूपसे उदाहरण है ॥३२८॥

और भी कहते हैं—

वह पारस्परिका है ॥३२९॥

कर्मविपाकका यह भी नियम है कि वह भोगावस्थामें पारस्परिक सम्बन्धसे युक्त रहता है। उसका उदाहरण यह है कि, कोई किसीको मार डाले, तो जन्मान्तरमें हननकारीको उसके द्वारा मरना पड़ेगा, ऐसी सम्भावना रहती है। वह उसका साक्षात् कारण भी हो सकता है, परोक्षकारण भी हो सकता है। जैसा कर्मका वेग होगा, वैसेही प्रतिक्रिया होगी ॥३२९॥

अयुक्तकर्म कहकर अब युक्तकर्मके विपाकका स्वरूप कहा जाता है—

युक्तकर्म मुक्तिप्रद और एक है ॥३३०॥

अयुक्तकर्मकी विपाकशैलीका दिग्दर्शन पहले सूत्रमें किया गया

पारस्परिका सा ॥३२९॥

युक्तकर्म मुक्तिदमेकञ्च ॥३३०॥

है। अयुक्तकर्म बहुशाखासे युक्त होनेके कारण उसको कई प्रकारसे समझाया गया है। वासनाकी अनन्तता होनेसे अयुक्तकर्म भी अनन्तरूपधारी है। इस कारण उसकी प्रतिक्रियारूपी कर्मविपाक भी वैचित्र्यपूर्ण होगा ही इसमें सन्देह नहीं। और जब विभिन्न वासनामूलक है, तो उसके द्वारा आवागमनचक्र, जिसमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके अतिवैचित्र्यपूर्ण अधिकार है, तो चक्रमें घुमावके अनुसार प्राप्त होते रहते हैं और वे सीमाबद्ध नहीं होते। परन्तु युक्त कर्मोंका विपाक ऐसा नहीं होता है। युक्तकर्म एक लक्ष्ययुक्त तथा आत्माकी ओर संलग्न होनेके कारण वह मुक्तिप्रद है, और उसका रूप एकही होता है। इस विषयमें श्रीगीतोपनिषद् में कहा गया है कि—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

अर्थात् मनुष्य युक्त होकर कर्मफलका त्याग करके आत्यन्तिकी शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है किन्तु अयुक्त बहिर्मुख व्यक्ति कामनाके कारण फलमें आसक्त हो बन्धन प्राप्त करता है।

युक्त कर्म पुनः विचारप्राधान्य और भक्तिप्राधान्यके विचारसे दो श्रेणीका होता है। जिसके उदाहरण श्रीगीतोपनिषद्से दिये जाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

अर्थात् जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है, वही सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् युक्त तथा सब कर्मोंका करनेवाला है। तत्त्वज्ञ गुण कर्मके विभागसे यह समझकर कि गुण गुणोंमें वर्तते हैं, उनमें आसक्त नहीं होता है जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ दान करो या होम करो जो तप करो, वह सब मुझको अर्पण करो। जो सब कर्मोंको मुझमें अर्पण कर मत्परायण हो मेरा ध्यान करते हैं, मेरी उपासना करते हैं, इत्यादि प्रथम विचार प्रधान कर्मके उदाहरण और दूसरा भक्ति प्रधान कर्मके उदाहरण है।

ये दोनों ही एक हैं। एकमें विचारका प्राधान्य रहता है और दूसरेमें भक्तिका प्राधान्य रहता है। वस्तुतः दोनोंमें कर्मफल इच्छाका नाश हो जाता है और लक्ष्य एकमात्र आत्माकी ओर रहता है। एकतत्त्वयुक्त अन्तःकरण दोनोंमें ही रहता है। भेद इतना ही है कि, एकमें केवल कर्त्तव्यबुद्धिका प्राधान्य रहता है और दूसरेमें परमात्माकी ओर भक्तियुक्तभावका प्राधान्य रहता है। इस प्रकारसे युक्तकर्म एकतत्त्वसे युक्त है और मुक्तिका कारण

है। अयुक्तकर्ममें जैववासनाका साक्षात् सम्बन्ध रहता है। वासना अनन्त शाखाओंसे युक्त होती है, इस कारण अयुक्तकर्ममें एकतत्त्वका उदय हो ही नहीं सकता है। परन्तु युक्तकर्मका स्वरूप चाहे कैसा ही हो, उसमें वासनाका लेश न रहनेसे उसमें स्वतः ही एकतत्त्वका उदय बना रहता है। दूसरी ओर कर्मकी अपरिहार्य्य-शक्ति अपनी अभ्युदयकारिणी क्रिया द्वारा आत्मलक्ष्य युक्त एकतत्त्वकी सहयोगितासे कर्त्ताको निःश्रेयसपद प्रदान कराती है॥ ३३० ॥

प्रसङ्गसे वर्णाश्रमका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं—

वर्णाश्रमधर्म स्वाभाविक युक्तकर्म है ॥ ३३१ ॥

व्यक्तिगत युक्तकर्ममें जिस प्रकार आत्माकी ओर अबाधगति बनी रहती है, कर्मकी गतिकी वही शैली वर्णाश्रमधर्ममें स्वाभाविकरूपसे बने रहनेके कारण पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार वर्णाश्रम-धर्मका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं। वर्णाश्रमधर्ममें आत्माकी किस प्रकार ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है, उसका बहुत कुछ वर्णन पहले आ चुका है। जीव चाहे बिना विचारके ही वर्णधर्म और आश्रमधर्मके आचारोंका ठीक-ठीक पालन करता रहे, कितना ही जन्म बीत जाय, वह अवश्य ही ब्राह्मणवर्णमें पहुँचा कर संन्यास-की परमहंसगतिको प्राप्त करके मुक्तिपदमें पहुँच जायगा। कर्म-योगीको युक्तकर्म जिस प्रकार एक जन्ममें निःश्रेयस प्रदान कराता

वर्णाश्रमधर्मौ नैसर्गिकं युक्तकर्म ॥ ३३१ ॥

है, उसी प्रकार वर्णाश्रमधर्म जन्मजन्मान्तरमें जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। कर्मयोगीका एकजन्मव्यापी पथ और वर्णाश्रम-धर्मीका कई जन्मव्यापी पथका फल एक निःश्रेयस ही होनेके कारण वर्णाश्रमधर्मकी महिमा सिद्ध की गई है॥ ३३१॥

वह तपोवनकी तरह पवित्र है—

वह तपोवनकी तरह पवित्र है॥ ३३२॥

त्रिलोकपवित्रकारी तपोवनका महत्त्व सर्वोपरि है। स्थूल-शरीरमें जिस प्रकार मस्तक और सूक्ष्मशरीरमें जिस प्रकार बुद्धिका महत्त्व और प्राधान्य स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार इस मृत्युलोकमें तपोवनोंका महत्त्व सर्वोपरि है। मृत्युलोकमें वेदाविर्भावके स्थान होनेसे, आर्य्यजातिकी लीलाभूमि होनेसे और आत्मज्ञानका विकाशस्थल होनेसे आर्य्यावर्त्त उत्तमांग है। पुनः अनेक तीर्थराजिविराजित आर्य्यावर्त्तमें उसके तपोवनसमूह सर्वोत्तम महातीर्थरूप हैं। तपःस्वाध्यायनिरत विषयरागरहित परोपकार व्रतधारी तथा केवल आत्मरतिमें ही सन्तुष्ट देवताओंके भी आराध्य ब्राह्मणगण केवल जगत् कल्याणबुद्धिको धारण करते हुये तपोवनमें वास करते हैं और उनकी विवेकनिःसृत ऋतंभराका परिणामरूपी शास्त्रसमूहके अवलम्बनसे ही ज्ञान ज्योतिका विस्तार केवल मृत्युलोकको ही आलोकित नहीं करता है किन्तु त्रिलोकको आलोकित करता है। तपोवनवासी निवृत्तिसेवी

स पावनस्तपोवनवत्॥ ३३२॥

सच्चे ब्राह्मणोंको जगत्के अतुल ऐश्वर्यसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेपर भी, शूद्रके शिल्प ऐश्वर्य्य समूह, वैश्यके धनधान्य ऐश्वर्य्य समूह, क्षत्रियके अतुलनीय राज्यवैभवके ऐश्वर्य्यसमूहसे उनका अणुमात्र भोगसम्बन्ध न रहनेपर भी वे चातुर्वर्णकी मर्य्यादा-रक्षा और समस्तपृथिवीके मानव-जातिके आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिकरूपी त्रिविध कल्याणमें रत होकर तपोवनकी पवित्रताकी रक्षा किया करते हैं। ऐसे ब्राह्मणोंके वाससे जो तपोवन पूत हो, उसकी महिमा जितनी की जाय, उतनी थोड़ी है। रागद्वेषरूपी रज और तमका विकार तपोवनको स्पर्श नहीं कर सकता। उसका प्रत्यक्ष और ज्वलन्त प्रमाण यह है कि, तपोवनमें हिंस्रपशुगण भी अपने हिंस्रवृत्तिको भूलकर वहाँ विचरण करते हुये तपोवनकी शोभा बढ़ाया करते हैं। प्रकृति माता स्वयं अपने सर्वप्रिय पुत्रोंपर स्नेहवशीभूत हो अपने पूर्ण सौन्दर्य्योंसे वहाँ विराजमान रहती हैं। अध्यात्मचिन्तनके अतिरिक्त अन्य किसी चिन्ताका अवसर ही तपोवनमें नहीं रहता है। ऐसे तपोवनकी पवित्रताकी महिमा कौन वर्णन कर सकता है—जितना किया जाय उतना ही कम होगा। साधारणबुद्धिसे मनुष्य जिस प्रकार पृथिवीको क्षेत्र समझता है, अन्तर्दृष्टि सम्पन्न योगीगण उसी प्रकार स्थूलशरीरको क्षेत्र समझते हैं। भूमिके विचारसे जिस प्रकार तपोवनकी पवित्रता सर्ववादी सम्मत है, उसी प्रकार स्थूलशरीरकी पवित्रता रक्षाके लिये वर्णाश्रमधर्म परम-पवित्र कार्य्य है। इस सिद्धान्तको अन्तर्दृष्टिसम्पन्न दार्शनिकोंने

अपनी अकाट्ययुक्तिके द्वारा निश्चय कर दिया है। स्थूलशरीरकी सहायतासेही आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गमें सरलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। परन्तु वह सरलता तभी बनी रह सकती है कि जब उत्तरोत्तर अधिकारके अनुसार शरीर अभ्युदय करानेवाला मिलता जाय; क्योंकि अनधिकारका स्थूलशरीर अधिकारका अवरोधक है। अतः वर्णाश्रमव्यवस्थासे युक्त स्थूलशरीरसमूह आत्माकी क्रमोन्नतिके साधक होनेसे तपोवनकी पवित्रताके साथ वर्णाश्रमधर्मकी पवित्रताकी उपमा दी गई है॥३३२॥

अब तीसरी महिमा कह रहे हैं—

वह निर्विषय, शान्तिमय और आनन्दमय है॥३३३॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। इस कारण यह स्वतः ही सिद्ध है कि वर्णाश्रमसदाचारका क्रम विषयरागरहित होनेका श्रेष्ठ उपायरूप है। जिस साधनशैलीमें उत्तरोत्तर विषयराग घटता जाय, उसमें शान्तिकी प्राप्ति भी निश्चित है। वर्णाश्रमधर्मावलम्बी प्रजा चाहे और कुछ भी न करे और अपने वर्णाश्रमके अनुकूल आचारोंका पालन करती रहे तो स्वतः ही उससे विषयवासना भी घट जाएगी और उसमें शान्तिका भी क्रमशः उदय होता रहेगा। रज और तमोगुणसे दुःखकी प्राप्ति हुआ करती है, और सत्त्वगुणकी क्रमाभिव्यक्तिसे आनन्दस्वरूप भगवान्‌का

स निर्विषयः शान्त्यानन्दमयश्च ॥ ३३३ ॥

उदय साधकके चित्ताकाशमें हुआ करता है। जब सत्त्वगुणकी क्रमाभिव्यक्ति ही वर्णाश्रमसदाचारका लक्ष्य है, तो उसके द्वारा आनन्दका विकाश होगा ही इसमें सन्देह ही क्या है ॥ ३३३ ॥

अब चतुर्थ प्रकारसे महिमा कह रहे हैं—

स्वतः उससे इन्द्रिय प्रत्याहार और आत्मप्रसाद उत्पन्न होता है ॥ ३३४ ॥

वर्णधर्मके पालन करनेसे जन्मजन्मान्तरमें उत्तरोत्तर रज और तमोगुणके दबनेसे और सत्त्वगुणके क्रमशः उदय होनेसे इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे प्रत्याहार स्वतः ही होता जाता है। और आश्रमधर्ममें उस प्रत्याहारकी चरितार्थता होकर तुरीय आश्रममें उसकी पूर्णसिद्धि हो जाती है। ब्राह्मणवर्णमें ही यथा सन्न्यासका अधिकार प्राप्त होनेके कारण वर्णाश्रमसदाचार-की अन्तिम परिधिमें उस इन्द्रिय प्रत्याहारभोगका पूर्ण अधिकार मनुष्यको स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। और विषयसे जब इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे निवृत्त हो जाती हैं, तो मनुष्यकी इस तुरीयावस्थामें आत्मप्रसादका पूर्णोदय हो जाता है। वस्तुतः इस प्रत्याहारयोगकी सिद्धि और आत्मप्रसादलाभके लिये जीवको स्वतन्त्ररूपसे परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। कर्मके पारदर्शी-धर्माचार्य्योंने वर्णाश्रमधर्मके नियमोंको इस प्रकारसे निर्माण किया है, कि उसके पालन करते करते आवागमनचक्रमें भ्रमण

स्वतस्तेनेन्द्रियप्रत्याहारात्मप्रसादौ ॥ ३३४ ॥

करता हुआ जीव स्वतः ही निःश्रेयसपदप्रद इन विभूतियोंको प्राप्त कर लेता है॥ ३३४॥

पाँचवें प्रकारसे महिमा कह रहे हैं—

उससे गंगाप्रवाहकी तरह क्रमोन्नति होती है ॥३३५॥

पतितपावनी गंगा जिस प्रकार गोमुखीस्थानसे प्रवाहित होते समय बहुत छोटी धारामें निकलती है, उसके अनन्तर उत्तराखण्ड की नाना स्वर्गीय नदीसमूहोंसे मिलकर शक्तिशालिनी होती हुई हरिद्वारमें पहुँचती है। तदनन्तर समतलभूमिमें वह तरलतरङ्गिणी प्रवाहित होती हुई नानासंगिनियोंको लेकर त्रिवेणीमें जाकर अतिप्रबलरूपको धारण करती है। और अन्तमें बड़ी-बड़ी महानदियोंको साथ ले सर्वोत्तम महानदी बनकर पारावारमें जा मिलती है। उसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चार वर्ण और चार आश्रमोंकी भूमिको अतिक्रमण करके उत्तरोत्तर अभ्युदय प्राप्त करता ही रहता है। और अन्तमें ब्रह्मसमुद्रमें जा मिलता है॥ ३३५॥

अब षष्ठ महिमा कह रहे हैं—

पार्वत्य आमकी तरह रजोवीर्य्यशुद्धि द्वारा सर्वसाध्य है॥ ३३६॥

यह प्रायः देखा गया है कि आम्रका वृक्ष बड़ा उत्तम और

क्रमोन्नतिस्ततो गङ्गाप्रवाहवत्॥ ३३५॥

रजोवीर्य्यशुद्धयौ साध्यमखिलं धराधररसालवत्॥ ३३६॥

सुमिष्टफल भारतके समतल भूमिमें ही देता है। जब वह आम्र-का वृक्ष उच्च और पार्वत्यभूमिमें लगाया जाता है, तब कुछ दिनोंके बाद वह छोटा और खट्टा फल देने लगता है। पुनः वह पार्वत्य आम्रबीज यदि समतलभूमिमें लाया जाता है, यदि भूमि अनुकूल हो तो समयान्तरमें उस खट्टे आमके बीजसे पुनः सुमिष्ट आम होने लगता है। उसी प्रकार यदि रजोवीर्य्यकी शुद्धि रहे, तो ब्राह्मणादि वर्ण कालप्रभावसे प्रमादग्रस्त, मूर्ख, अशुचि और पतित हो जानेपर भी कालान्तरमें उसी वंशमें अच्छे ब्राह्मणादि उत्पन्न हो जाते हैं। रजोवीर्य्यकी शुद्धिकी यह महिमा है कि यदि कोई ब्राह्मणवंश अथवा क्षत्रियवंश अपने सदाचारसे च्युत और पतित हो जाय तौभी कालान्तरमें उसी वंशसे योग्यसंतति उत्पन्न होती है॥ ३३६॥

अब सातवीं महिमा कह रहे हैं—

पर्व्वतके आघात प्रतिघातसे विशेष जलश्रोतके समान समष्टि शक्तिकी विशेषता प्रधानकारी है॥ ३३७॥

जब तरलतरङ्गिणी नदी पार्व्वत्यप्रदेशोंमें बहती हुई आती है, उस समय स्थान-स्थान पर जलप्रवाह टकराकर जिस प्रकार उत्तरोत्तर शक्तिको प्राप्त करता जाता है, उसी उदाहरणसे समझना उचित है कि जीवका अभ्युदयप्रदधर्म वर्णाश्रमरूपी बन्धमें टकराता हुआ समष्टि कर्मकी शक्तिको बढ़ाता है।

तेन समष्टिशक्तिविशेषः उपनाहतिप्रवाहविशेषवत्॥ ३३७॥

पार्व्वत्य नदियोंका प्रवाह देखनेसे जाना जाता है कि, पर्व्वतोंमें नदी जितनी बाधाको प्राप्त होती है, उतने ही प्रबल वेगसे बहती है; प्रत्येक बाधामें उसका वेग अधिकसे अधिक होता है। बाधा-स्थान पर अधिक जल एकत्रित होनेपर एकत्रित जल और शक्ति दोनों ही प्रबलताको प्राप्त हो जाते हैं। चार वर्ण और चार आश्रम ये चार टकरानेके स्थान हैं। इन आठों स्थानोंमें जीव प्रवृत्तिके रोध करनेका और निवृत्तिके बढ़ानेका अधिकार प्राप्त करता है। इन्हीं आठों स्थानोंमें जीव जितना-जितना इन्द्रियोंकी ओरसे मुँह फेरता जाता है, उतना ही आत्माकी ओर अग्रसर होता जाता है। वर्णके चारों स्थल जन्मसे अतिक्रमण करने योग्य है और आश्रमके चारोंके चारों स्थल अभ्यास और शिक्षासे अतिक्रमण करने योग्य है। इस प्रकारसे जीव अभ्युदय मार्गके इन आठों विश्रामस्थलोंमें नवीन शक्ति संचार करता हुआ अपनी ऊद्र्ध्वगतिको सरल रखता है॥ ३३७॥

अब आठवीं महिमा कह रहे हैं—

उससे क्रमशः धर्मका विकाश होता है॥ ३३८॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि धर्म ही क्रमशः जीवको ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय देता हुआ अन्तमें मुक्त कर देता है। और यह भी भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि स्वाभाविक संस्कार क्रमविकाशको प्राप्त होकर धर्मकी धारिका-

---

ततः क्रमविकाशो धर्मस्य॥ ३३८॥

शक्तिका सहायक बन कर यह ऊर्द्ध्वगति सुसम्पन्न करता है। अतः वर्णकी चार सन्धियों और आश्रमकी चार सन्धियोंमें इनके बँधे हुये सदाचारोंके द्वारा धर्मका क्रमशः विकाश होता हुआ जीवके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण वर्णाश्रमधर्म बनता है। वर्णाश्रमधर्म पालन करनेसे जो जीव जहाँ रहे, उसकी अधोगति नहीं होगी और उसकी ऊर्द्ध्वगति बनी ही रहेगी। ऐसी ही वर्णाश्रमसदाचारकी वैज्ञानिक शैली है॥ ३३८॥

नवीं महिमा कह रहे हैं—

उसे गृहपशुकी तरह स्वातन्त्र्यादिका हान होता है॥ ३३९॥

जो महिष, श्वान आदि गृहपशु जिस प्रकार पाशव निरंकुशतावृत्तिको भूल जाते हैं, उसी प्रकार वर्णाश्रमसदाचार पालन करता हुआ जीव जैवी निरंकुशताको भूलकर अपनी इन्द्रियवृत्तिको नियोजित करनेमें अपने आप ही समर्थ हो जाता है। वन्य गौ, वन्य महिष और वन्य श्वान किस प्रकार भयानक होते हैं, सो सभी जानते हैं परन्तु ये सब गृहपालित जन्तुमें उस प्रकारकी भयानकताका कोई भी लक्षण नहीं रहता है। वन्यपशुओंके निकट जाते हुए बड़े-बड़े शिकारी भी भयभीत होते हैं, परन्तु वे ही गृहपालित पशुके निकट बालक-बालिका भी सुरक्षित रहते हैं। इसी उदाहरणसे समझना उचित है कि वर्णाश्रमधर्मरहित

ततः स्वातन्त्र्यादिहानं गृहपशुवत्॥ ३३९॥

मनुष्यकी पशुवृत्तियाँ संयमित नहीं रह सकती हैं और वर्णाश्रमसे युक्त मनुष्यजातिकी पशुवृत्तियाँ स्वतः लयको प्राप्त होती जाती हैं ॥ ३३९ ॥

दशवीं महिमा कह रहे हैं—

छायाक्रान्त वृक्षकी तरह वर्णोंका बीज है ॥ ३४० ॥

छायामें रहा हुआ आम्रादि वृक्ष जिस प्रकार लता या गुल्म आदिकी तरह बन जाता है और छाया दूर होते ही वह पुनः अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्णका शुद्ध बीज रहनेसे पुनः उस जातिसे योग्य अधिकारी उत्पन्न होते हैं। वर्णधर्मका सदाचार तथा वर्णधर्मके वीर्य्यकी शुद्धिकी यह असाधारण महिमा है कि यदि ब्राह्मणादि कोई वर्णका कुल, विद्या आदिसे रहित अयोग्य हो जाय, परन्तु उसका रजोवीर्य्य शुद्ध रहे, तो पुनः कालान्तरमें सुअवसर आनेपर कई पुरुषके बाद भी उस कुलमें पूर्णयोग्यता प्रकट हो सकती है ॥ ३४० ॥

उसके न होनेका दोष दिखाया जाता है—

उसके अभावसे विपरीत फल होता है ॥ ३४१ ॥

जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं है, उसमें पूर्वकथित फलोंकी उत्पत्ति नहीं होती वरन् उससे विपरीत फल

वर्णबीजं छायाक्रान्तवृक्षवत् ॥ ३४० ॥

ध्रुवं वैपरीत्यं तदभावे ॥ ३४१ ॥

होता है। वर्णाश्रमहीन मनुष्यजातिमे नियमितरूपसे प्रवृत्तिका रोध नही होता है और न निवृत्तिकी नियमित वृद्धि ही हो सकती है। उसी प्रकार उसमें उद्दाम पाशववृत्तियोका विलय भी नियमित नही हो सकता है तथा इस प्रकारसे अभ्युदयका क्रम नष्ट हो जाने से उस जातिकी अधोगति हो जाती है ॥ ३४१ ॥

इस अधोगतिका परिणाम कह रहे है—

इस कारण वर्णाश्रमधर्महीन जाति लयको प्राप्त होती है ॥ ३४२ ॥

वर्णाश्रमधर्मसे हीन मनुष्यजाति कदापि इस संसारमें स्थायी नहीं रह सकती है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि जब जीव पूर्णावयव होकर मनुष्ययोनिमें पहुँचता है, तो उसमे अभ्युदय होनेका नियमित क्रम रुक जाता है। इस कारण मनुष्ययोनिमे क्रमोद्ध्र्वगतिके स्थानपर अधोगतिका क्रम स्वाभाविक हो जाता है। उस समय वर्णाश्रमधर्म यदि उसकी रक्षा न करे और उसकी क्रमोद्ध्र्वगतिको पुनः स्थापित न करे, तो उसकी अधोगति निश्चित हो जाती है और वह मनुष्यजाति निरंकुशसे अति-निरंकुश होती हुई असभ्यसे अति असभ्य होकर मनुष्यत्वहीन हो जाती है। पृथिवीके नाना अनार्य्यजातियोंमे यही परिणाम नियमितरूपसे देखनेमे आया है और आवेगा। अनन्तकालसे अनन्त अनार्य्य जातियाँ प्रकट हुई हैं। आधिभौतिक जगत्में

तस्माद् वर्णाश्रमहीना जातिर्विलीयते ॥ ३४२ ॥

बहुत कुछ उन्नति दिखायी है और यहाँ तक कि आर्य्यजातिको अधिकृत और परास्त भी किया है, परन्तु ऐसी जातियोंका अन्तमें कराल-कालके कवलमें चले जाना निश्चित है ॥ ३४२ ॥

पुनः प्रकृत विषयको कह रहे हैं—

देवऋषि और पितृगण कर्मके अधीन हैं ॥ ३४३ ॥

वर्णाश्रमसदाचारका महत्त्व वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार प्रकृत विषयका स्वरूप दृढ़ करानेके अर्थ उसकी विशेष शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्माण्डके चालक तीन श्रेणीके देवता हैं। वे ऋषि, देव और पितृ कहाते हैं। उनपर ब्रह्माण्डके कौन-कौन विभागोंका कार्य्य निर्भर करता है सो पहले ही कहा गया है। वे तीनों श्रेणीकी शक्तियोंके अधिष्ठातागण भी कर्मके अधीन हैं। प्रत्येक पिण्डका जैसा व्यष्टि कर्म होता है और प्रत्येक ब्रह्माण्डका जैसा समष्टिकर्म होता है, उसीके अनुसार पितृगण आधिभौतिक व्यवस्था, देवतागण अधिदैव व्यवस्था और ऋषिगण अध्यात्म व्यवस्थामें तत्पर होते हैं। कर्मके विरुद्ध वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं। उनमें अपने-अपने अधिकारके अनुसार बहुत कुछ शक्ति और स्वाधीनता रहनेपर भी वे कर्म-राज्यके नियमके विरुद्ध कुछ भी नहीं करते हैं। ब्रह्माण्डधारक कर्म महाशक्तिधारी देवता ऋषि और पितरोंके क्रिया-कलापका भी नियामक है ॥ ३४३ ॥

कर्मायत्ताः पितृदेवर्षयः ॥ ३४३ ॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

भगवान्के अवतार भी ॥ ३४४ ॥

निर्गुण, अद्वितीय सच्चिदानन्दमय ब्रह्म अपनी प्रकृतिको अपनेमेंसे व्यक्त करके द्वैतरूपको धारण करके सगुण बनते हैं। गुणमयी ब्रह्मप्रकृति निर्गुण ब्रह्मको सगुण ईश्वर बनाती है। अवतार सगुण ईश्वरके हुआ करते हैं। सर्वव्यापक ईश्वरको स्वतन्त्र विग्रह धारणकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि सारा संसार ही उनका स्वरूप है। उनके विराट् विग्रहसे कोई वस्तु नहीं हो सकती है। उनका विराट्देह समष्टिरूप है और ब्रह्माण्ड के अनन्त पिण्ड व्यष्टिरूप है। वे अपनी शक्तिकी विशेष कलाको विशेष पिण्डमें प्रकट करके स्वयं ही अवतार स्वरूपको धारण करते हैं। जिस पिण्डमें उनकी अवतारोपयोगिकला ब्रह्मप्रकृति महामाया प्रकट करती है, वही पिण्ड अवतार कहाने लगता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार भगवदवतार दशकला, द्वादशकला, चतुर्दशकलासे कलावतार और षोड़शकलासे पूर्णावतार कहाते हैं। वस्तुतः इसी कारणसे सगुण ब्रह्म और उनके अवतारोंमें भेद नहीं समझा जाता है। क्योंकि वे ही कलारूपसे उन अवतारविग्रहोंमें विद्यमान रहते हैं। दैवीमीमांसादर्शनमें अवतारतत्त्वका रहस्य भलीभांति प्रकट है। अवतारका आविर्भाव और तिरोभाव भी कर्माधीन है। क्योंकि जब जीवोंके समष्टिकर्मोंका ऐसा विपाक उपस्थित

भगवदवतारोऽपि ॥ ३४४ ॥

होता है, उसी विपाकके अनुसार ही धर्मके संस्थापनके लिये सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् अवतार विग्रह धारण करते हैं। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि भगवत् अवतारका प्राकट्य भी कर्माधीन है ॥३४४॥

और भी कहते हैं—

जीवन्मुक्त भी ॥३४५॥

यद्यपि जीवन्मुक्त महात्मा कर्मबन्धनसे अतीत होकर ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाते हैं, परन्तु प्रकारान्तरसे उनका शरीर कर्माधीन ही रहता है। जीवन्मुक्त दो श्रेणीके होते हैं यथा ब्रह्मकोटि और ईशकोटिके। संचित और क्रियमाण कर्म दोनोंको ही छोड़ देता है। परन्तु दोनों ही प्रारब्ध कर्मके अधीन कुलालचक्रवत् रहते हैं। और दोनों को ही प्रारब्ध कर्म भोगना पड़ता है। दूसरी ओर ईशकोटिके जीवन्मुक्त भगवदवतारोंके सदृश समष्टि कर्माधीन होकर जगत्सेवामें भी प्रवृत्त रहते हैं। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि जीवन्मुक्त भी कर्माधीन हैं ॥३४५॥

और भी कहते हैं—

पूर्णावतार भी उससे निस्तार नहीं पाते हैं ॥३४६॥

पूर्णशक्तिधारी षोड़शकलासे पूर्ण सगुणब्रह्मके जो पूर्णावतार होते हैं, वे भी कर्मकी सार्वभौमशक्तिसे अतीत नहीं हो सकते

जीवन्मुक्तोऽपि ॥३४५॥

पूर्णावतारोऽपि ततो न विमुच्येत ॥३४६॥

हैं । क्योंकि उनको भी सृष्टि सम्बन्धीय समष्टिकर्मके अधीन होकर असाधुओंका तिरस्कार और साधुओंका परित्राण करना पड़ता है । और समष्टि कर्मविपाकके अनुकूल ही उनको अपनी लीलाको नियन्त्रित करना पड़ता है । पूर्णावतार अध्यात्मशक्ति अधिदैवशक्ति और अधिभूतशक्ति इन तीनों शक्तियोंसे पूर्ण होते हैं । इस कारण वे सर्वशक्तिमान् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्तुं में समर्थ होते हैं । तौ भी उनको समष्टिकर्मकी गतिको मानकर चलना पड़ता है ॥३४६॥

उदाहरणसे विज्ञानकी पुष्टि की जाती है—

यथा भगवान् कृष्ण ॥३४७॥

यह सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" । यह सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि आनन्दकन्द श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र षोड़शकलासे पूर्ण पूर्णावतार हैं । उनकी लीलाकी पर्य्यवलोचना करनेसे उक्त विज्ञानकी सिद्धि स्वतः होती है । श्रीभगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे श्रीगीतोपतिषद्‌में कहा है कि "हे अर्जुन मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हुये हैं । उसे मैं जानता हूँ तुम नहीं जानते तथा धर्मकी स्थापना और अधर्मके नाशके लिये ही मैं युग युगमें अवतार लेता हूँ ।" यह दोनों सिद्धान्तवचन ही इस विज्ञानका पूर्णतया परिपोषक है । ऐसे सर्ववादीसम्मत पूर्णावतारको भी स्वकीय कर्म मर्य्यादाका पालन करना पड़ा था ।

यथा भगवान् कृष्णः ॥३४७॥

सर्वशक्तिमान् होनेपर भी अपनी बाल्यलीलामें उनको साधारण जीव पिण्डधारीके समान मथुराके पितृगृहको छोड़कर गोकुलमें अन्य गृहका आश्रय लेना पड़ा था। तथा बृजभूमिमें कर्मवश ही उनको अनेक लौकिक और अनेक अलौकिक क्रियाओंका आश्रय लेना पड़ा था। कर्मवश ही उनको लोकोत्तर व्रजलीला मर्य्यादा और अमर्य्यादा दोनोंकी समता दिखाकर अपने कर्मातीत ईश्वरत्वकी रक्षा करनी पड़ी थी। यौवनावस्थामें लोकातीत निष्काम कर्मयोगमें स्थित रहनेपर भी गृहस्थाश्रम-वैभव और राजवैभवकी पराकाष्ठा कर्मके अधीन होकर उनको जगत्को दिखाना पड़ा था। जगत्विख्यात कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें भी भगवान्का नेतृत्व कर्मकी सर्वोपरि महिमा प्रतिपादन करता है। और श्रीभगवान्के विग्रहका अन्तमें पतन भी कर्मके उस गौरवको दृढ करता है ॥३४७॥

अन्य प्रकारसे महत्त्व प्रतिपादन किया जाता है—

विशेष पुरुषार्थसे गुल्म वृक्षकी तरह अन्य अन्य हो जाता है ॥३४८॥

वृक्ष जातीय उद्भिज औषधादि प्रयोगसे और निरन्तर काट छांट करनेसे कालान्तरमें गुल्मरूपको धारण कर लेता है। यहाँ तक कि आम्रवृक्षको कदाचित् गुल्मरूपमें और लतारूपमें उद्भिज-तत्त्ववेत्तागण परिणत कर लेते हैं। इस प्रकारसे असाधारणकर्म

पौरुष्यविशेषादन्योऽन्यः स्याद् गुल्मवत् ॥३४८॥

द्वारा एक जातिका मनुष्य अन्यजाति बन जाता है अथवा एक आश्रमका मनुष्य उच्चतर आश्रम तक पहुँच सकता है। योग, तप, अध्यात्म-चिन्तन आदि असाधारण पुरुषार्थ द्वारा एक वर्णका मनुष्य दूसरे उच्चवर्णका बन सकता है। उसी प्रकार असाधारण पाप कार्य्य द्वारा आर्य्यजाति अनार्य्य-जाति भी बन सकती है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी संन्यासी हो सकता है और सन्न्यासी भी पतित होकर गृहस्थ हो सकता है ॥ ३४८ ॥

विज्ञानकी पुष्टिके लिये उदाहरण दे रहे हैं—

यथा विश्वामित्र ॥३४९॥

ब्राह्मणादि उच्चवर्ण प्रबल पापकर्म द्वारा शूद्र अथवा अनार्य्य अथवा असुर हो सकता है। इसका प्रमाण पुराणोंमें अनेक मिलता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारीसे तुरीय आश्रम संन्यासमें पहुँच जाना इसका प्रमाण तो स्मृतिशास्त्र ही देता है। आश्रमों-का पतन भी स्वतः सिद्ध है। परन्तु एक निम्न वर्ण दूसरे उच्च-वर्णमें एक ही जन्ममें पहुँच जाना प्रायः असम्भव होनेसे पूज्य-पाद महर्षिसूत्रकार उदाहरण द्वारा प्रकृतविज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं। वर्णधर्मके साथ रजोवीर्य्यका साक्षात् सम्बन्ध होनेसे एक निम्न वर्णसे उच्चवर्णमें पहुँचना असम्भव ही है। परन्तु उग्र-

---

यथा विश्वामित्रः ॥३४९॥

कर्मके द्वारा कहीं-कहीं वैसा भी होनेका प्रमाण मिलता है। विश्वामित्रकी जीवनी उसका प्रमाण है। राजर्षि विश्वामित्र एक ही जन्ममे उग्रतपस्या द्वारा ब्रह्मर्षि हुए थे। कर्मकी असाधारणशक्ति और महिमाका यह ज्वलन्त प्रमाण है॥ ३४९॥

प्रसंगसे शकासमाधान कर रहे है—

यह अलौकिक है॥ ३५०॥

यदि जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो कि विश्वामित्रजी क्षत्रिय होनेपर एक ही जन्ममें ब्राह्मण हो सकते है, तो जन्मसे जाति निर्णयकी आवश्यकता क्या है? केवल कर्म द्वारा ही जाति निर्णय क्यो न किया जाय? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमे पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। महर्षि विश्वामित्र एक ही जन्ममें क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे। पुराण इसका प्रमाण देता है कि, उग्र तपस्यारूपी अतिबलवान् शुभ कर्मके फलसे वे एक ही जन्ममे अपने शरीरके परमाणुओंको बदलकर क्षत्रियसे ब्राह्मण बने थे। यह कर्मकी पूर्णशक्तिमत्ताका ही फल है। परन्तु कर्माधिकार लौकिक नहीं है अलौकिक है। क्योंकि एक जन्ममें अपने माता-पितासे पाए हुये तथा रजोवीर्य्यसे आकर्षित परमाणुगुणको एकबार ही परिवर्त्तन करके एक ही जन्ममे नये परमाणु बाहरसे संग्रह करना लौकिक कार्य्य नहीं है

अलौकिकमेतत्॥ ३५०॥

अलौकिक कार्य्य है । यह अलौकिक कार्य्य केवल प्रबल तपस्या और योगशक्ति सापेक्ष है ॥ ३५० ॥

अब दूसरे प्रकारसे विज्ञानकी पुष्टि कर रहे है—

असत् कर्म द्वारा सब अवनति वृक्षके लता होनेके समान होती है ॥ ३५१ ॥

सत् अर्थात् शुभकर्मकी शक्तिके उदाहरण देकर कर्मका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए अब असत् अर्थात् अशुभकर्मके प्रसंगसे स्वविज्ञानकी पुष्टि की जा रही है। कर्मका बल और कर्म की महिमा सर्वोपरि है। इस कारण कर्म चाहे सत् हो या असत् शक्तिमे दोनो ही समान हैं। सत्कर्म अर्थात् धर्म जिस प्रकार जीवको सब उन्नत अधिकार प्रदान कर सकता है जैसा कि पहले सिद्ध हो चुका है, उसी प्रकार असत्कर्म अर्थात् अधर्म जीवको अतिसे अतिनिम्न गतिको पहुँचा सकता है। लौकिक उदाहरणके रूपसे कहा जाता है कि जैसे बृहज्जातीय महातरु भी छाया, प्रतिकूल भूमि और देशकालके प्रभाव अथवा औषधि आदिके प्रयोग द्वारा गुल्म अथवा लता बन जाता है, उसी प्रकार जीव असत् कर्मके प्रभावसे तीर्य्यक्त्व तक प्राप्त हो सकता है। निम्नसे निम्न ऐसी कोई भी पतनकी अवस्था नहीं है, जो असत् कर्मके प्रभावसे न हो सके ॥ ३५१ ॥

असत्कर्मणा सर्वावनतिर्वृक्षलतावत् ॥ ३५१ ॥

प्रसंगसे शंका समाधान कर रहे हैं—

नौकेकी साम्यस्थितिवत् अनुष्ठानादि द्वारा विपद्से मुक्ति होती है ॥ ३५२ ॥

अब यदि कर्मजिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो कि शुभकर्म भी समान बलशील है और अशुभकर्म भी समान बलशाली है तो अनुष्ठानादिसे फल नहीं होगा ऐसा क्यों नहीं मानें ? इस दशामें अनुष्ठानादिकी सार्थकता क्या है ? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अनुष्ठानादि भी कर्म है; कर्मकी अपरिहार्य्यशक्ति अनुष्ठानादिमें भी उपस्थित है। इस कारण अनुष्ठानादि विफल नहीं हो सकते हैं। नावकी स्थितिकी साम्यरक्षा करके उसको चलानेपर न उसकी गतिमें फेर पड़ता है और न उसके डूबनेकी सम्भावना रहती है। और विशेषतः उसकी गति सरल और द्रुत हो जाती है; उसी प्रकार अनुष्ठानादि क्रियाका भी फल समझा जाय। नाव यदि टेढ़ी रहे, नावका भार यदि एक ओर कम और एक ओर अधिक, अर्थात् नावकी स्थिति यदि असाम्य हो, तो नावकी गति रुक जाती है। और आन्धी आदिका सामना करने पर नाव डूब भी जा सकती है। परन्तु जबतक नावकी स्थिति साम्य रहेगी, तबतक न उसको कोई डूबा सकता है और न उसकी गतिका रोध कर सकता है। उसी प्रकार अनुष्ठानादि द्वारा कर्म-

---

अनुष्ठानादितो विपन्मुक्तिः साम्यस्थित्योस्तरणिवत् ॥ ३५२ ॥

विपाककी गति सरल हो जाती है और उपस्थित विपाकजनित विपत्से मनुष्यकी विमुक्ति भी हो जाती है। अनुष्ठान दोनों ओर कार्य्य करता है। भोगकी अवधि और शक्तिको भी घटाता है और दूसरी ओर भोगसे शीघ्रतासे बचाता है। इस प्रकारसे गतिको सरल करता है। अब यदि यह शंका हो कि जब प्रबल अनुष्ठान द्वारा विपत्तिको एकबार ही हटा दिया जाय और कर्म-विपाकके धक्केको आने ही न दिया जाय, तो इस सूत्रोक्त विज्ञान की सार्थकता कैसे समझी जायगी? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि यदि कर्मविपाक उस समय न होने पाया तो और भी अच्छा है। उस जीवका अभ्युदय मार्ग एकबार ही निष्कण्टक हो जाएगा। और यदि वह शुभ पुरुषार्थ करता ही रहे, तो पुनः उन पुराने अशुभकर्मोंका वेग आने ही नहीं पावेगा॥ ३५२॥

कर्मकी सर्वोपरि महिमा सिद्ध की जाती है—

त्रिमूर्त्ति कर्मायत्त हैं॥ ३५३॥

कर्मकी ऐसी असाधारण महिमा है कि भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् रुद्र भी कर्मके अधीन रहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सगुण ब्रह्म ये ही तीनों हैं। सृष्टि-स्थिति-लय करनेकी पूरीशक्ति इन तीनोंमें विद्यमान है। साक्षात् ईश्वर-

---

त्रिमूर्त्तिकर्मायत्तम्॥ ३५३॥

रूप होनेपर भी त्रिमूर्त्ति जब कर्मके अधीन है तो कर्मकी महिमा सर्वोपरि है इसमे सन्देह नहीं है। वस्तुतः त्रिमूर्त्तिमे सर्वशक्तिमत्तत्व विद्यमान रहनेपर भी, वे जब किसी ब्रह्माण्डका सृष्टिकार्य्य, स्थितिकार्य्य या लयकार्य्य करते है, तो उस ब्रह्माण्डके समष्टि कर्मके अनुसार ही करते हैं। उनमे शक्तिकी पूर्णता रहनेपर भी जैसा समष्टि कर्मविपाक ब्रह्माण्ड सम्बन्धसे उपस्थित होता है, वैसे ही उनमे इच्छा प्रकट होती है, क्योकि स्वयं वे कर्मातीत और इच्छारहित ईश्वर हैं॥ ३५३ ॥

प्रसंगसे शंकासमाधान किया जाता है—

जीव नहीं हैं ईश्वर होने से ॥ ३५४ ॥

जिज्ञासुओंके हृदयमे शंका हो सकती है कि, जब त्रिमूर्त्ति भी कर्मके अधीन है तो त्रिमूर्तिको जीव कोटिमे क्यों नहीं कह सकते है? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें कहा जाता है कि ब्रह्माण्डके समष्टि कर्मके अनुसार उनको सृष्टिस्थितिलय करते रहने पर भी, वे कर्मवन्धन से अतीत, कर्मद्रष्टा और कर्मनियन्ता होनेसे वे जीव नहीं हैं, वे ईश्वर है। जीव और ईश्वर इन दोनोंके लक्षणोमे भेद यह है कि, जीव अविद्याके अधीन हैं। जो अविद्या अज्ञानजननी हैं। ईश्वरपद इससे ठीक विपरीत है।

न च जीवईश्वरभावात् ॥३५४॥

क्योंकि ज्ञानजननी विद्या ईश्वर के अधीन हैं। दूसरी ओर अविद्या, अस्मिता आदि पञ्च क्लेश, कर्म और कर्मभोग इनके अधीन जीव होता है। और सर्वशक्तिमान् ईश्वर इनसे अतीत होते हैं। जीव एक पिण्डका नायक होनेपर भी उसमें बंधा रहता है, परन्तु ईश्वर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक होनेपर भी उनमें आवद्ध नहीं रहते हैं और वे अनन्तकोटि पिण्डके द्रष्टा बने रहते हैं। सुतरां जीवके लक्षण त्रिमूर्त्तिमें न मिलनेसे और वहुधा ईश्वर हीके लक्षण मिलनेसे और उनमें सब श्रेणीकी ऐशी सिद्धि विद्यमान रहने से वे कदापि जीव नहीं हो सकते वे ईश्वर रूप ही हैं॥ ३५४॥

उपसंहार करते हैं—

इस कारण कर्म श्रेष्ठ और प्रमाण है॥ ३५५॥

ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टिलीलामे कर्म ही प्रधान है। जब कर्मकी पूर्व कथित रूपसे सर्वमुखीन शक्तिका होना सिद्ध होता है, जब कर्म लौकिक और अलौकिक सब फल उत्पन्न करनेमे समर्थ है और जब कर्मसे अतीत सृष्टिराज्यमे कोई भी नहीं रह सकता, तो यह मानना ही पड़ेगा कि कर्म सबसे श्रेष्ठ है। और कर्मके अधीन सब कुछ होनेके कारण कर्म ही प्रमाण है। वस्तुतः कर्मके सर्वशक्तिमत्तत्त्व और कर्मके अस्तित्वमे किसीको

तस्मात् कर्म प्रशस्यं प्रमाणं च प्रशस्यं प्रमाणं च॥३५५॥

भी सन्देह नहीं हो सकता है। इस सूत्रमें श्रेष्ठ और प्रमाण शब्द-का दो बार जो प्रयोग हुआ है वह सिद्धान्तकी दृढ़ताके निमित्त ही समझना उचित है ॥३५५॥

कर्ममीमांसादर्शन तृतीयपाद समाप्त।

॥ ॐ तत्सत् ॥

कर्ममीमांसादर्शन

मोक्षपाद ।

पहले तीनों पादों में यथाक्रम धर्म, संस्कार और क्रियाका वर्णन करके अब क्रियाशुद्धिका फलरूप और सब साधनोंका चरम लक्ष्यरूपमोक्षका वर्णन करनेके अर्थ इस अन्तिम चतुर्थपादका प्रारम्भ किया जाता है—

दोनोंके द्वारा सृष्टि होती है ॥ १ ॥

बिना सृष्टिका रहस्य समझे लयका रहस्य हृदयंगम नहीं हो सकता है। और जीवके लिये मोक्षप्राप्ति ही उसका लय है। इस कारण सृष्टिका मौलिक रहस्य कहा जा रहा है कि प्रकृति और पुरुष दोनोंके संगमसे ही सृष्टि होती है। पूज्यपाद महर्षिकपिलने सांख्यदर्शनमें प्रकृति और पुरुषका स्वरूप पूर्ण रीतिसे समझाया है। इस कारण पुरुष और प्रकृतिके विस्तारित लक्षण इस दर्शनमें नहीं किये गये हैं। पदार्थवादके न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनोंके अनन्तर सांख्य प्रवचनके योग और सांख्य इन दोनोंके

उभयतः सृष्टिः ॥ १ ॥

अधिकार निर्णीत हैं। और तदनन्तर पंचम अधिकार इस दर्शनका है। इस कारण प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके विस्तारित लक्षण न करके पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने केवल स्वविज्ञानको सिद्धिके लिये संक्षेपसे ही कहना उचित समझा है कि, जैसे मनुष्यकी पिण्डसृष्टि अथवा यावत् चतुर्विधभूतसंघकी सृष्टि प्रकृति पुरुषात्मक है, इसी दृष्टान्तसे समझना उचित है कि ब्रह्माण्डकी यावत् सृष्टि मूलपुरुष और मूलप्रकृति सम्भूत है।

इस प्रसंगमें जिज्ञासुके हृदयमें ऐसी शंका हो सकती है कि, सांख्यदर्शनने प्रकृतिको एक मानी है और पुरुषको बहु माना है, इसका तात्पर्य क्या है? विशेषतः अन्यान्यदर्शनोंने एक ही परमात्माका और एक ही माया, दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टिका विलास निश्चय किया है इसका सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, जो दार्शनिक सिद्धान्त ब्रह्म और मायासे सृष्टिका सम्बन्ध कहता है, वह मायाको अनादि और सान्त कहता है और ब्रह्मको निर्लिप्त कहता है। सांख्यदर्शन प्रकृतिको अनादि और अनन्त मानता है, और साथ ही साथ स्फटिकका जवाकुसुमसम्बन्धवत् प्रकृतिसे सम्बन्धयुक्त होना स्वीकार करता है। इस कारण सांख्यका बहुपुरुष मानना भी युक्तियुक्त है। जो सिद्धान्त मायाको अनादि और सान्त मानता है, वह यह भी कहता है कि जिस प्रकार जलाशयके तरङ्गमें एक ही पुरुष प्रतिफलित हो अनेक रूप धारण करते हैं, परन्तु वे निर्लिप्त रहते हैं, उनकी इस उपमासे जलके

प्रकृतिरूपी जलके तरङ्ग ही अनेक रूपको धारण कर लेते हैं। क्योंकि सूर्य्यका प्रतिबिम्ब पृथक्-पृथक् उनमे पड़ता है। इस विचारसे एक अद्वितीय सूर्य्य निलिप्त ही रह जाते हैं। परन्तु सांख्य-विज्ञानके अनुसार एक ही मूल-प्रकृति अनन्त पुरुषोमें जवा-स्फटिक सम्बन्धवत् प्रतिफलित होती है, और स्फटिकोंको लाल बना लेती है। इस उदाहरणसे वहुपुरुषवाद युक्तिसंमत है। क्योंकि सांख्यविज्ञानके अनुसार जवारूपी प्रकृतिका लाल रङ्ग अनन्त पुरुषोमे पहुँचकर अनन्त पुरुषोको लालरंजित प्रतीत कराता है। पहले विज्ञानमे कार्य्यका स्वरूप प्रकृतिके तरगोमें समझा जाता है। और इस विज्ञानमें कार्य्यका स्वरूप अनन्त पुरुषोंमें प्रकट होता है। प्रतिबिम्बका सिद्धान्त दोनोमे विपरीत होनेके कारण विचारमे यह पार्थक्य है। अतः ब्रह्म और माया इन दोनोसे सृष्टि होती है, अथवा प्रकृति और पुरुषके संयोगसे सृष्टि होती है, वस्तुतः ये दोनों सिद्धान्त एक ही हैं। द्वन्द्वात्मसम्बन्धसे सृष्टको सभी स्वीकार करते हैं॥ १॥

प्रसङ्गसे ईश्वरका स्वरूप कहा जाता है—

ईश्वर उभय विलक्षण हैं ॥२॥

ईश्वर प्रकृति और पुरुष दोनोसे विलक्षण हैं। प्रकृति मायाके सम्बन्धमे तो किसोका भी मतभेद नहीं है। परन्तु वेदान्तके

उभयविलक्षण ईश्वरः ॥२॥

एकात्मवादसे सांख्यका जो बहुपुरुषवाद है, उस बहुपुरुषवाद-का रहस्य यह है कि, प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित तथा अपनेको प्रकृतिवत् माना हुआ जो पुरुष है, वही सांख्यका पुरुष है। ईश्वर इस अवस्थासे एकबार ही विलक्षण हैं। क्योंकि वे प्रकृतिके भी द्रष्टा हैं, और सांख्यके इस पुरुषत्वके भी द्रष्टा हैं। सांख्यने भी ईश्वरके इस ईश्वरत्वको अलौकिक प्रत्यक्षगम्य करके स्वीकार किया है। सांख्यदर्शनका यह ईश्वरवाद अतिमहत्वसे पूर्ण है। क्योंकि सांख्यविचारके अनुसार ईश्वरविचारकी आवश्यकता नहीं थी। सुतरां सांख्यदर्शन परम आस्तिक दर्शन है। पूज्यपाद महर्षिपतञ्जलिकृत योगदर्शन ईश्वरके स्वरूपको बहुत ही स्पष्ट करके वर्णन करता है कि, अविद्या अस्मिता आदि क्लेश, प्रकृति-तरंग सम्भूतकर्म शुभाशुभ कर्मके भोगरूपी विपाक और आशय अर्थात् कर्मबीजरूपी संस्कार इनसे जो रहित है, वही पुरुष-विशेष ईश्वर है। अतः यह पुरुषविशेष ईश्वर उभय विलक्षण है, इसमें सन्देह ही क्या है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव मायाके अधीन है, ईश्वरके अधीन माया है। जीव अल्पशक्तिमान् है, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जीव कर्मके अधीन है और कर्म ईश्वरके अधीन है। जीव दृश्य है, ईश्वर द्रष्टा है। ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टि अनन्त है और ईश्वर एक और अद्वितीय हैं। अतः ईश्वर प्रकृति और पुरुष दोनोंसे विलक्षण होंगे इसमें सन्देह ही क्या है॥ २॥

प्रसगसे जीवका लक्षण कह रहे हैं—

जीव दोनोंके अधीन है ॥३॥

जीवके जीवत्वका सम्बन्ध पुरुष और प्रकृति दोनोसे है। यदि सांख्यविज्ञानके अनुसार पुरुषकी स्वच्छता और प्रकृतिका रग दोनो ही एक तृतीय वस्तु जीव बन जाता है। पुरुषकी चेतनता और प्रकृतिका गुण-परिणाम दोनो ही के सम्बन्धसे जीवका जीवत्व प्रकट होता है। जीवके अन्तःकरणमे प्रकृतिकी धारणा-शक्ति और पुरुषका चिदाभास एकत्रित होकर ही बन्धमोक्षका कारण बनता है और दोनोके अधीन होकर ही वह अन्तःकरण बन्धनदशाको प्राप्त होता है। इसी कारण चिज्जड़ग्रन्थि विशिष्ट जीव चित्पुरुष और जड़ प्रकृति दोनों सत्ताके अधीन है यह मानना ही पड़ेगा ॥३॥

प्रसंगसे लक्ष्यकी सिद्धि की जाती है—

दोनोंके ज्ञानसे मुक्ति होती है ॥ ४ ॥

यद्यपि इस अध्यायकी प्रवृत्ति मुक्तिके निमित्त ही है तथापि यदि इस स्थलपर जिज्ञासुको शका हो कि, उभयके सिवाय जब सृष्टिमे और तृतीय वस्तु नहीं है, तो मुक्ति किसकी होगी और कैसे हो सकती है। इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें इस सूत्रकी प्रवृत्ति है। सब दर्शनशास्त्रोका संक्षेप सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्म एक

उभयाधीनो जीवः ॥३॥

उभयज्ञानान्मुक्तिः ॥४॥

और अद्वितीय हैं। उनकी प्रकृति अथवा शक्ति जब काम करने लगती है, तभी सृष्टि होती है और दूसरी ओर यह सिद्ध हुआ कि, प्रकृति और पुरुष दोनोंसे सृष्टि होती है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, सृष्टि करनेवाले प्रकृति-पुरुषात्मक दोनों सत्ता अलग अलग होनेपर भी ब्रह्मकी ही सत्ता है। अतः जब तत्त्वज्ञान द्वारा यह ज्ञानी समझ लेता है कि प्रकृतिका स्वरूप यह है और पुरुषका स्वरूप यह है, जब आत्मज्ञानी महापुरुष यह जान जाते हैं कि, पुरुषसत्ता और प्रकृतिसत्ता दोनों जीव अन्तःकरणका ही परिणाम है। वस्तुतः ब्रह्म एक और अद्वितीय हैं, तब मुक्तिपदका उदय होता है। पुरुषसत्ता और प्रकृतिसत्ता, दोनों ब्रह्मशक्ति महामायाके प्रभावसे ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभूत होते हैं। सुतरां आत्मज्ञानकी सहायतासे प्रकृति पुरुषात्मक विश्वका हेतुभूत प्रकृति और पुरुष-रूपी कार्य्यका पता लगनेपर ज्ञानी कारणब्रह्ममें युक्त हो जाता है यही मुक्तिपद है ॥ ४ ॥

इस विज्ञानको पुष्ट कर रहे हैं—

कार्य्य कारणका एकत्वापादन मोक्ष है ॥५॥

कार्य्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्मके भाव तत्त्व-दर्शी महात्माओंने कहे हैं। कारणब्रह्म स्वस्वरूप और कार्य्य-ब्रह्म दृश्य प्रपंचमय जगत् कहाता है। प्रकृतिकी अव्यक्त दशामें दृश्यरूपी जगत् स्वस्वरूपमें लय हो जाता है और प्रकृतिकी व्यक्त-

---

कार्य्यकारणयोरेकत्वापादनं मोक्षः ॥५॥

दशामे वह पुनः प्रकट होकर द्वैतमय प्रपंचको धारण करता है। ब्रह्मसे ब्रह्मप्रकृति जब अलग होकर व्यक्त होती है तब एक ओर प्रकृतिका अनन्त वैभव प्रकाशित होता है और दूसरी ओर अनन्त पुरुष अनन्त जीवपिण्डमें अग्नि स्फुलिंगवत् प्रकट होते हैं। तत्त्वज्ञानी महापुरुष जब क्रमशः अपनी दार्शनिक ज्ञानकी वृद्धि द्वारा राजयोगकी परिधिमे पहुँचकर आत्मज्ञानके पूर्ण अधिकारी हो जाते हैं, तब वे प्रकृति और पुरुषका सम्यक् ज्ञान अनुभवसे प्राप्त कर लेते है। साथ ही साथ वे यह अनुभव करनेमे समर्थ होते हैं कि, अहममेतिवत् ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति एक ही है। और द्वैतका यावत् वैभव और प्रकृति तथा पुरुषकी अलग अलग सत्ता आदिका कारण एकमात्र ब्रह्मप्रकृति ही है। आत्मज्ञानकी इस पूर्णज्ञानकी अवस्थामे कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म इन दोनोके अद्वैतभावको हृदयंगम करके जीवन्मुक्त महापुरुष ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, और स्वयं भी धन्य होते हैं तथा जगत्को भी धन्य करते हैं। और ज्ञानीकी यही उन्नततम अवस्था मोक्षका स्वरूप है ॥५॥

प्रसङ्गसे बन्धन और मोक्ष दोनोका मूल अन्वेषण किय जाता है :—

द्वन्द्वसे बन्धन और एकतत्त्वसे मुक्ति होती है ॥६॥

यद्यपि बन्धन और मोक्षका पृथक् पृथक् कारण अन्वेपण करते

बन्धमोक्षौ द्वन्द्वैकतत्त्वाभ्याम् ॥६॥

समय दार्शनिक आचार्य्योंने विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न मत प्रकट किये हैं, जैसा कि, किसी किसी आचार्य्यने ज्ञानको मुक्तिका कारण और अज्ञानको बन्धनका कारण कहा है इत्यादि। उसी प्रकार पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार मुक्तिके पथ सरल करनेके अर्थ यह संकेत किया है कि, द्वन्द्व अनुभव ही बन्धन दशाका मूल कारण है और जब एकतत्त्वका यथार्थ रूपसे उदय होता है, तभी मुक्तिपदका उदय होता है। वस्तुतः ब्रह्मसे ब्रह्मशक्ति पृथक् होकर अपनी अविद्यारूपसे जब सृष्टि प्रपंचको विस्तार करती है, तभी जीवकी पृथक्‌सत्ता बनकर उसमें द्वैतभावका उदय होता है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, द्वन्द्वका अनुभव ही जीवका जीवत्व सिद्ध करता है और द्वन्द्वके अनुभवसे ही बन्धनदशाका उदय होता है। ब्रह्म प्रकृतिकी जिस अवस्थासे यह दशा उत्पन्न होती है, उसको अविद्या कहा जाय और जीवके जिस अवस्थासे यह दशा उत्पन्न होती है, उसे अज्ञान कहा जाय, तौभी यह मानना ही पड़ेगा कि, बन्धन द्वन्द्वसे ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार दूसरी ओर ब्रह्म प्रकृतिकी जिस अवस्थासे मुक्तिकी सम्भावना होती है, उसको विद्या नामसे अभिहित किया जाय और जीवकी जिस अवस्थासे यह दशा उत्पन्न होती है, उसे तत्त्वज्ञान कहा जाय, तौभी यह मानना ही पड़ेगा कि, मुक्तिपदका उदय एकतत्त्वके द्वारा ही होता है। कर्म, उपासना और ज्ञानकी सहायतासे जब अन्तःकरणकी वैषम्य स्थिति समताको प्राप्त होकर साधकका चित्त तैलधाराके

समान अविच्छिन्न दशाको प्राप्त होकर आत्मामें एकतत्त्वसे धावित होती है, केवल उसी अवस्थासे मुक्तिपदका उदय होता है। यह सिद्धान्त केवल कर्ममीमांसा द्वारा ही प्रतिपादित नहीं है, सर्व-तन्त्र सिद्धान्त योगदर्शन भी इसी सिद्धान्तका पक्षपाती है ॥६॥

मुक्तिप्रसंगमें सृष्टिका रहस्य कहा जाता है—

बीज, अंकुर, तरु और बीजके समान सृष्टि है ॥७॥

सृष्टि प्रवाहके रहस्यको समझनेके लिये ऐसा जानना उचित है कि जैसे संसारमे देखनेमे आता है, धान्य बीजसे धान्यवृक्ष हुआ, उन धान्य वृक्षोसे पुनः धान्यकी उत्पत्ति हुई और पुनः उन धान्योसे धान्यवृक्षकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकारसे बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज और पुनः बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता हुआ वृक्षसृष्टिका प्रवाहचक्र चलता ही रहता है। उसी दृष्टान्तके अनुसार समझना उचित है कि, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक सृष्टि प्रवाहका चक्र चलता ही रहता है। यह विज्ञान अनेक शंकाओंका भी समाधान करनेवाला है। यदि कोई जिज्ञासु इस प्रकारकी शंका करे कि बन्धनका कारण और मुक्तिका कारण जब अन्वेषण किया जा सकता है तो सृष्टिका आदिकारण भी अन्वेषण करना चाहिये ? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान भी इस सूत्रसे होता है। क्योंकि सृष्टिका आदिकारण शंकारहित है। वह प्रवाह चक्ररूपसे नित्य है। जैसे एक जीवपिण्ड के नष्ट होने पर अनन्त

बीजाकुरतरुबीजवत् सृष्टिः ॥७॥

जीवपिण्ड जीवित रहते हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डके नष्ट होने पर अनन्त-कोटिब्रह्माण्ड विद्यमान रहते हैं और धारा चिर-स्थायी रहती है ॥७॥

सृष्टिसे उपराम प्राप्त होनेके लिये कहा जाता है—

आत्मा, भाव, ज्ञान, इच्छा, कर्म, फल और भोग सृष्टिके ये सप्त स्तर हैं ॥ ८ ॥

द्रष्टा और दृश्यका द्वन्द्व जिस चिदाभासमें उत्पन्न होता है, वही अन्तःकरणविशिष्ट चिदाभास जीवात्मा रूपसे अभिहित होने योग्य है, वह सृष्टिका प्रथम स्तर है। तदनन्तर द्वन्द्वमूलक भावका अनुभव और तदनन्तर त्रिपुटिमूलक ज्ञानका अनुभव समझना उचित है। जीवात्माकी जब स्वतन्त्र सत्ता बनी, तो वह सत्ता परमात्माका चिदाभासमूलक है। तदनन्तर जीव अन्तःकरणमें जब द्वैतभान हुआ, वह प्रथम भान भावमूलक हुआ। वह भान परमात्माकी सतसत्ता मूलक है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे समझ सकते हैं कि, सच्चिदानन्दमय परमात्माकी चित्‌सत्तासे जीवका जीवत्व और सत्‌सत्तासे भावतत्त्वका उदय हुआ। वस्तुतः भावतत्त्व सृष्टिमें प्रथम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है। भाव अभावका विरोधी है। भावकी उत्पत्ति और उसका विस्तार बुद्धि और अहंकारके संगमसे होता है। वह भाव द्वन्द्वमूलक होनेसे सत्‌मूलक और असत्‌मूलक है। सद्भाव मुक्तिका कारण और

सृष्टेरात्मभावज्ञानेच्छाकर्मफलभोगाः सप्तस्तराः ॥ ८ ॥

असद्भाव बन्धनका कारण होता है। सृष्टिका तीसरा स्तर ज्ञानतत्त्व है। ज्ञानतत्त्व, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटिमूलक है। पुनः वह ज्ञान सात्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे त्रिविध होता है। जीव अन्तःकरणकी प्रथम अवस्थामे भावका परिणाम दूसरी अवस्थामें ज्ञानका परिणाम और तीसरी अवस्थामे इच्छाका परिणाम होता है। ज्ञान जिस प्रकार बुद्धिका धर्म है, उसी प्रकार इच्छा मनका धर्म है। इच्छा सृष्टिका चतुर्थ स्तर है। इच्छाशक्तिसे ही सृष्टिका विस्तार आगे बढ़ता है। इच्छाशक्तिसे ही क्रियाशक्तिकी उत्पत्ति होती है। वही कर्म कहाता है। कर्म ही सृष्टिका पंचम स्तर है। कर्मसे कर्मफलकी उत्पत्ति होती है, कर्म कारण है और फल कार्य्य है। अतः फलका स्तर षष्ठ है। वह कर्मफल सुखदुःख भोगमय होता है। अधः और ऊर्ध्वलोक, नरक और स्वर्गभोग आदि उसीसे बनते हैं। सुतरां भोगका स्तर सृष्टिराज्यमे सप्तम समझा जाता है। यही ब्रह्माण्ड पिण्डात्मक सृष्टिका कारण है। सृष्टिके इन सातों स्तरोंको भलीभाँति अनुभवमें लानेसे सृष्टिका बन्धन छिन्न हो सकता है ॥ ८ ॥

और भी कहा जाता है—

स्थूल-सूक्ष्मसृष्टिका काम कारण है ॥ ९ ॥

सृष्टिके साधारणतः दो स्तर हैं, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। पञ्चीकृत महाभूतसे सम्बन्धयुक्त स्थूल कहाते है और अपञ्चकृत

स्थूलसूक्ष्मे कामनिमित्ते ॥ ९ ॥

महाभूतोंसे सम्बन्धयुक्त तथा मनोराज्यसे सम्बन्धयुक्त सब सृष्टि सूक्ष्म कहाती है । ये दोनों सृष्टिके मूलमें काम ही विद्यमान है । वासनामूलक कामसे सब प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है, इस कारण काम ही दोनोंका कारण है, इसमें सन्देह नहीं । इस विज्ञानको और भी सूक्ष्मरीतिसे विचार कर सकते हैं कि, चाहे समष्टि सृष्टि हो चाहे व्यष्टि सृष्टि, चाहे आधिभौतिक सृष्टि हो चाहे आधिदैविक सृष्टि सभी कामज है । चाहे सृष्टि मानसी हो चाहे बैजी, दोनोंके मूलमें काम ही विद्यमान है । बैजी सृष्टिमें कामकलाका तो लक्षण दिखायी ही देता है । वह कामवासना-मूलक होनेसे प्रजापतियोंके मानसी सृष्टिमें भी वही मूल कारण विद्यमान रहता है । इस कारण यह स्वतःसिद्ध है कि, सब प्रकार-की सृष्टिका मौलिक कारण काम है ॥ ९ ॥

प्रसंगसे कामका और भी प्रभाव कह रहे हैं—

आसक्ति कामसे उत्पन्न है ॥ १० ॥

समष्टिसृष्टिके मूलतत्त्वोंके साथ कामका घनिष्ट सम्बन्ध दिखाकर अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार व्यष्टि-सृष्टिके साथ उसकी घनिष्टता सिद्ध कर रहे हैं । अन्तःकरणके वृत्तिराज्यकी स्वाभाविक दो गति हैं, एक ऊर्ध्वगति और दूसरी अधोगति । ऊर्ध्वगति भावसे उत्पन्न होती है और वह मुक्तिप्रदा है । इस कारण वह सृष्टिसे बचानेवाली होनेसे वर्त्तमान प्रसंगसे अतीत है । अन्तः-

---

आसक्तिः कामजा ॥ १० ॥

करणकी दूसरी गति अधोगामिनी है; वह अज्ञानमूलक आसक्तिसे उत्पन्न होकर जीवके आवागमनचक्रका कारण बनती है और उसको सदा सृष्टिमें फसाए रहती है। वह निम्नगामिनी गति आसक्तिमूलक है। आसक्ति चित्त और मनके संगमसे कामके प्रभाव द्वारा उत्पन्न होती है। अतः समष्टि सृष्टिमें जैसा कामका अधिकार है, उसी प्रकार व्यष्टि-सृष्टिमें भी कामका दुर्दमनीय अधिकार विद्यमान है ॥ १० ॥

उसकी और भी महिमा कही जाती है—

उसका महत्त्व उद्भिजमें भी प्रत्यक्ष है ॥ ११ ॥

सृष्टिका मौलिकतत्त्वरूपी कामका प्रभाव सर्वव्यापक है! उसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि, सबसे नीचेकी योनि जो उद्भिज है, उसमें जो सृष्टि होती है वहाँ भी कामका प्रभाव सर्वप्रधान देखा जाता है। कामका प्रभाव मनुष्य पशु आदिमें तो दिखाई देता ही है, अधिकन्तु कामका प्रभाव उद्भिज सृष्टिमें भी प्रत्यक्ष है। जिस प्रकार पक्षी आदि अण्डज योनियोंके डिम्बमें स्त्री और पुरुषशक्तिके दो अंश होते हैं, उसी प्रकार उद्भिजके बीजोंमें भी दो अंश होते हैं। उद्भिजके पुष्पपरागमें स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति दोनोंका प्रत्यक्ष लक्षण पाया जाता है। सृष्टि उत्पन्न होते समय अन्य जीव सृष्टिके उदाहरण पर उद्भिजमें भी भावान्तर दिखायी पड़ता है। वसन्तऋतु जैसा कालप्रभाव अन्य जीवोंकी तरह

तन्महत्त्वं प्रत्यक्षमुद्भिजेऽपि ॥ ११ ॥

उद्भिज्ज जीवपर भी पड़ता रहता है। इस प्रकारके लक्षणोंके देखनेसे सबको मानना पड़ेगा कि, सृष्टिमें कामशक्ति सर्वव्यापक है ॥ ११ ॥

मुक्तिप्रसंगसे काम जयका माहात्म्य कहा जाता है—

कामको अधीन करनेसे सर्वजय होता है ॥ १२ ॥

जब काम ही सृष्टिका मौलिक तत्त्व है और जब काम ही सृष्टिका बीज स्वरूप है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, कामजय होनेसे सृष्टिके सब विषयोंका जय होता है। श्रीभगवान् सदाशिवने तृतीयनेत्रकी अग्निसे कामको भस्मीभूत कर दिया था। ऐसा पुराणशास्त्र कहता है। तृतीयनेत्र ज्ञाननेत्र है ऐसा समझना उचित है। मनसे उत्पन्न तथा प्रवृत्तिदायिनी रतिके पति कामका नाश तृतीयनेत्र द्वारा ही हो सकता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, ज्ञानके द्वारा ही जब आत्माकी प्राप्ति होती है, तो ज्ञान ही मुक्तिका कारण है। मुक्तात्माके लिये सृष्टिका लय हो जाता है। अतः सृष्टिका बीजरूप कामका लय भी ज्ञानके द्वारा ही हो सकता है। यही कामभस्मका रहस्य है। और ऐसा गुरुतर कार्य्य जीव नहीं कर सकता शिव कर सकते हैं। वस्तुतः आत्मज्ञानी शिवरूप महापुरुष ज्ञानाग्निके द्वारा कामको भस्म करके सर्वजय करनेके योग्य होते हैं ॥ १२ ॥

सर्वजयित्वं कामवशीकारात् ॥ १२ ॥

प्रसंगसे स्वाभाविक वृत्तियोंका विश्लेषण कर रहे हैं—

काम एवं भय मुक्तिके बाधक हैं ॥ १३ ॥

ज्ञान और सुखेच्छा सत्त्वगुणकी वृत्ति, आहार एवं निद्रा तमोगुणकी वृत्ति, काम एवं भय रजोगुणकी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। इनका अस्तित्व सब श्रेणीके जीवोंमें समानरूपसे पाया जाता है। उनमेंसे सत्त्वगुण और तमोगुणकी चारों वृत्ति नियमित जीवनमुक्त तकमें रहती है। रजोगुणकी काम और भय वृत्तियोंके विना लय हुए जीव मुक्त नहीं हो सकता है। काम सृष्टिका स्वरूप और भय अज्ञानका स्वरूप होनेसे दोनों ही मुक्तिके बाधक हैं। छः यों वृत्तियाँ स्वाभाविक और सर्वव्यापक होनेसे और इन छः ओंमेंसे काम और भय ये दो वृत्तियाँ मुक्तिका बाधक होनेसे इस प्रसंगमें उनका रहस्य कह देना अत्यावश्यक है ॥ १३ ॥

कामजनित दृश्यका गुरुत्व कहा जाता है—

दृश्यका प्रसार रक्तबीजवत् होता है ॥ १४ ॥

पुराणोंमें गाथाद्वारा वर्णित है कि, देवासुरसंग्राममें जब रक्तबीज नामक असुरको देवीने मारना चाहा, तो रक्तबीज नामक असुरके पूर्व वरद्वारा उससे ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई कि, उसके शरीरका रक्तबिन्दु जितना पृथिवीपर गिरता था, उतने ही नये रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। अतः साधारणरीतिसे

कामभये बाधके मुक्तेः ॥ १३ ॥

दृश्यप्रसरो रक्तबीजवत् ॥ १४ ॥

रक्तवीजका मारना असंभव हो जानेपर देवजननी देवीने कालिका देवीसे कहा कि "तुम अपने जिह्वापर रक्तको लेते जाव जमीनपर गिरने मत दो।" इस प्रकारसे रक्तबीज नामक असुरका हनन हुआ था। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि स्वाभाविक संस्कार एक और मुक्तिप्रद है एवं अस्वाभाविक संस्कार अनन्त तथा दृश्य-प्रपंच उत्पन्नकारी और बन्धनका हेतु है। जैववासनाजन्य अस्वाभाविक संस्कार ही रक्तबीज असुरका अध्यात्मरूप है। वैराग्यरूपसम्पन्न तत्त्वज्ञानरूपिणी कालीदेवीकी सहायतासे ही ऐसे असुरका हनन होता है। ठीक उसी प्रकार वासनासम्भूत दृश्यप्रपंचका प्रसार हुआ करता है। जैसे रक्तबीज नामक असुरके प्रत्येक रक्तविन्दुसे दूसरा रक्तबीज उत्पन्न होता था, उसी प्रकार वासनाजनित कर्मबीजरूपी संस्कारसे कर्मवृत्तरूपी दृश्य प्रपंच उत्पन्न होता ही रहता है और यही कारण है कि, आवागमनचक्र निरन्तर चलता ही रहता है॥ १४॥

मुक्ति प्रसंगसे उसके हानका क्रम कहा जाता है—

क्रियाबीजके हानसे उसका नाश होता है॥ १५॥

क्रियाका बीज संस्कार है, उसके नष्ट होनेसे क्रियाके क्रमका नाश हो जाता है। जैसे किसी क्षेत्रमें बबूलके वृक्ष उत्पन्न होते जाते हों और वह क्षेत्र कण्टकाकीर्ण होता जाता हो, तो उसका उपाय यही है कि, बबूलका जितना बीज उत्पन्न हो, वह सब

तन्नाशः क्रियाबीजहाने॥ १५॥

नाश कर दिया जाय, ऐसा होनेपर बबूलके नये वृक्ष नहीं पैदा होंगे और पुराना वृक्ष कालसे अथवा काटनेसे नष्ट हो जायगा और वह भूमि कण्टकशून्य हो जायगी। ऐसे ही कर्मबीज संस्कारके नष्ट होनेसे और कर्मभोगसे नष्ट होनेसे जीव कर्मसे मुक्त हो जाता है। पौराणिक उदाहरण भी ऐसा ही समझना उचित है। रक्तबीज युद्धमें नष्ट हुआ और उसको उत्पन्न करनेवाले रक्तविन्दु समूह कालीदेवीकी जिह्वामें नाशको प्राप्त हुए। इस प्रकारसे रक्तबीजका हनन सिद्ध हुआ। ऐसे ही किसी न किसी प्रकारसे संस्कारका नाश कर देनेसे ही कर्मसे विमुक्ति होती है॥ १५॥

अब उपाय कहा जाता है—

अस्वाभाविकके स्वाभाविकमें परिणत करनेसे चक्रभेदन होता है ॥ १६ ॥

संस्काररूपी बीजको सर्वप्रकारसे नाश कर देनेसे और उसकी कार्य्यकारिणी सत्ता न रखनेसे पुनः वह वृक्षसृष्टि लुप्त हो जाती है, यह पूर्वसूत्रसे सिद्ध हुआ है। लौकिक अवस्थामें देखनेमें आता है कि किसी उद्भिज जातिका बीज यदि नष्ट कर दिया जाय, अथवा उसमेंसे जीवसत्ता भर्जित करके निकाल दी जाय तो पुनः उस बीजकी वृक्षसृष्टि नष्ट हो जाती है। इस उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि यदि अस्वाभाविक संस्कार जो जीव-

---

अस्वाभाविकस्य स्वाभाविकपरिणतौ चक्रभेदः॥ १६॥

के स्वतन्त्र संकल्पसे बनता है, उसको यदि कौशलद्वारा स्वाभाविक संस्काररूपमें परिणत कर दिया जावे तो उसकी सत्ता भर्जित बीजकी तरह हो जाती है और पुनः उस संस्कारसे नूतन कर्मकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और काल पाकर वह भाग्यवान् व्यक्ति आवागमनचक्रको भेदन करनेमें समर्थ होता है। स्वाभाविक संस्कार ब्रह्मशक्तिरूपिणीके अधीन है और अस्वाभाविक संस्कार जीवके अधीन है। अथवा इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे समझ सकते हैं कि, जो प्रकृति ईश्वरके अधीन होकर ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति प्रलय करती है, उससे सम्बन्धित संस्कार स्वाभाविक संस्कार कहाते हैं और जो प्रकृति जीवको अपने अधीन करके अपनी अविद्या शक्तिसे फँसाती है उससे सम्बन्धयुक्त संस्कारको अस्वाभाविक संस्कार कहते हैं। ईश्वराज्ञाधीन शुद्ध प्रकृतिका सम्बन्धयुक्त स्वाभाविक संस्कार विकाररहित सरल और शुद्ध होता है और अविद्यासे उत्पन्न जीवबन्धनकारी जैवसंस्कार अस्वाभाविक होनेसे विकृत, असरल और अशुद्ध होता है। इन दोनोंके पार्थक्यका मौलिक हेतु यथाक्रम ज्ञानजननी विद्या और अज्ञानजननी अविद्या है। ईश्वरमें विद्याकी नित्यस्थिति विराजमान रहनेसे कोई वासना या वासनाजनित संकल्प नहीं रहता है। इस कारण उनसे सम्बन्धयुक्त प्रकृतिसे जिस संस्कारका सम्बन्ध होता है, वह स्वाभाविक होता है। और स्वाभाविक होनेसे उसकी क्रमाभिव्यक्ति अबाध और सरल बनी रहती है। जैव अस्वाभाविक संस्कारजटिल होनेसे वह उलझता ही जाता है। वही

उलझना ही आवागमनचक्रको स्थायी रखना है। यदि किसी सुकौशलपूर्ण क्रियासे अस्वाभाविक संस्कारकी जटिलता दूर कर दी जाय तो उसकी गति जटिलता छोड़कर सरल हो जायगी और उसकी उलझानेकी शक्ति नष्ट होकर सुलझानेवाली शक्तिमें परिणत हो जाएगी। ईश्वरमें वासना नहीं है जीवमें वासना है। ईश्वरमें अहंकार नहीं है जीवमें अहंकार है। ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है जीव अज्ञानी है। अतः तत्त्वज्ञानी महापुरुष जब आत्म-ज्ञानलाभ करके निरहंकार होता हुआ वासनाको नाशकर देता है तब स्वतः ही उसमेंका अस्वाभाविक संस्कार स्वाभाविक संस्कार-के रूपको धारण कर लेता है। तब उसमें संस्कारकी जटिलता और असरलता दूर होकर उसके संस्कारसमूहकी अभिव्यक्ति अवाध और सरल हो जाती है। सुतरां तब स्वतः ही आवा-गमनचक्रका भेदन हो जाता है॥ १६॥

और भी कहा जाता है—

स्वाभाविकके आश्रयसे अपवर्ग होता है॥ १७॥

जीवके बन्धनका कारण अज्ञान है। अज्ञानका मौलिकतत्त्व अहंकार है। दूसरी ओर आवागमनचक्र ई को फंसाकर बान्ध रखता है। आवागमनचक्रका मूलतत्त्व जैववासना है। सुतरां जब अस्वाभाविक संस्कारको स्वाभाविक संस्कारमें परिणत करते समय अज्ञानके विलयसे अहंकारका तिरोधान होकर वासनाके

स्वाभाविकाश्रयादपवर्गः॥ १७॥

नाशसे आवागमनचक्रका भेदन हो जाता है, तो स्वतः बद्धजीव शिवस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। अस्वाभाविक संस्कार जब जीवन-मुक्त दशामें स्वाभाविक संस्कारमें परिणत हो जाता है तो यदि उससे कोई कर्म बनता है तो निष्काम कर्म बनता है। अतः कामना-रहित कर्म बन्धन करनेमें असमर्थ होनेसे वह भाग्यवान् महापुरुष अपवर्गलाभ करनेमें समर्थ हो जाता है ॥१७॥

अपवर्गनिमित्त प्रसंगसे कहा जाता है—

संस्कारका हेतु अध्यास है ॥ १८ ॥

नवीन संस्कार उत्पन्न होते समय अध्यास ही सहायक होता है। उदाहरण रूपसे समझने योग्य है कि, यदि कोई शूद्र, साधन, भजन, पवित्रता, गुरुभक्ति शास्त्रश्रवण, मनन भगवद्भक्ति और निवृत्ति सेवामें नियमित अध्यास बढ़ावे, तो वह अवश्य दूसरे जन्ममें ब्राह्मण होगा। क्योंकि उस अध्याससे उसमें ब्राह्मणो-पयोगी संस्कार एकत्रित होंगे। इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण वंशोद्भव व्यक्ति प्रवृत्तिके मार्गमें पड़कर नीचजनोचित अध्यासों को बढ़ावे तो जन्मान्तरमें उसका जन्म अन्त्यजजातिमें होना सम्भव है। अध्यासके बलसे ही संस्कार बनते हैं और उस कर्म बीजरूपी संस्कारके द्वारा जाति, आयु, भोग आदि फलरूपी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

संस्कारहेतुरध्यासः ॥ १८ ॥

उसके मूलतत्त्वका अनुसन्धान किया जाता है—

व्युत्थानसे अध्यास उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

दृश्य प्रपंचकी उत्पत्तिका मौलिक रहस्य उद्घाटन करके तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्ति द्वारा अपवर्गकी प्राप्तिके निमित्त दिखाया जाता है कि बन्धनका हेतुभूत कर्मबीज संस्कार अध्यास द्वारा बनता है; और वह अध्यास व्युत्थान दशासे उत्पन्न होता है। क्योंकि स्वरूप अवस्थामें द्रष्टा दृश्य सम्बन्धके अभावसे न अध्यास उत्पन्न हो सकता है और न संस्कारसंग्रह हो सकता है। व्युत्थान होते ही द्वैत सम्बन्ध स्थापन हो जाता है। तब प्रकृति दृश्य और पुरुष द्रष्टा अथवा यों कहिये कि जीव द्रष्टा और विषय दृश्य रूपसे स्थित हो जानेसे अध्यासका सम्बन्ध स्वतः ही प्रकट हो जाता है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, व्युत्थानके साथ अध्यासका पूर्वापर सम्बन्ध है।

अब जिज्ञासुके हृदयमें इस श्रेणीकी शंका हो सकती है कि, सत्यलोकवासी मुक्तात्माओं अथवा ईश्वररूपी ब्रह्मा विष्णु महेशमें तो व्युत्थान दशा अवश्य रहती है, क्योंकि बिना व्युत्थानके इन ईश्वरोंकी ऐश्वरीक्रिया अथवा सत्यलोकवासी मुक्तात्माओंका ब्रह्मानन्दका भोगकी समाप्ति सम्भव नहीं हो सकती है, तो क्या इनमें भी अध्यास और अध्यासका यावत्फल होना सम्भव है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, बद्धजीवोंके अन्तःकरणके व्युत्थानके साथ मुक्तात्माओंके सृष्टिकर्त्ता आदिके अन्तःकरणके

व्युत्थानात् सः ॥ १६ ॥

व्युत्थान अवस्थाके साथ दिवा और रात्रिका सा भेद है। उनमें जैववासनाका सम्बन्ध न रहनेसे तथा उनके अन्तःकरणके साथ मलिन अहंकारादिका लेशमात्र भी सहयोग न रहनेके कारण उनके अन्तःकरणकी व्युत्थानादि क्रिया भर्जित बीजके समान होती है। भर्जितबीजसे जिसप्रकार भोगकी तृप्ति तो होती है, परन्तु अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार इन लोकातीत अधिकारोंमें व्युत्थान होनेपर भी अध्यासादिका सम्बन्ध नहीं होने पाता है। यद्यपि एक श्रेणीके मुक्तात्मा ही अवस्थान्तरमें ब्रह्म आदि पदको प्राप्त होते हैं, परन्तु इन त्रिमूर्तियोंके अलौकिक अन्तःकरण व्यापकभावको प्राप्त होकर ब्रह्माण्डमय हो जाता है और उनमें जैवअहंकारकी छायामात्र न रहनेसे उनके अन्तःकरणमें बन्धनकारी अध्यासके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती है। यही अवस्था सत्य-लोकवासी मुक्तात्माओंकी भी होती है। भेद इतना ही है कि, इन मुक्तात्माओंमें ऐश्वरीय शक्तियों ऐसा विकाश नहीं रहता है। चाहे ऐशकर्मके द्वारा त्रिमूर्तिका पदप्राप्त हो अथवा जैवकर्मकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके सत्यलोकवासी मुक्तात्मा बने, ये अवस्थाएँ लोकातीत, जैववासनासे रहित और स्वरूपज्ञानमय होनेके कारण इनके सब पूर्वसंस्कार भर्जित बीजवत् रहते हैं और आगेके लिये अध्यासका अभाव होनेसे क्रियमाण संस्कार भी भर्जितबीजवत् शक्तिहीन हो जाते हैं। इस कारण उनमें अध्यासका अभाव रहता है यह मानना ही पड़ेगा ॥ १९ ॥

अब व्युत्थानका हेतु कह रहे हैं—

वह संगसे होता है ॥२०॥

संगके द्वारा व्युत्थानका होना सिद्ध होता है। बिना द्वैतके व्युत्थान असम्भव है। स्वरूपमें द्वैतप्रपंच नहीं है, इस कारण व्युत्थानकी समापत्ति भी असिद्ध है। एकसे दोका अनुभव तभी होता है, जब द्रष्टा दृश्यका सम्बन्ध बनता है। इसी अवस्थामें त्रिपुटियुक्त तटस्थज्ञानका उदय होता है। द्रष्टा दृश्यके सम्बन्धके स्थापन होनेके साथ ही साथ व्युत्थान होता है, अथवा यों कहें कि, द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन और व्युत्थान साथ ही साथ होता है। शंका समाधानके निमित्त इस व्युत्थानको दो श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं। ईश्वरमें भी द्रष्टा दृश्यका सम्बन्ध-स्थापन होता है, उस समय मूलप्रकृति दृश्य और परमपुरुष द्रष्टा बन जाते हैं। दूसरी अवस्था जीवपिण्डमें उत्पन्न होती है। उसमें विषय दृश्य और जीव द्रष्टा होता है। पहली अलौकिक दशामें निर्लिप्तता रहती है, दूसरी लौकिक दशामें निर्लिप्तता हो जाती है, परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि, द्रष्टा और दृश्यके संगसे ही व्युत्थानका होना सिद्ध होता है ॥२०॥

अब निःश्रेयसके उद्देश्यसे क्लेशका हेतु निर्णय किया जाता है—

संग ही क्लेशका कारण है ॥२१॥

वह सङ्ग जो स्वरूपसे हटाकर तटस्थ भूमिको उदय करता है,

सङ्गात्तत् ॥२०॥
स तु क्लेशहेतुः ॥२१॥

वह सङ्ग जो द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन करता है और वह सङ्ग जो द्वैतप्रपंचकी उत्पत्तिका कारण है, वही क्लेशका हेतु है। सङ्गके क्लेश हेतुत्वमें निश्चयता दिलानेके लिये ही इस सूत्रमें 'तु' शब्दका प्रयोग हुआ है। क्लेशके विषयमें पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है कि—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥
सुखानुशयी रागः ॥
दुःखानुशयी द्वेषः ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं। अनित्यमें नित्य, अशुचिमें शुचि, दुःखमें सुख अनात्मामें आत्मा ज्ञानको अविद्या कहते हैं। दृक् शक्ति और दर्शनशक्तिमें अभेद ज्ञानका नाम अस्मिता है। सुखके अनुस्मरण पूर्वक उसमें जो प्रवृत्ति हैं, उसको राग कहते हैं। दुःखके अनुस्मरण पूर्वक उसमें जो रागके विपरीत भावना है उसको द्वेष कहते हैं। और जन्म जन्मान्तरसे उत्पन्न संस्कारधारा द्वारा ममत्वादि रूपसे अपनेपन प्राप्त करनेवाली तथा अविद्वानोंकी तरह विद्वान्में भी रहनेवाली मरणत्रासजन्य जीवनलालसारूपी जो वृत्ति है उसको अभिनिवेश कहते हैं।

द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन होते ही क्या क्लेशकी उत्पत्ति होती है? यदि हो, तो जब ईश्वरके सन्मुख प्रकृति दृश्य बनती है, उस समय ईश्वरमें भी क्या क्लेशकी सम्भावना होगी? व्युत्थान होते ही क्लेश भी साथ ही साथ क्या उत्पन्न होता है? इत्यादि शंकाओंका समाधान अवश्य जिज्ञासुके लिये होना उचित है। पूज्यपाद महर्षिपतंजलिजीने पुरुष विशेष ईश्वरको क्लेशसे रहित भलीभांति सिद्ध किया है। अतः उस विचारकी द्विरुक्ति अनावश्यक है। सुतरां जब ईश्वरमें क्लेशकी सम्भावना नहीं है यह सिद्ध ही है, और दूसरी ओर द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध ब्रह्ममें स्थापन होने पर तभी वह पद ईश्वर कहाता है, इसको भी पूज्यपाद महर्षिअंगिराने दैवीमीमांसादर्शनमें भलीभांति सिद्ध किया है, तो यह मानना पड़ेगा कि द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन होते ही क्लेशकी उत्पत्ति नहीं होती है। ईश्वरमें द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध अलौकिक तथा बुद्धिसे अगम्य है और उस दशामें क्लेशकी सम्भावना नहीं है। वस्तुतः विद्याके उपस्थित रहते जो द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन होता है, वह क्लेशोत्पादक नहीं होता है। इसको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, व्युत्थान होते ही क्लेश नहीं होता है। जहाँ विद्या है, वहाँ व्युत्थान हो, अथवा द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन हो, क्लेशकी सम्भावना नहीं होने पाती है। विद्या विमुख जीवावस्थामें जो व्युत्थान अथवा द्रष्टादृश्य सम्बन्ध बना रहता है, उसी अवस्थामें क्लेशका होना निश्चत है। इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि जिस अवस्थामें

प्रकृति दृश्य होती है, उसमें क्लेश नहीं रहता है और जिस अवस्थामें विषय दृश्य होता है, उस अवस्थामें क्लेशकी संभावना निश्चित है ॥२१॥

प्रसंगसे उससे बचनेका उपाय कह रहे हैं—

कर्म, भक्ति और योग समन्वित आनन्दकर अवस्था है ॥२२॥

संगकी अवस्थामें यदि कर्म, भक्ति और योग इन तीनोंसे समन्वित रहे, तो वह अवस्था आनन्ददायिनी होती है। क्लेश और आनन्द दोनों विरोधी पदार्थ हैं। क्लेश जीवभावका पदार्थ है और आनन्द ब्रह्मभावका पदार्थ है। अन्धेरा और उजालाके समान जहाँ क्लेश है, वहाँ आनन्द नहीं रह सकता और जहाँ आनन्द है, वहाँ क्लेश नहीं रह सकता है। विषयके सङ्गसे अभ्यासकी सहायतासे किस प्रकार क्लेशकी उत्पत्ति होती है, इसका विवरण उपर कहा गया है। स्वस्वरूपसे पुरुष च्युत होते ही प्रकृतिके फन्देमें फँस जाता है और अपनेको प्रकृतिवत् मानकर ब्रह्मसे जीव बन जाता है। साथ ही अविद्या आदि क्लेश उसमें उत्पन्न हो जाते हैं। और इन्हीं क्लेशोंमें फसा हुआ जीव नाना दुःख पाता है और जन्ममृत्युके चक्करमें घूमता रहता है, उन क्लेशोंसे बचकर मुक्तिमार्गमें अग्रसर करनेके अभिप्रायसे पूज्य-पाद महर्षिसूत्रकार कह रहे हैं कि, यदि जीव कर्म भक्ति और

कर्मभक्तियोगसमन्वितस्त्वानन्दकरः ॥२२॥

योगसे युक्त होकर अग्रसर हो तो वह जितना जितना इस प्रकार साधनसे युक्त होकर अग्रसर होता जायगा उतना उतना उसमें क्लेश घटता जाएगा और आनन्द बढ़ता जायगा। तात्पर्य्य यह है कि, विहित कर्मके अनुष्ठान द्वारा आधिभौतिक शुद्धिकी प्राप्ति और मलका नाश होगा और दूसरी ओर उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति तथा उपासनाका शरीररूपी योगसाधन इन दोनोंसे युक्त उपासनाकाण्डके साधन द्वारा अधिदैवशुद्धिकी प्राप्ति और साथ ही साथ विक्षेपका नाश होकर ज्ञानराज्यमें पहुँचता हुआ ब्रह्मानन्द पारावारमें अवगाहन करनेका अधिकारी हो जाता है ॥२२॥

उसका चरम फल कह रहे हैं—

उससे स्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

इस प्रकारसे कर्म, भक्ति और योगकी नियमित सेवा द्वारा साधककी अन्तमें अध्यात्मशुद्धि होकर उसके अन्तःकरणके आवरणका नाश हो जाता है। तब वह भाग्यवान् तथा तत्त्वज्ञानी साधक स्वरूपकी उपलब्धि, करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ २३ ॥

और भी कहा जाता है—

जीवन्मुक्तिमें संगाभावसे उसका नाश होता है ॥ २४ ॥

जिस पूर्णत्वप्राप्त महापुरुषमें स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है,

ततः स्वरूपाधिगमः ॥ २३ ॥

संगाभावात् जीवन्मुक्तौ तन्नाशः ॥ २४ ॥

उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्तमें वासनाके नाश और तत्त्वज्ञानके प्रभावसे संगका नाश हो जाता है और संगका नाश होने पर व्युत्थानका भी विलय अपने आप हो जाता है। वह महापुरुष तब शरीर रहते भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। प्रारब्ध कर्मभोगके लिये केवल उसका शरीर कुलालचक्रवत् न्यायके सदृश कुछ समयके लिये जीवित दिखायी देता है। अन्यथा उनके लिये शरीर रहना और न रहना दोनों समान हो जाता है और वह निःश्रेयसपदको प्राप्त हो जाता है॥ २४ ॥

अब नाशका क्रम कह रहे हैं—

व्युत्थानके नाश होनेसे अभ्यासका नाश होता है॥ २५ ॥

जब कारणका नाश होता है, तब कार्य्य अवश्य नष्ट हो जायगा। विषयसंगका नाश होते ही जिस प्रकार व्युत्थानका नाश हो जाता है, अज्ञानी जीव उसको समझ नहीं सकता पर ज्ञानी उसको समझता है। प्रलय अथवा मुक्ति अवस्थामें भी ऐसा ही होता है। दृश्य प्रकृति जब लय होती है, तब प्रपंचका भी लय हो जाता है और केवल ब्रह्म ही अवशेष रह जाते हैं। मुक्तावस्थामें तत्त्वज्ञान द्वारा दृश्यका अभाव अनुभूत होनेपर स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि दृश्यके अभावसे व्युत्थानका अभाव हो जाता है। उसी प्रकार व्युत्थानका अभाव

तन्नाशात्तन्नाशः ॥ २५ ॥

हो जानेसे अध्यासका अभाव हो जाता है। जब व्युत्थान स्थायी ही नहीं होगा तो अध्यास जम कैसे सकता है। अतः जीवन्मुक्त महात्माओंमें व्युत्थान क्षणिक होने पर भी अध्यासके क्षणिकत्वके हेतु अध्यास स्थायी नहीं होने पाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि, व्युत्थानके नाशसे अध्यासका नाश अवश्य ही हो जाता है॥ २५॥

और कहा जाता है:—

उसके नाशसे संस्कारका नाश हो जाता है॥ २६॥

इस प्रकारसे जब अध्यासका नाश हो जाता है तो अध्यासके नाशसे कर्मबीज संस्कारका नाश स्वतः हो जाता है। जब अध्यास जमने ही नहीं पाता; जब जीवनमुक्त महात्मामें व्युत्थानके क्षणिक और अस्थायी होनेसे उनके शक्तिहीन अन्तःकरणमें अध्यासका प्रभाव होने ही नहीं पाता तो उसमें संस्कारका चिह्न लग ही नहीं सकता है। सुतरां संस्कार उत्पन्नमें असमर्थ होनेसे जीवन्मुक्तमें क्रियमाण संस्कार उत्पन्न होने ही नहीं पाते हैं। इस कारणस्मृति शास्त्रमें कहा है—

निःसंगरूपतो भोगात्तत्त्वज्ञे भोगजास्तथा।
संस्काराः क्रियमाणानां जायन्ते नैव कर्मणाम्॥
ज्ञानिनां नैव सम्बन्धः पद्मपत्रमिवाम्भसा।
विद्यतेऽसंशयं कल्पाः! सार्द्धमागामिकर्म्मभिः॥

तन्नाशात्तन्नाशः॥ २६॥

अतस्तान्यपि नश्यन्ति ज्ञानयोगेन सुव्रताः।
सर्वाण्यागामिकर्माणि नात्र कार्य्या विचारणा ॥

अर्थात् निःसंगरूपसे भोग होनेके कारण ज्ञानीमें क्रियमाण कर्मोंका संस्कार नहीं बनता है। आगामी कर्मसे पद्मपत्र और जलके समान ज्ञानी व्यक्तिका सम्बन्ध ही नहीं रहता है। इस कारण ज्ञानयोगसे सब प्रकारके आगामी कर्म नाशको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

निःश्रेयसके लक्ष्यसे कहा जाता है—

उपाधिसे भ्रान्ति होती है, जैसा मेघका चन्द्रमा गतिशील दिखाई देता है ॥ २७ ॥

संस्कारकी उत्पत्ति और विनाशका क्रम वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कह रहे हैं कि, स्वाभाविक संस्कारके अतिरिक्त जो अस्वाभाविक संस्कार उत्पन्न होता है, उसका मूलकारण तत्त्वज्ञानका अभाव है। अज्ञानके कारण अनात्मामें आत्माका बोध उपाधिके संयोगसे होता है। वर्षाऋतुमें आकाशमें जब मेघ वायुके प्रभावसे एक दिशासे दूसरी दिशामें जाते हों, तब मेघकी गतिकी उपाधिसे चन्द्रमा चलता हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः चन्द्रमा गतिशील होनेपर भी वह गति नेत्रसे प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है। चन्द्रमाकी गति पूरबसे पश्चिमकी निश्चितरूपसे होती है वह गति नेत्रसे अनुभव करने योग्य नहीं है; परन्तु वर्षाऋतुमें

उपाधितो भ्रान्तिर्मेघचन्द्रवत् ॥ २७ ॥

देखते हैं कि चन्द्रमा कभी पूरबसे पश्चिमकी ओर कभी पश्चिमसे पूरबकी ओर और कभी दक्षिण और कभी उत्तरकी ओर चलता हुआ प्रतीत होता है, तो अनुमानसे यह भ्रमप्रतीतिका निराकरण होता है। पुनः जब देखते हैं कि, आकाशमें मेघ है और वह गतिशील है तो यह निश्चय ज्ञान हुआ कि मेघकी उपाधिसे ही चन्द्रमाकी गति प्रत्यक्ष होती है और वह गति भ्रममूलक है। वह भ्रम अज्ञानजनित है। अज्ञानकी जननी अविद्या है। विद्याके उदय होते ही ज्ञानका उदय होता है ज्ञानसे भ्रम और प्रमाद दूर होकर सत्यका विकाश होता है ॥ २७ ॥

प्रसंगसे भेद कहते हैं—

सञ्चित क्रियमाण और प्रारब्ध भेदसे बीज त्रिविध होता है ॥ २८ ॥

अज्ञानके कारण जो उपाधिजनित भ्रम उत्पन्न होकर अस्वाभाविक संस्कारका मूल बन्धता है, उस संस्कारके तीन भेद हैं। एक संचित दूसरा क्रियमाण और तीसरा प्रारब्ध। अनेक पूर्वजन्मजन्मान्तरोंमें जो कर्मबीज संस्कार संग्रहीत होते हैं, उनको संचित कहते हैं। वर्त्तमान जन्ममें जो नवीनसंस्कार संग्रहीत होते हैं, उनको क्रियमाण कहते हैं और जो संस्कार अंकुरित होकर जाति, आयु, भोग आदि फलप्राप्तिके निमित्त वृक्षरूपी शरीरकी उत्पत्ति कर देते हैं, वे संस्कारसमूह प्रारब्ध कहाते है ॥ २८ ॥

बीजं त्रिविधं सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धभेदात् ॥ २८ ॥

अब विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

धानुष्क शरवत् है ॥ २६ ॥

अस्वाभाविक संस्कारके तीनों भेदोंको स्पष्टरूपसे समझानेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, जिस प्रकार एक शरसन्धानकारी योद्धा जब धनुष बाण लेकर शरसन्धान क्रियामें प्रवृत्त होता है तो शरकी तीन दिशा होती है, कुछ शर तो तूणमें संचित रहते हैं ; एक शर धनुषके साथ युक्त होकर रहता है और एक शर लक्ष्यकी ओर चला दिया जाता है। इस उदाहरण और औदाहरणका परस्पर सम्बन्ध यह है कि, तूणमें रक्खे हुए शरोंके समान संचित संस्कार समझने योग्य है। क्योंकि संचित-संस्कार कर्माशयमें संचित रहते हैं और भविष्यत् जन्म जन्मान्तर-में जाति, आयु, भोग आदि फल उत्पन्न करनेके लिये प्रारब्धरूपमें परिणत हुआ करते हैं। जो शर धनुषमें नियोजित है, वह क्रियमाण संस्कारके तुल्य है, क्योंकि धानुषी उसको छोड़ भी सकता है अथवा पुनः तूणमें रख भी सकता है। वस्तुतः क्रियमाण संस्कारपर कर्त्ताका आधिपत्य रहता है, क्योंकि क्रियमाण संस्कारके संग्रहमें उसकी स्वाधीनता है। उसको सकाम बनाने, उसको निष्काम बनाने अथवा पाप या पुण्यसंग्रह करनेमें उसकी स्वाधीनता बनी रहती है। परन्तु धानुषीका जो शर हाथसे लक्ष्य-पर छुट गया है, उसका उसके ऊपर कुछ भी आधिपत्य नहीं रहता है। और वह अपनी क्रियाके अवसानमें ही शान्त होता

धानुष्क शरवत् ॥ २६ ॥

है। उसी प्रकार प्रारब्ध संस्कार शरीर उत्पन्न करके जाति, आयु, भोग आदि फल प्रकट करके तब शान्त होता है, पहले नहीं हो सकता है ॥ २९ ॥

निःश्रेयस लक्ष्यसे उनका हानोपाय निर्देश किया जाता है—

दो भ्रष्टबीजवत् होते हैं ॥ ३० ॥

इन तीनोंमेंसे पहले दो अर्थात् संचित-संस्कार और क्रियमाण संस्कार बीजरूपमें ही रहते हैं। क्योंकि उनसे अंकुरोत्पत्ति होनेका अवसर नहीं मिला है। ये दोनों संस्कार भूने हुए बीजके दृष्टान्तसे हानको प्राप्त होते हैं। चना, चावल आदि बीजको अग्निमें भून डालनेसे उनका स्वरूप विद्यमान रहता है और उसे खानेसे पेट भी भरता है परन्तु उनकी अङ्कुरोत्पत्ति तथा फलोत्पत्तिकी शक्ति एकदम नष्ट हो जाती है; उसी प्रकार संचितसंस्कार और क्रियमाण संस्कारका सम्बन्ध कर्माशयके साथ स्मृतिके साथ अथवा चित्ताकाश आदिके साथ विद्यमान रहनेपर भी सुकौशलपूर्ण योगपूर्ण क्रियायोग आदिके द्वारा उनकी फलोत्पत्ति करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वासना-त्यागपूर्वक कर्मयोग अथवा अहंतत्त्व-नाशपूर्वक उपासनायोग अथवा सत् असत् विवेकपूर्वक ज्ञानयोग इन तीनों अथवा इन तीनोंमें से एकके अवलम्बन द्वारा यह अलौकिक फल अवश्य प्राप्त होता है। भ्रष्टबीजमें अग्निके समान यह सुकौशलपूर्ण योगक्रिया सहायक होता है। यही योगका अलौकिकत्व है ॥ ३० ॥

द्वे भ्रष्टबीजवत् ॥ ३० ॥

अन्यका हान उपाय निर्देश किया जाता है—

अन्यका भोगसे हान होता है ॥३१॥

तीसरा प्रारब्ध संस्कारकी स्थिति कुछ और ही है। इस श्रेणी-के संस्कारसमूह मिट्टीमें बोए हुये बीजके समान होकर उनमेंसे अङ्कुरोत्पत्ति हो जाती है। स्थूल देहरूपी वृक्ष उस बीजका परिणाम बन जाता है। इस कारण भ्रष्टबीज जैसी क्रियाकी सम्भावना इन बीजोंमें नहीं हो सकती है। जब अङ्कुरोत्पत्ति बीजसे हो जाती है, तो अङ्कुरका पूर्ण परिणाम वृक्षत्व फलत्व होकर तब बीजकी शक्ति-का हान हो सकता है। अतः प्रारब्ध संस्कारके द्वारा जाति, आयु, भोग आदि उत्पन्न हुये बिना अन्य उपाय नहीं है। प्रारब्ध-संस्कारका क्षय भोगद्वारा ही होता है। उस भोगको योगिगण वासनारहित होकर और तत्त्वज्ञानको साथ लेकर भोग द्वारा क्षय करते हैं ॥ ३१ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

अंकुरोत्पत्ति हो जानेसे ॥ ३२ ॥

जब यह स्पष्ट है कि, बीजरूपी प्रारब्धकर्म अङ्कुरोत्पन्न करके वृक्षरूपी शरीर उत्पन्न कर दिया करता है, तो यह भी निश्चित है कि, उसका भोग अवश्यसम्भावी है। हां, इतना अवश्य है कि, यदि योगिगण चाहें तो थोड़े समयमें अधिक भोग और अधिक

भोगाद्धानमन्यस्य ॥ ३१ ॥

निष्पन्नांकुरत्वात् ॥ ३२ ॥

समयमें कम भोग इस प्रकारसे देश कालमें तारतम्य कर सकते हैं। परन्तु यह सर्ववादी सिद्धान्त है कि, प्रारब्ध कर्म बिना भोगके क्षय नहीं होता है॥ ३२॥

प्रसंगसे शंकासमाधानार्थ कह रहे हैं—

अन्य दो कालका आश्रय करते हैं॥३३॥

इस अवसरपर तत्त्वज्ञानी जिज्ञासुको शंका हो सकती है कि, एक तो क्षय हो जाता है, अन्य दो क्या होते हैं? कर्म बिना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये क्षय नहीं होता इसकारण उनकी कैसी प्रतिक्रिया होती है? इस श्रेणीकी वैज्ञानिक शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अवश्य ही संस्कार नष्ट नहीं हो सकता। अतएव मुक्तात्माओंके केन्द्रको क्रियमाण और संचितकर्म छोड़ देते हैं, क्योंकि वे निःसंग हो जाते हैं निःसंग हो जानेके कारण मुक्तात्माका केन्द्र संचित और क्रियमाण संस्कारोंसे स्वतः छुटजाता है; तो अगत्या वे कालका आश्रय करते हैं अर्थात् उस ब्रह्माण्डके समष्टिसंस्कार-राशिमें मिल जाते हैं। जीवनमुक्तका अन्तःकरण स्वरूपमें युक्त होनेके कारण और उनमें मनके क्लीवत्व हो जानेके कारण और दूसरी ओर वासनाक्षय स्थायीरूपसे हो जानेपर नित्यस्थित तत्त्व-ज्ञानकी सहायतासे उनके ये दोनों संस्कार उनकेलिये फलोत्पन्न करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। विशेषतः जीवन्मुक्तमें

तौ कालनिमित्ते॥ ३३॥

अविद्याका लेश भी न रहनेपर उनमें प्रकृति और पुरुषका संयोग तत्त्वतः नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर कर्म नष्ट नहीं होनेसे वह मुक्तपिण्डको छोड़कर ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका आश्रय करता है। और वह भविष्यत्कालका सहायक बनता है। अथवा उग्रकर्मा शत्रु और मित्रका आश्रय करता है ॥ ३३ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्टकर रहे हैं—

जीवन्मुक्तका कर्म महाकाशका अवलम्बन करता है ॥३४॥

चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशका रहस्य पहले भली-भांति प्रकाशित हो चुका है। बद्धदशामें कर्मबीज संस्कार राशिका सम्बन्ध चित्ताकाश और चिदाकाशके साथ नियमित बना रहता है; परन्तु जब जीव मुक्त बन जाता है, और मुक्त-पिण्डमें प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है तब उससे सम्बन्धयुक्त जितने कर्मबीज संस्कारराशि होता है वह महाकाशका आश्रय करता है। वस्तुतः मुक्तात्माको स्वस्वरूपकी उपलब्धि होनेसे उस जीवके चिज्जड़ग्रन्थिके नाशके साथ ही साथ उसके चित्ताकाश और चिदाकाशका भी तत्त्वतः विलय हो जाता है। घटके अथवा मठके नाशके साथ ही साथ जैसा उसमेंका आकाश महाकाशमें विलय हो जाता है, वैसेही मुक्तात्माके चित्ताकाश और चिदाकाशकी दशा होती है तो स्वतः उसमें रहे हुए संस्कारसमूह महाकाशमें फैल जाते हैं।

महाकाशवलम्बि जीवनन्मुक्तकर्म ॥ ३४ ॥

किसी किसी दार्शनिक आचार्य्योंकी सम्मति यह है कि जीवन्मुक्त महापुरुषके पापमय कर्मराशि उसके निन्दक और द्वेष्टा ग्रहण करते हैं और उसके पुण्यमय कर्मराशि उसके भक्त और सेवकगण ग्रहण करते हैं। जिज्ञासुओंकी शंकाके समाधानार्थ विचार आवश्यक है। साधारण शैली तो यही है कि, जीवन्मुक्तका प्रारब्धकर्म भोगसे क्षय होता है तथा संचित और क्रियमाण कर्म उसको छोड़कर महाकाशका आश्रय करता है। परन्तु कभी कभी महात्माओंकी अनिच्छारूप इच्छाके प्रभावसे और द्वेष्टा अथवा भक्तके कर्मके उग्रत्वके कारण जीवन्मुक्तके सत् अथवा असत्कर्म उक्तप्रकारसे भक्त अथवा द्वेषीको आश्रय करते हैं। यह विज्ञानसिद्ध है और विशेषतः योगदर्शनविज्ञान द्वारा निर्णीत है कि, उग्रत्वके कारण अदृष्टजन्य वेदनीयकर्म भी दृष्टजन्य वेदनीय हो जाते हैं। उसी शैलीके अनुसार महत्सेवा और महत् अपराधरूपी उग्रकर्मके प्रभावसे महाकाशमें आश्रयग्रहण करने योग्य संस्कारराशि आकर्षित होकर साधुके द्वेष्टाको दुःख और साधुके भक्तको सुख पहुँचा सकते हैं ॥ ३४ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये कह रहे हैं—

हाथी आदि के समान ॥ ३५ ॥

हाथी आदि चतुर्विध भूतसंघरूपी सहजपिण्डके संस्कार स्वाभाविक हैं और मानवपिण्डके संस्कार अस्वाभाविक हैं।

गजादिवत् ॥ ३५ ॥

स्वाभाविक संस्कार सर्वदा एक रस रहते हैं इस कारण उनका सम्बन्ध ब्रह्माण्डके समष्टिसंस्कारके साथ रहता है। जीवन्मुक्त महात्मा जब प्रकृतिकी स्वाभाविक गतिके प्रवाहमें अपनेको प्रवाहित कर देनेमें समर्थ हो जाता है तो मनुष्यसे इतर चतुर्विधभूतसंघके कर्मोंके समान उसके कर्मवीज भी महाकाशको अवलम्बन करते हैं। ऐसा होना स्वतः सिद्ध है ॥ ३५ ॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेकेलिये साधारण सम्बन्ध दिखाया जाता है—

प्रारब्धका चित्ताकाशसे सम्बन्ध है ॥ ३६ ॥

जीवन्मुक्तकी असाधारण अवस्थामें संस्कारका विज्ञान कहकर अब संस्कारोंका साधारण सम्बन्ध वर्णन कर रहे हैं। साधारणतः प्रारब्धसंस्कार चित्ताकाशसे सम्बन्धयुक्त रहते हैं। चाहे मुक्तात्मा हो और चाहे वद्धात्मा हो, प्रारब्धकर्म बिना भोगे क्षय नहीं हो सकता यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। जीवपिण्डके साथ चित्ताकाशका साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि चित्त अन्तःकरणका एक विभाग है और अन्तःकरण जीवशरीरका अङ्ग है। अतः अङ्कुरित प्रारब्धसंस्कारका चित्ताकाशके साथ साक्षात् सम्बन्ध रहेगा इसमें सन्देह ही नहीं ॥ ३६ ॥

अब दूसरेका सम्बन्ध दिखाया जाता है—

क्रियमाण चिदाकाशसे सम्बन्धयुक्त है ॥ ३७ ॥

चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश इन तीनोंका दार्शनिक

प्रारब्धं चित्ताकाशेन सम्वद्धम् ॥ ३६ ॥

क्रियमाणं चिदाकाशेन ॥ ३७ ॥

सिद्धान्त पूर्वमें संक्षेपरूपसे कहा गया है। पिण्डके साथ चित्ताकाश, ब्रह्माण्डके साथ चिदाकाश और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके साथ महाकाशका सम्बन्ध स्वाभाविक है। उसी स्वाभाविक नियमके अनुसार जिस संस्कार श्रेणीका जैसा बल है, वह संस्कार उसी आकाशके साथ अधिक घनिष्ठता रक्खा करता है। जिसप्रकार प्रारब्ध-संस्कारोंका अधिक सम्बन्ध चित्ताकाशके साथ रहता है, उसी प्रकार क्रियमाण संस्कारोंका अधिक सम्बन्ध चिदाकाशके साथ रहा करता है। दृष्टजन्म वेदनीय संस्कार चित्ताकाशके साथ और अदृष्टजन्म वेदनीयसंस्कार चिदाकाशके साथ स्वतः ही घनिष्टता रखते हैं। यही कारण है कि, योगदर्शन सिद्धान्त केवल इन दोनों संस्कारोंको ही मानता है। जो दृष्टजन्मवेदनीय संस्कार होते हैं, वे ही अङ्कुरोत्पन्न करते हैं। जाति, आयु, भोग आदि उत्पन्नकारी शरीर उस अङ्कुरका वृत्त है। केवल योगदर्शनकी विशेषता यह है कि वह यह मानता है कि इसी शरीरमें असाधारण योगशक्तिसे अदृष्टजन्मवेदनीय संस्कार दृष्टजन्मवेदनीय किये जा सकते हैं और दृष्टजन्मवेदनीय संस्कार अदृष्टजन्मवेदनीय किये जा सकते हैं। प्रबल कर्मकी शक्तिको जब यह दर्शन भी स्वीकार करता है, तो तत्त्वतः दोनों दर्शनोंमें कोई भी भेद नहीं है। और इसी सिद्धान्तके अनुसार क्रियमाण संस्कारका साक्षात् सम्बन्ध चिदाकाशके साथ होना भी सिद्ध होता है। चिदाकाश महाकाशका वह अंश है, जो चित्ताकाशसे अलग है और अधिक व्यापक है तथा निकटस्थ होनेसे जन्मान्तर

में उसीसे कुछ संस्कार खिंचकर प्रारब्ध बनकर नया स्थूलशरीर उत्पन्न करते हैं। सुतरां घनिष्ठता होनेसे और निकटस्थ होनेसे साधारणतः नवीन क्रियमाण कर्म चिदाकाशमें ही संस्काररूपसे अङ्कित हो जाते हैं। उसकी स्थितिमात्र अवस्थाविशेषमें चित्ताकाशमें बनी रहती है। इस कारण प्राधान्य विचारसे क्रियमाण कर्मका सम्बन्ध चिदाकाशके साथ है ऐसा मान सकते हैं ॥ ३७ ॥

उसकी साधारण गति कही जाती है—

वह साधारणरूपसे सञ्चितमें सम्मिलित होता है ॥३८॥

प्रारब्ध संस्कारका स्वरूप स्पष्ट करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकार उसकी साधारण गतिका वर्णन कर रहे हैं। जीव उसके वर्त्तमान जन्ममें प्रारब्ध संस्कारका फल भोगते हुये साथ ही साथ जो नवीन कर्मोंका नवीन संस्कार संग्रह करता है, वही क्रियमाण संस्कार नामसे अभिहित होता है। उन क्रियमाण संस्कारोंकी साधारण गति यह है कि, वे साधारणरूपसे संचितसंस्कारोंमें जाकर सम्मिलित हो जाते हैं। वस्तुतः संचित संस्कार वे ही कहाते हैं, जिनको जीवने अनन्तकोटि जन्मोंमें संग्रह किया है और उन सब कर्मबीजोंसे भोगरूपी वृक्षकी उत्पत्तिकी वारी आना सम्भव नहीं है। जीव प्रतिमुहूर्त्त जितना संस्कार संग्रह करता है, उसके शतांशका एक अंश भी भोग नहीं कर सकता है। उदाहरण-

---

तदविशेषतः सम्मिलितं सञ्चिते ॥ ३८ ॥

रूपसे समझ सकते हैं कि, आहार विहारादिके द्वारा जीव प्रतिदिन एक दो कर्मका ही भोग प्राप्त करता है। परन्तु प्रतिदिन वह अपने शरीर, मन और वचन द्वारा इतने कर्म कर डालता है कि, जिसके संस्कारोंकी संख्या करना कठिन है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि, संचितसंस्कार इतनी अधिक संख्यामें रहते हैं कि, जिनके सबके भोगनेकी वारी आ ही नहीं सकती है। हाँ, उनमेंसे कुछ कुछ संस्कार अग्रसर होकर जन्मान्तर उत्पन्न किया करते हैं। क्रियमाण संस्कारके लिये साधारण नियम यह है कि नवीन कर्म द्वारा उनका संग्रह होते ही वे संचित संस्कारपुंजमें जाकर मिल जाते हैं ॥३८॥

अब उसकी विशेषगति कही जाती है—

वह कभी विशेषरूपसे प्रारब्धमें सम्मिलित होता है ॥३९॥

अब पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार उसकी असाधारणगतिका वर्णन कर रहे हैं। जब क्रियमाण-संस्कार विशेष शक्तिशाली होता है तो वह तुरत ही प्रारब्ध-संस्कारमें आकर मिल जाता है और नवीन जाति, आयु, भोगको उत्पन्न करता है। नवीन जातिके उत्पन्न करनेका उदाहरण महर्षि विश्वामित्र और नन्दीकेश्वरको समझना उचित है। आयुका उदाहरण भक्ताग्रगण्य

तत्तु कदाचिद्विशेषतः प्रारब्धे ॥३९॥

मार्कण्डेयकी जीवनीमें जाज्वल्यमानरूपसे पाया जाता है। ब्रह्माण्ड-व्यापी आकाशके साथ जब क्रियमाण-संस्कारका सम्बन्ध पहले ही निर्णीत हो चुका है और वह मध्यवर्त्ती है, इस कारण क्रिय-माण-संस्कार साधारणरूपसे संचितमें मिलता है और विशेषता प्राप्त होने पर प्रारब्धमें भी मिल जाया करता है। योगदर्शन केवल दो तरहका संस्कार मानता है, एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय, जैसा पहले कहा गया है। उस विज्ञानके अनुसार प्रारब्धसंस्कार तो दृष्टजन्मवेदनीय है ही और क्रियमाण संस्कार तथा संचित-संस्कार ये दोनों अदृष्टजन्मवेदनीय होने पर भी योगशक्तिद्वारा वे दृष्टजन्मवेदनीय हो सकते हैं। सुतरां योगविज्ञानके अनुसार भी विशेषशक्तिसम्पन्न क्रियमाण संस्कार प्रारब्ध-संस्कारमें मिलकर भोग उत्पन्न कर सकते हैं। योगसाधन और तपस्याकी प्रबलताके कारण एक जन्ममें ही पिता माताके वीर्य्यरजसे प्राप्त क्षत्रिय देहोपयोगी परमाणुको बदलकर महर्षि विश्वामित्रका राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बन जाना इसी विज्ञानसे सिद्ध होता है। उसी प्रकार नन्दीकेश्वरका पृथिवी तत्त्वप्रधान मनुष्यशरीर अग्नितत्त्वप्रधान देवशरीरमें परिणत हो जाना भी इसी विज्ञानसे सिद्ध होता है। महर्षि मार्कण्डेयके प्रबल शिवभक्तिरूप लोकातीत क्रियमाण संस्कारके बलसे ही उनकी पाँच वर्षकी आयुका कल्पव्यापी हो जाना भी इसी लोकोत्तर कर्म रहस्यका फल है ॥ ३९ ॥

प्रसंगसे शंकासमाधान किया जाता है—

फल वेगके अनुरूप होता है, चाहे वह सत् हो या असत् हो ॥ ४० ॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें ऐसी शंका उठ सकती है कि क्या प्रबल सत्पुरुषार्थ द्वारा ही शुभ क्रियमाण संस्कार प्रारब्धमें जा मिलते हैं अथवा शुभ अशुभ दोनोंका ही ऐसा फल होता है? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। शुभ और अशुभ कर्म दोनों ही बलके विचारसे एक हैं; भेद इतना ही है शुभकर्म शुभफल उत्पन्न करता है और अशुभ कर्म अशुभ फल उत्पन्न करता है। सुतरां जब शक्तिके विचारसे दोनों एक ही हैं तो तीव्र अशुभ क्रियमाण भी प्रारब्धमें मिलकर तुरत भोग अवश्य उत्पन्न कर सकता है। तीव्र अशुभ क्रियमाण-की शक्तिसे ही बेन, कंस आदि अल्पायु हुये थे। नहुषका स्वर्गसे पतन होकर सर्पयोनि प्राप्त हुआ था। वशिष्ठके पुत्रको अन्त्यज होना पड़ा था। स्मृतिमें भी कहा है—

त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिः पक्षैः त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥

अर्थात् यदि अत्युत्कट पाप अथवा अत्युत्कट पुण्य हो तो तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष या तीन दिन में उसका फल यही मिलता है ॥४०॥

फलं वेगानुरूपं सद्वाऽसद्वा ॥४०॥

प्रसङ्गसे उसके भोगका स्वरूप कह रहे हैं—

इसका भोग दिव्य स्नानकी तरह होता है ॥४१॥

इस समय प्रसंग क्रियमाणकी तीव्रताका है और प्रारब्धमें मिल जानेका है। उसी प्रसंगसे क्रियमाण-संस्कार किस प्रकार तुरत भोग उत्पन्न करता है, सो कहा जाता है। शास्त्रोंमें स्नान आठ प्रकारका वर्णित है, जिसमें दिव्य स्नान भी एक है। दिव्य स्नान उसको कहते हैं, जिस समय धूप हो, सूर्य्य भगवान्‌का दर्शन होता हो और मेघसे जल बरसता हो, उस वृष्टिमें स्नान करनेसे दिव्य स्नान होता है। अन्य सातों स्नान हर समय हो सकते हैं पर दिव्य स्नानके लिये दैवी सहायताकी आवश्यकता है, इस कारण भी इसको दिव्य स्नान कहते हैं। जिस प्रकार दिव्य-स्नानमें आतपसेवन सूर्य्यदर्शन और वृष्टि-जलसेवन इस प्रकार त्रिविधफल स्नाताको एक साथ होता है, उसी प्रकार शुभाशुभ भोगप्राप्तिके साथ ही साथ अपने किये हुये कर्मका ज्ञान और अलौकिक दैवी सहायता रहनेसे कर्मफल भोक्ताका विशेष उपकार होता है। ज्ञान रहनेसे अशुभ कर्मका कर्त्ता भविष्यत्‌में साव-धान हो सकता है और शुभ कर्मका कर्त्ता अधिकाधिक शुभ कर्ममें प्रवृत्त हो सकता है। और दुर्ज्ञेय कर्मकी गतिपर तथा दैवराज्य पर उसका विश्वास बढ़ता है ॥ ४१ ॥

भोगस्त्वस्य दिव्यस्नानवत् ॥ ४१ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

देहावसान होनेके बाद वह प्रारब्ध भी बन सकता है संचित भी बन सकता है ॥ ४२ ॥

यदि क्रियमाण संस्कार प्रबल न हो साधारण हो तो पिण्ड-पातके अनन्तर उसकी गति क्या होगी सो कहा जाता है। भविष्यत्में जो दूसरा जन्म होगा, उसके बनानेमें वह प्रारब्धमें जा मिलता है, अथवा संचितमें मिलकर जमा रहता है। भविष्यत्के लिये उसकी ये दो गति स्वाभाविक हैं। इस सूत्रके आविर्भाव करनेमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारका यह आशय प्रतीत होता है कि, कर्त्ताको यह स्मरण रहना चाहिये कि सत् असत् कर्म यदि तीव्र हो तो इसी जन्ममें भोग होगा और यदि मध्यम हो तो साथ ही साथ दूसरे जन्ममें भी भोग हो सकता है ॥ ४२ ॥

अब तीसरेका सम्बन्ध वर्णन कर रहे हैं—

संचित महाकाशसे सम्बन्ध युक्त है ॥ ४३ ॥

तीसरी श्रेणीके संचित संस्कार समूहोंका साक्षात् सम्बन्ध महाकाशसे है। संचित संस्कार अनेक होते हैं; विशेषतः वे भोगसे नाश नहीं प्राप्त होते, क्योंकि उनमेंसे बहुतोंके भोगका अवसर ही

तदस्मिन् प्रारब्धं वा संचितं वा ॥ ४२ ॥

संचितं महाकाशेन ॥ ४३ ॥

नहीं आता है। इस कारण मानना पड़ेगा कि, वे समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे अतीत हो सकते हैं। इस कारण महाकाश ही उनके रहनेका प्रधान स्थान है। तीनों आकाशका स्वरूप समझानेके लिये यह उदाहरण दिया जा सकता है कि, जैसे एक घरमें रक्खे हुये एक घरका आकाश, उस घरके भीतरका आकाश और घरके बाहरका असीम आकाश। वस्तुतः असीम आकाशमें ही महाकाश भी है और महाकाशमें ही घटाकाश भी है। परन्तु सीमा तथा उपाधि-भेदसे तीनों अलग अलग हैं। भेद इतना ही है कि, घटाकाश और मठाकाश ससीम है और महाकाश असीम है। उसी विज्ञानके अनुसार यह समझना उचित है कि संचितसंस्कार-राशि जब भोग सम्बन्धसे असीम है तो वे महाकाशमें ही रहनेके उपयोगी हैं।

तीनों आकाशके स्वरूपको समझनेमें जिज्ञासुको अनेक प्रकारकी शंका हो सकती है। यथा सृष्टि, स्थिति और लयके साथ तीनों आकाशोंका क्या सम्बन्ध है? पिण्ड, ब्रह्माण्ड अथवा दोनोंका प्रलय कवलमें पहुँच जाने पर इन आकाशोंकी क्या दशा होती है; इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें यही कहा जा सकता है कि, पिण्डके नाश होने पर उसका चित्ताकाश उपाधिसे रहित होकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डके लय होने पर चिदाकाश लय हो जाता है। और अनादि अनन्तमहाकाशकी स्थिति नित्य होनेके कारण सब संस्कार उसीमें रहते हैं और यथापूर्व सृष्टि पुनः उत्पन्न होती है॥ ४३॥

उसकी गतिका वर्णन कर रहे हैं—

चक्रकी सन्धिमें अन्तिम कर्म उससे अनुरूपको आकर्षण करता है ॥ ४४ ॥

यद्यपि यह सम्भव नहीं कि सब संचित संस्कार भोग उत्पन्न कर सकें, परन्तु स्थूलदेहरूपी मृत्युलोकका जो मनुष्यपिण्ड है, उसका जब पतन होने लगता है, आवागमनचक्रकी उसी संधिमें जीवका जो अन्तिम मानसिक कर्म होता है, उसीके अनुरूप कुछ स्वजातीय संस्कार संचित-संस्कारोंसे आकर्षित हो जाते हैं और वे ही सब मिलकर प्रारब्ध बनते हुये भोग उत्पन्न करते हैं। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, आवागमनचक्र किसको कहते हैं और वह कहां तक और कैसे विस्तृत होता है। उस चक्रकी निश्चित परिधि मृत्युलोक है। क्योंकि मनुष्य, देहके अवसानमें पितृलोक, प्रेतलोक, नरकलोक अथवा उच्चदेवलोकोंमें अथवा असुरलोकमें जा सकता है परन्तु सब लोकोंमें उसका जाना निश्चित नहीं है, इनमेंसे एकमें जाय, दोमें जाय या अधिकमें जाय, परन्तु घूम फिर कर इस मृत्युलोकमें उसकी पुनरावृत्ति निश्चित है। फलतः इस मृत्यलोकमें पुनः देहावसानकी जो सन्धि उपस्थित होती है, वही इस आवागमनचक्रकी सन्धि है इसमें सन्देह नहीं। उसी सन्धिमें अर्थात् मनुष्यके स्थूलदेह छोड़ते समय जो उसका अन्तिम कर्म होता है, वही उसके

ततः अन्तिमं कर्मानुरूपमाकर्षति चक्रसन्धौ ॥ ४४ ॥

भविष्यत् जन्मका कारण बनता है, इसमें सन्देह नहीं। जीवका मन बिना संकल्प-विकल्प किये रह नहीं सकता, क्योंकि संकल्प-विकल्प करना उसका स्वभाव है। मनुष्य अपने जीवनमें जिन कर्मोंको करता है, उनको तीन श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं। यथा साधारण कर्म, प्रबल कर्म और अति उग्रकर्म; अध्यासके तारतम्यके अनुसार इस प्रकार श्रेणीविभाग किया गया है। जीव अपने जीवनमें उग्रताके कारण जिन कर्मोंका अतिप्रबलतासे अध्यास किया है, उनमेंसे भी जो प्रबलतम कर्म है, उसीकी स्मृति मृत्यु समय मनुष्यके चित्तमें उदय होती है। उसीके मानसिक अवलम्बनकी अवस्थामें मनुष्य शरीरत्याग करता है। भविष्यत् भोग उत्पन्न करनेके लिये उसको प्रारब्धकी आवश्यकता होती है; उस समय संचितसंस्कार जो उस अन्तिम संस्कारके स्वजातीय होते हैं, वे खींच आते हैं। जैसे सप्त धातुओंके बीचमें यदि चुंबक रख दिया जाय, तो सब धातु अपने-अपने स्थान पर पड़े रहते हैं केवल लोहे खिंच आते हैं; ठीक उसी प्रकार महाकाशमें अगणित संचित-संस्कार पड़े रहने पर भी उस मनुष्यके अन्तिम मानसिक कर्मके स्वजातीय कुछ संस्कार संचित-संस्कारराशिसे खिंचकर उसके चित्ताकाशमें पहुँच जाते हैं, वे ही प्रारब्ध बनते हैं ॥ ४४ ॥

शंकासमाधान कर रहे हैं—

सम्बन्धसे ऐसा होता है ॥ ४५ ॥

इस स्थलपर जिज्ञासुको यह शंका हो सकती है कि, महा-

सम्बन्धात् ॥ ४५ ॥

काशमें अनन्तकोटि जीवोंके अनन्तकोटि संस्कार अंकित रहते हैं, उनमेंसे केवल उसी जीवके और विशेषतः स्वजातीय संस्कार क्यों खिंच आते हैं? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, जिस प्रकार सहस्रों गौके दलमें वत्स अपनी माताका ही अनुसरण करता है, और भूलकर दूसरी गौके साथ नहीं चल देता उसी प्रकार संस्कारोंकी अनन्तता, संस्कारोंका वैचित्र्य होनेपर भी और अनेक जीवोंका संस्कार एक साथ रहनेपर भी केवल उसी जीवके संस्कार खिंचते हैं, जिससे वे सम्बन्धयुक्त हैं, और वे ही संस्कार खिंचते हैं, जो स्वजातीय हैं। जैसे अनेक गौ और अनेक महिषी एक साथ चरते समय और उस दलमें उनके वत्स रहते समय जिस गौ या जिस महिषीका जो वत्स है, वह उसका अनुसरण करता है, उसी प्रकार व्यक्ति निर्विशेष और स्वजातीय संस्कार निर्विशेषसे स्वजातीय-संस्कार खिंचा करते हैं। जैसे एक बीजके अन्तर्गत् वृक्षकी यावत् आकृति प्रकृतिका स्वरूप सूक्ष्मरूपसे विद्यमान रहता है, तभी उस बीजसे वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक संस्कारमें संस्कारसंग्रहकर्त्ता जीवकी आकृति प्रकृति तथा व्यक्तिका स्वरूप सूक्ष्मरूपसे विद्यमान रहता है। यही कारण है कि, वह अपने उत्पत्ति स्थानमें खिंचता है। अब आकृति प्रकृतिके विषयमें विचारणीय यह है कि, जैसे एक मनुष्यके साथ दूसरे मनुष्यकी आकृति प्रकृति नहीं मिलती वैसे ही एक संस्कार दूसरे संस्कार के साथ नहीं मिल सकते हैं॥ ४५॥

और भी शंकासमाधान कर रहे हैं—

संगाभाव होनेसे स्वाभाविकमें ऐसा नहीं होता है ॥४६॥

अब दूसरी श्रेणीकी शंका यह हो सकती है कि, अस्वाभाविक संचित संस्कार तो खिंचा करते हैं, तो स्वाभाविक संस्कार क्यों नहीं खिंचते हैं ? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान करनेके लिये पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अस्वाभाविक संस्कारके समूह कर्त्ताके अहंकारजनित-वासना केन्द्र-से विजड़ित रहते हैं, इस कारण उस ओर उनका खिंचना अवश्य-सम्भावी है; परन्तु स्वाभाविक संस्कारके साथ अहंकार जनित-वासनाका संस्पर्श कुछ भी न रहनेसे वे नहीं खिंचा करते हैं। चाहे मनुष्य इतर उद्भिजादि जीवोंके स्वाभाविक संस्कार हों, अथवा जीवन्मुक्त मुक्तात्मा आदिके स्वाभाविक संस्कार हों उनमें अहंकार-जनितवासनाका लेशमात्र भी नहीं रहता है। इस कारण स्वाभाविक संस्कार अस्वाभाविक संस्कारके समान आकर्षित नहीं होते हैं। वे यद्यपि अन्य प्रकारसे प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, परन्तु अस्वाभाविक संस्कारके समान उसी केन्द्रमें खिंच-कर फलोत्पन्न नहीं करते हैं ॥ ४६ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

उनमें कर्मोंका भेद नहीं है ॥ ४७ ॥

अस्वाभाविक संस्कारयुक्त कर्मोंके जो तीन भेद हैं यथा संचित,

स्वाभाविकेन तथा तदभावात् ॥ ४६ ॥
तत्र न भेदः कर्मणाम् ॥ ४७ ॥

क्रियमाण और प्रारब्ध, उस प्रकार स्वाभाविक संस्कारयुक्त कर्मोंमें भेद नहीं हैं। इसका मौलिक सिद्धान्त यह है कि, स्वाभाविक संस्कार प्रकृतिसे स्वभावजात हैं और वे किस प्रकार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, इसका विस्तारित वर्णन पहले आ चुका है ॥ ४७॥

पुनः आकाश सम्बन्धसे विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं:—

प्रकृतिके अधीन होनेसे चतुर्विध भूतसंघमें आकाशका भी अभेद सम्बन्ध रहता है ॥ ४८ ॥

पहले यह प्रमाणित हो चुका है कि, अस्वाभाविक संस्कारके जो तीन भेद हैं उन तीनोंके साथ त्रिविध आकाशका कैसा सम्बन्ध है। अब यह शंका हो सकती है कि, स्वाभाविक संस्कारका सम्बन्ध उनके साथ कैसा है? त्रिविध आकाशसे स्वाभाविक संस्कारका सम्बन्ध वैसा क्यों नहीं हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान करके विज्ञानको स्पष्ट किया जाता है कि, चतुर्विध भूतसङ्घ-पूर्णरीत्या प्रकृतिके अधीन होते हैं, उनमें अहंकार जनितवासनाका लवलेश अथवा छाया भी नहीं रहती है, वे जो कुछ कर्म करते हैं, वह प्रकृतिमाताके इंगितसे करते हैं, इस कारण उनके कर्मजनित-संस्कारोंके साथ अभेद सम्बन्ध रहता है। वस्तुतः स्वाभाविक संस्कार एक और अद्वितीय होता है इस कारण उसके लिये तीनों आकाश भी एक ही हैं। उनके लिये उनमें रहनेवाले स्वाभाविक संस्कार चिदाकाश, चित्ताकाश और

आकाशस्यापि भूतसंघे प्रकृत्यायत्तत्वात् ॥ ४८ ॥

महाकाश तीनोंमें एकरूपसे व्यापक रहते हैं। अथवा यों कहें कि, उनके लिये आकाशकी भेदकल्पना नहीं हो सकती है ॥ ४८॥

अब मुक्तिके प्रसंगसे कर्मका लयविज्ञान कहा जाता है—

संस्कारसे इसकी उत्पत्ति और भोगसे लय होता है ॥४६॥

संस्कार कर्मका बीज है। इस कारण बीजसे जिस प्रकार वृक्षकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार संस्कारसे कर्म उत्पन्न होता है। और जिस प्रकार धान्यवृक्षमें फलकी उत्पत्ति होते ही धान्य वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार कर्मसे जब शुभाशुभ भोग प्रकट हो जाता है, तब उस कर्मका लय हो जाता है। क्रियासे प्रतिक्रिया उत्पन्न होने पर पूर्वक्रियाका लय हो जाता है; वस्तुतः क्रियाके होते समय जो शक्ति प्रकट होती है, वह शक्ति प्रतिक्रिया उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि हाथ जब उठाया जाता है, तब जिस शक्तिसे हाथ उठता है, उसकी प्रतिक्रिया होते समय हाथ नीचे गिरता है। उस समय वह प्रतिक्रिया उत्पन्न करके वह शक्तिलय हो जाती है। उसी प्रकार संस्कारसे कर्म उत्पन्न होने पर वह संस्कारकी शक्ति उसमें कार्य्य करती है और शुभाशुभ भोग उत्पन्नकरके वह शक्ति लय हो जाती है॥४९॥

अब भोगका स्वरूप कह रहे हैं—

भोगकी निष्पति व्यष्टि और समष्टिसे होती है ॥५०॥

संस्कारात्तस्याविर्भावो भोगात्तु लयः ॥ ४६ ॥

भोगनिष्पति र्व्यष्टिसमष्टिभ्याम् ॥५०॥

कर्मके फलसे जो शुभाशुभ-भोगकी उत्पत्ति होती है वह भोग व्यष्टि सम्बन्धसे और समष्टि सम्बन्धसे दो प्रकारका होता है। व्यष्टि सम्बन्धसे जो भोग होता है, उसकी शक्तिकी प्रेरणा चित्ताकाशसे होती है और समष्टिसम्बन्धसे जो भोग उत्पन्न होता है, उसकी शक्तिकी प्रेरणा चिदाकाशसे होती है। व्यष्टिसम्बन्ध पिण्डात्मक और समष्टिसम्बन्ध ब्रह्माण्डात्मक है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, साधारण व्याधि जब जीवको होती है, तब व्यष्टिसम्बन्ध समझना चाहिये और जब महामारी आदि से जीव ग्रसित होता है, तब उसको समष्टिसम्बन्ध समझना चाहिये। व्यष्टिसमम्बन्धसे केवल पिण्ड त्रिदोषसे दूषित होता है, ब्रह्माण्डप्रकृति दूषित नहीं होती है। और समष्टि सम्बन्धमें ब्रह्माण्ड प्रकृतिके त्रिदोषसे दूषित होनेके अनन्तर पिण्ड दूषित होता है ॥५०॥

प्रसंगसे शंकासमाधान कर रहे हैं—

काम्यभोगसे काम अग्निमें आहुतिकी तरह बढ़ता है ॥ ५१ ॥

इस स्थलपर जिज्ञासुको यह शंका हो सकती है कि, भोगकी निष्पत्ति हो जानेसे वासनाका क्षय क्या होजाता है? क्या फल-भोगसे ही मुक्ति सम्भव है? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः जब तक तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाका नाश नहीं होता है, तब तक सकामभोगद्वारा कदापि

कामः काम्यभोगेनानलवदाहुत्या ॥ ५१ ॥

कर्मसे विमुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि, एक भोगके होते समय अनन्तभोग-वासनाओंकी उत्पत्ति हुआ करती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतकी आहुति देनेसे अग्नि बुझती नहीं है, किन्तु उसकी ज्वाला कई गुण बढ़ जाती है; उसी प्रकार जबतक कामनाके साथ भोगकी निष्पत्ति होती रहती है, तबतक कदापि कर्मजालसे जीव बच नहीं सकता है। यद्यपि जिस संस्कारबीजसे फलरूपी भोगकी उत्पत्ति हुई थी, वह संस्कार तो लयको प्राप्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु अन्तःकरणमें कामना रहनेसे वह और अनेक प्रकारके संस्कारोंको उत्पन्न करता है। और पुनः बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी उत्पत्ति होकर कर्मजालकी शृंखला बनी रहती है। इस कारण स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृत्स्नवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

कामके भोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती वरन वह्निमें घृताहुतिकी तरह अधिकाधिक बढ़ती जाती है॥ ५१॥

सुतरां उपादेय क्या है सो कहा जाता है—

इस कारण वैराग्य उपनिषद् सम्मत है॥ ५२॥

उपनिषदोंसे लेकर सब वेदसम्मतशास्त्रोंमें जो वैराग्यकी महिमा कही गयी है—यथा स्मृतिमें—

इह दृश्यानि सर्वाणि नश्वराणि भवन्त्यहो।
अविवेकमयोऽयं यत्संसारोऽतो भयाप्लुतः॥

तदुपनिषन्मतं वैराग्यम्॥ ५२॥

अविवेकसमुद्भूतविषयासक्ततः क्वचित्।
लब्धुं न कोऽपि शक्नोति निर्भयत्वमिह स्वतः॥
पुत्रमित्रकलत्रादिस्वजनाः स्वस्वकर्मणा।
भोगार्थं युगपन्नूनमेकत्रोपत्तिमाश्रिताः॥
आत्मीयत्वेन राजन्ते ध्रुवं स्वस्वार्थसिद्धये।
संस्थाप्यामृतसम्बन्धमेषु यान्ति महद्भयम्॥
एतदात्मीयजं दुःखं भयञ्चाऽज्ञानमूलकम्।
न जायेत सुखं सत्यं नश्वरात्काञ्चनादितः॥
ईदृशे नश्वरेऽर्थे हि सक्तो देही निरन्तरम्।
विविधं दुःखमाप्नोति भयं चैवाधिगच्छति॥
जरामृत्युभयं देहे पुत्रादौ कालजादिकम्।
राजतस्करजं द्रव्ये जराजं यौवने भयम्॥
जरारोगभयं रूपे वले शत्रुभवं भयम्।
भोगे रोगभयं नूनं कुले पतनजं भयम्॥
दीनताजं भयं माने गुणे खलभयं खलु।
भयं निन्दकजं शक्तौ विद्यायां वादिजं भयम्॥
स्वर्गेऽपि प्रार्थ्यमानेऽस्मिन्नीर्ष्यापतनजं भयम्।
वैराग्यपदमेवाऽत्र तिष्ठत्यभयमुत्तमम्॥

अर्थात् संसारकी सब वस्तु नश्वर हैं। और अविवेकमय होनेसे भयपूर्ण हैं। अज्ञातसम्भूत विषयमें आसक्त रहनेसे कोई भी भयरहित नहीं हो सकता है। पुत्र-मित्र-कलत्रादिस्वजन केवल अपने अपने कर्मभोगनेके लिये एक देशकालमें उत्पन्न

होकर अपने अपने स्वार्थसिद्धिके लिये आत्मीयरूपसे प्रतीत होते हैं। उनमें मिथ्या सम्बन्ध स्थापन करके देही विविधभयको प्राप्त होता है। यह सब आत्मीयजनित भय और दुःख अज्ञानमूलक है। नश्वर कामिनी-कांचन आदि अपनी नश्वरताके कारण कदापि सत्य सुखको उत्पन्न नहीं कर सकते। इस प्रकारके नश्वर विषयोंमें फँसकर देही निरन्तर अनेक प्रकारके दुःख और भयको प्राप्त करता है। शरीरमें जरा और मृत्युका भय है, पुत्र और कलत्र आदिमें काल और वियोगका भय है, धनमें राजा और चोरका भय है, यौवनमें जराका भय है, रूपमें जरा और रोग-का भय है वलमें शत्रुका भय है। भोगमें रोगका भय है, कुलमें पतित होनेका भय है। मानमें दीनताका भय है, गुणमें खलोंका भय है, शक्तिमें निन्दकका भय है। विद्यामें वादीका भय है। सब लोगोंके अभीप्सित स्वर्गसे भी इर्ष्या और पतनका भय है। केवल श्रेष्ठ वैराग्यपद ही निर्भय है॥ ५२॥

और भी पुष्टि कर रहे हैं—

इस कारण निवृत्तिकी प्रधानता है॥५३॥

जीवकेलिये मार्ग दो हैं, एक प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति। अन्तःकरणकी विषयोन्मुखिनी गतिको प्रवृत्ति कहते हैं और आत्मोन्मुखिनी गतिको निवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति रागमूलिका है और निवृत्ति बैराग्यमूलिका है। इस कारण जब पहले यह सिद्ध

अतो निवृत्तेरुत्तरत्वम्॥५३॥

हो चुका है कि, वासनासहित जो विषयभोग है, उससे अग्निमें घृताहुतिके समान विषयतृष्णा बढ़ती ही जाती है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि, विषयभोगसे चित्तको हटानेवाली जो निवृत्तिदशा है, वह परम हितकारी है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

अर्थात् प्रवृत्ति मनुष्योंका स्वाभाविक है। निवृत्तिसे ही महाफलरूपी सद्गतिकी प्राप्ति होती है ॥५३॥

प्रसंगसे मुक्तिका उपाय प्रदर्शन कर रहे हैं—

यज्ञशेषभोगीकी मुक्ति होती है ॥५४॥

प्रवृत्तिमार्गसे निवृत्ति मार्ग श्रेष्ठ है। विषयरागसे विषय-वैराग्य श्रेष्ठ है। और मनकी इन्द्रियोन्मुखगतिको रोककर आत्मोन्मुखगति कर देनेसे उत्तम गति प्राप्त होती है इसमें कोई भी सन्देह नहीं। और ऐसे सत्पुरुषका अभ्युदय होना अवश्य-सम्भावी है। परन्तु पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, राग और विराग इन दोनोंसे अतीत जो कर्मका तीसरा अधिकार है वह निःश्रेयसका साक्षात् कारण है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥"

यज्ञशेषाशिनो मुक्तिः ॥५४॥

अर्थात् यज्ञशेष-भोजन करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापिष्ठ केवल अपने निमित्त भोजन बनाता है, वह पाप ही भोजन करता है ।

अतः जो भाग्यवान् कर्मी यज्ञके अर्थ ही कर्म करता है और यज्ञशेष ग्रहण करके तृप्त होता हुआ अग्रसर होता है, वह अन्तमें कैवल्य लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है । इसी कारण कर्मब्रह्मकी महिमा वर्णन करते हुये स्मृति शास्त्रमें कहा है—

अकुण्ठं सर्वकार्य्येषु धर्मकार्य्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य हि यद्रूपं तस्मै कार्य्यात्मने नमः ॥

तात्पर्य्य यह है कि, प्रवृत्तिमूलक कर्मसे निवृत्तिमूलक कर्म श्रेष्ठ होनेपर भी यदि वासनारहित होकर केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे यज्ञबुद्धि रखता हुआ ज्ञानी कर्म करे, तो कर्मका बन्धन नहीं होता और उस कर्मजनित भोगका भी वह अधिकारी होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है । धर्म, यज्ञ और पुण्यकर्म में तीनों पर्य्याय वाचक शब्द हैं । परन्तु इस सूत्रमें यज्ञशब्दका तात्पर्य्य ऐसे यज्ञसे है कि, जिसका फल तुरत प्राप्त होता हो । क्योंकि यह मुक्तिका प्रसंग है इसमें जन्मान्तर या अवस्थान्तरका अवसर नहीं है । उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि अनायास यदि किसी पदार्थ-की प्राप्ति किसी महापुरुषको हो जाय, तो उस समय उस पदार्थको भगवदुपासना या भगवत्कार्य्यमें लगाकर उस महापुरुषके अपने आप ही भोगमें आवे, तो वह भोग बन्धनका हेतु नहीं होता किन्तु

मुक्तिका हेतु होता है। इसी प्रकारसे ज्ञानी यदि कोई कर्मयज्ञ अथवा कोई उपासनायज्ञ वासनारहित होकर करे और उस यज्ञ-सम्बन्धी भोग्य उसके भोगनेमें आवे, तो वह मुक्तिका कारण होगा ॥ ५४ ॥

लक्ष्यको स्थिर किया जा रहा है—

इस कारण उसका माहात्म्य है ॥५५॥

कर्म प्रसंगमें लक्ष्यको स्थिर करके मुक्ति-मार्गको सरल करनेके अर्थ कहा जाता है कि, यज्ञशेषकी महिमा सर्वोपरि है। कर्म किये बिना मनुष्य रह नहीं सकता और जब तक शरीर रहता है, तब तक भोगकी भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण मनुष्य जीवनमें यज्ञ करके यज्ञशेषके द्वारा भोगसमापत्ति करना सर्वोपरि माना गया है। आर्य्य और अनार्य्यजीवमें भी प्रधानतः यही भेद रक्खा गया है कि जो मनुष्यजाति सदा अध्यात्म लक्ष्य रखकर यज्ञशेष भोगी होती हैं, वही आर्य्य है। वर्णाश्रमधर्मी आर्य्यगण प्रथम अवस्थासे अन्तिम अवस्था तक अपने अपने अधिकारके अनुसार इसी त्रिलोक पवित्रकारी धर्मका अभ्यास करते हैं। धर्मप्राण आर्य्यजातिके लिये यज्ञशेष ग्रहण करनेकी सर्वोपरि प्रधानता है ॥५५॥

तस्मात्तन्माहात्म्यम् ॥५५॥

प्रसंगसे यज्ञमहायज्ञ दोनोंका फल कह रहे हैं—

यज्ञ महायज्ञसे प्रकृति प्रसन्नता होती है ॥५६॥

यज्ञ महायज्ञसे जीव स्वस्वरूप प्राप्तकारी मुक्तिपदकी ओर अग्रसर होता है। अविद्याके राज्यसे बचाकर विद्याके राज्यमें पहुँचाते हुये जीवको स्वस्वरूपप्राप्त कराना यह प्रकृतिमाताका स्वभाव है। इस कारण प्रकृति इनसे प्रसन्ना होती है। जिस प्रकार राजाज्ञा माननेवाली प्रजासे राजा स्वतः प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रकृतिके नियमानुसार चलनेवाले जीवपर प्रकृतिमाता स्वतः प्रसन्ना होती है। प्रकृतिके नियमानुसार चलने पर प्रकृतिकी स्वाभाविक गति यथावत् रहती है। यही प्रकृतिमाताकी प्रसन्नता का कारण है ॥५६॥

और भी कहा जाता है—

उसीको प्रकृति जय कहते हैं ॥ ५७ ॥

विचार द्वारा यह सिद्ध होता है कि, मुक्तिपद प्रकृतिसे अतीत है। इस कारण वह प्रकृति जयका पद है। जिस अवस्थामें ब्रह्म-प्रकृति ब्रह्ममें लय हो जाती है, वही ब्रह्मका स्वस्वरूप है। जब उस स्वस्वरूपको प्राप्त करना ही मुक्तिपद है तो यह मानना ही पड़ेगा कि, वह पद प्रकृतिसे अतीत है। मुक्तिपदकी प्राप्तिको इस कारण

प्रकृतिप्रसादो यज्ञमहायज्ञः ॥५६॥

स प्रकृतिजयः ॥ ५७ ॥

प्रकृतिकी प्रसन्नता भी कह सकते हैं और प्रकृतिजय भी कह सकते हैं ॥ ५७ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

उसके परिणामका अवसान होना इसका अन्तिम फल है ॥ ५८ ॥

ब्रह्म प्रकृति ब्रह्मसे जब स्वतन्त्र होकर कार्य्य करती है तभी उसके तीन गुणोंके अनुसार सृष्टि-स्थिति-लय हुआ करता है। त्रिगुणके अनुसार परिणामिनी होना उसका स्वभाव है। स्वभाव छुट नहीं सकता; विशेषतः जिसका जो गुण है, वह गुणीसे अलग नहीं हो सकता; जैसे अग्निसे दाहिकाशक्ति अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रकृतिसे त्रिगुण-परिणाम अलग नहीं हो सकता है। मुक्तिपदका उदय तभी हो सकता है, जब प्रकृति परिणामका अवसान हो। और परिणामका अवसान तभी होता है जब प्रकृति ब्रह्ममे लय हो जाती है। सुतरां यज्ञ और महायज्ञका यही अन्तिम फल है यह मानना ही पड़ेगा ॥ ५८ ॥

तदनन्तर क्या होता है सो कहते हैं—

उस समय स्वरूपका प्रकाश होता है ॥ ५९ ॥

धर्म साधन द्वारा संस्कार शुद्धि होती है और संस्कारशुद्धिसे

परिणामावसान तदन्तिमफलम् ॥ ५८ ॥

तदा स्वरूपविकाशः ॥ ५९ ॥

क्रियाशुद्धि होती है और क्रियाशुद्धिके अन्तमें प्रकृतिका लय होकर स्वस्वरूपका उदय होता है। जब द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध नष्ट होता है अर्थात् ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें लय हो जाती है, तब नित्य, मुक्त अद्वितीय स्वरूपही शेष रह जाता है। यही कैवल्यावस्था है ॥ ५९ ॥

वह स्वरूप कैसा है सो कहा जाता है।

वह सच्चिदानन्दमय है ॥ ६० ॥

वह स्वस्वरूप सत्‌रूप चित्‌रूप और आनन्दरूप है। सत् अर्थात् उनकी सत्ता नित्य स्थित है। चित् अर्थात् वे चेतनरूप हैं। और आनन्द अर्थात् सब निरानन्दोंसे तथा त्रितापोंसे वह पद अतीत है। जहां सत्, चित् और आनन्द इन तीनोंका एकाधारमें स्थिति है, वही स्वस्वरूप है। जब सत्, चित् और आनन्दकी अलग अलग स्थिति है, वह द्वैत है। और जहाँ इन तीनोंका ऐक्य सम्बन्ध है वही अद्वैतपद है और वही स्वस्वरूप ब्रह्मपद है ॥६०॥

प्रसंगसे शंका-समाधान किया जाता है—

उसमें प्रकृतिका लय होता है ॥ ६१ ॥

अब यह शंका हो सकती है कि, किस अवस्थामें प्रकृतिका लय होता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान करके इस

स सच्चिदानन्दमयः ॥६० ॥

तस्मिन् प्रकृतिलयः ॥ ६१ ॥

समाधिगम्य विषयको स्पष्ट करनेके लिये इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। सत्, चित्, और आनन्द इन तीनोंका अलग अलग अनुभव जब तक रहता है, तब तक सत्के भानसे प्रकृति और चित्के भानसे पुरुष तथा दोनोंके परस्पर सम्बन्धसे आनन्दका अनुभव बना रहता है, और यही द्वैतावस्थामें प्रपंच अनुभवका कारण है। परन्तु जिस अद्वैत अवस्थामें सत्, चित्, और आनन्दका एकत्व सम्बन्ध स्थित हो जाता है, उस अवस्थामें प्रकृति भी अव्यक्त होकर लय हो जाती है ॥ ६१ ॥

यदि ऐसा न हो तो क्या होता है—

अन्यथा परिणाम होता रहता है ॥ ६२ ॥

यदि ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें लीन न रहे, यदि स्वस्वरूपमें प्रकृति अव्यक्त न हो जाय और व्यक्त बनी रहे, यदि द्रष्टा दृश्यका द्वैतभान होता रहे; तो प्रकृति अपने स्वभावके अनुसार परिणामिनी होती रहती है। सद्भावको अवलम्बन करके प्रकृति और चिद्भावको अवलम्बन करके पुरुष और आनन्दभाव अवलंबन करके उनका शृंगार बना रहता है। उस समय सृष्टिका प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। प्रकृतिसे स्त्रीधारा, पुरुषसे पुरुषधारा और आनन्दसे उनका परस्पर शृंगार व्यष्टिपिण्ड और समष्टि ब्रह्माण्डमें होने पर अनन्तकोटि पिण्डब्रह्माण्डात्मक सृष्टिप्रवाह प्रवाहित होता रहता है ॥ ६२ ॥

परिणतिरन्यथा ॥ ६२ ॥

प्रसंगसे कर्मका विभाग कह रहे हैं—

शक्तिके अनन्त होनेसे कर्मविभाग अनन्त है ॥ ६३ ॥

कर्मका विराट् स्वरूप और अलौकिकत्व प्रतिपादनार्थ कहा जाता है कि, ब्रह्मशक्ति अनन्त है। अनन्तकी शक्ति अनन्त ही हुआ करती है। अतः जब शक्ति अनन्त है, तो शक्तिसंजात कर्मका विभाग भी अनन्त होगा। जब यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, इस कारण कार्य्य-कारण सम्बन्ध होनेसे कर्मविभाग भी अनन्त है ॥ ६३ ॥

प्रसंगसे ईश्वरका ईश्वरत्व कहा जाता है—

इस कारण ईश्वरके सिवा कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है ॥ ६४ ॥

जब कर्मविभाग अनन्त है, तो कर्मका वैचित्र्य भी अनन्त स्वरूपमय होगा इसमें सन्देह ही क्या है। यही कारण है कि कर्मको वेदशास्त्रोंने दुर्ज्ञेय कहा है। और यही कारण है कि, मनुष्य कितना ही ज्ञानी हो जाय कर्मकी भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान दशा नहीं जान सकता है। चाहे कितना ही शास्त्रज्ञ मनुष्य हो अथवा योगशक्तियोंसे युक्त हो, वर्त्तमान और भूतकाल-का ज्ञान कदाचित् हो भी जाय, परन्तु भविष्यत्के विषयमें पूर्णज्ञ

कर्मविभागानन्त्यमनन्तत्वाच्छक्तेः ॥ ६३ ॥

तस्मात् सर्वज्ञो नेश्वरेतरः ॥ ६४ ॥

होना असम्भव ही है। दूसरा विचारणीय विषय यह है कि कर्मबीज संस्कारके अंकित रहनेका स्थान चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश ये तीनों ही हैं। अपने पिण्डका ही ज्ञान जब जीवको नहीं हो सकता, तब पिण्डव्यापक चित्ताकाश, ब्रह्माण्ड व्यापक महाकाश और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व्यापक महाकाशके साथ सम्बन्ध स्थापन अल्पज्ञ जीव कर ही नहीं सकता है। इस कारण एकमात्र प्रकृतिके द्रष्टा ईश्वर ही सर्वज्ञ हो सकते हैं ॥६४॥

विज्ञानकी और भी पुष्टि कर रहे हैं—

ईश्वरके सिवा सब देशकालसे परिच्छिन्न हैं ॥६५॥

संसारमें जितनी वस्तु हैं, सब देशकालसे परिच्छिन्न हैं। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि परमात्माकी विभूतिका नाम काल है और प्रकृतिकी विभूतिका नाम देश है। इस कारण यह स्वतः सिद्ध है कि ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिसे अतिरिक्त जो कुछ पदार्थ है, वह देशसे भी परिच्छिन्न है कालसे भी परिच्छिन्न है। चाहे पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड हो, वे सादि सान्त होनेसे कालसे परिच्छिन्न हैं और जब पिण्डसमूह मरुभूमिमें वालुकणकी न्याई ब्रह्माण्ड आकाशमें स्थित हैं और ब्रह्माण्डसमूह भी मरुभूमिमें वालुकणकी न्याई अनादि अनन्तदेशमें स्थित हैं, तो यह स्पष्ट ही है कि ईश्वरके अतिरिक्त सृष्टिके यावत्पदार्थ देश और कालसे परिच्छिन्न हैं ॥ ६५ ॥

देशकालपरिच्छिन्नत्वमितरेषाम् ॥६५॥

प्रसंगसे कहा जाता है—

इस कारण देवता वा ऋषि कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है ॥ ६६ ॥

देवतागण यद्यपि कर्मके नियन्ता हैं और ऋषिगण ज्ञानके नियन्ता हैं, परन्तु वे दोनों ही अपनी अपनी शक्तिमें पूर्णता रखनेपर भी एक एक विशेष ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध रखते हैं। उन्नतसे उन्नतपदके अधिकारी देवतागण अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णशक्ति विशिष्ट होनेपर भी उनकी शक्ति उस ब्रह्माण्डके देशकालसे परिच्छिन्न है। उसी प्रकार नित्य ऋषिगण ज्ञानराज्यके अधिदैव होनेपर भी विशेष विशेष कल्पके उपयोगी और विशेष विशेष ब्रह्माण्डके उपयोगी ज्ञानसे ही सम्बन्धयुक्त रहते हैं। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि चाहे देवता हो या ऋषि हो सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं ॥ ६६ ॥

प्रसंगसे और भी कह रहे हैं—

जीवन्मुक्ति हो सकती है किन्तु सर्वज्ञता नहीं हो सकती है ॥ ६७ ॥

पूर्वकथित-विज्ञानके अनुसार मनुष्य चाहे कितना ही उन्नत

नातः कोऽपि देवर्षयः सर्वज्ञाः ॥६६॥

शक्या जीवन्मुक्तिरशक्याऽखिलवेदिता ॥६७॥

ज्ञानी होकर जीवन्मुक्त पदवी प्राप्त कर ले, परन्तु कदापि सर्वज्ञ नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानकी सहायतासे ज्ञानी महापुरुष चाहे प्रत्येक पदार्थका अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ज्ञान लाभकर सके, चाहे मल, विक्षेप और आवरणकी शुद्धि करके अनात्मासे आत्माका विचार करनेमें सफल काम हो जाय, चाहे योगदृष्टि-प्राप्त करके दूरदर्शन, दूरश्रवण करनेमें समर्थ हो और कर्मगतिका वेत्ता हो जाय और चाहे हर समय अनात्माका त्याग करके आत्मामें युक्त रहा करे, परन्तु ईश्वरकी सर्वज्ञशक्तिका पूर्ण-विकाश उसमें कदापि नहीं हो सकता है। ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करके जीवन्मुक्त ब्रह्मरूप हो सकते हैं परन्तु देशकालसे परिच्छिन्न होनेके कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं ॥६७॥

अब प्रसंगसे कर्मकी महिमा कह रहे हैं—

कर्मकी गति गहना और सूक्ष्म है ॥६८॥

पूर्वोल्लिखित कारणोंसे यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि कर्मकी गति अतिगहन और अतिसूक्ष्म है। जब कर्मके विभाग अनन्त हैं, तब कर्मकी गति अतिवैचित्र्यपूर्ण होगी। इस कारण उसका अति-गहन होना स्वतः सिद्ध है। जब स्थूलसे अतिस्थूलराज्यसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म राज्यपर्य्यन्त कर्मकी गतिका ही परिणाम है तो यह भी सिद्ध है कि कर्मकी गति अतिसूक्ष्म है। कर्म अपनी अलौ-किक, अतीन्द्रिय शक्ति द्वारा अन्नमयकोष, प्राणमयकोष मनोमय-

---

कर्मगतिर्गहना सूक्ष्मा च ॥६८॥

कोष और विज्ञानमयकोष पर समानरूपसे आधिपत्य रखता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि इसकी गति सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्व और अवस्था तक में है ॥६८॥

और भी महिमा प्रतिपन्न कर रहे हैं—

क्योंकि कभी कभी जीवन्मुक्तको भी साधारणकर्मकी गति समझनेमें कठिनता देखी जाती है ॥६९॥

कर्मगतिके गहनत्व और सूक्ष्मत्वके हेतु मुक्तात्मा, परमज्ञानी, जीवन्मुक्तपद प्राप्त महात्माओंको भी ऐसा देखा गया है कि वे कर्मकी साधारणगतिसे कभी कभी अपरिचित हो जाते हैं। परमज्ञानी योगिराज महर्षिवसिष्ठके रामवनगमनरूपी कर्मज्ञानका अभाव इस विज्ञानका जाज्वल्यमान प्रमाण है ॥ ६९ ॥

अब मोक्षप्रसंगसे पुनः कह रहे हैं—

विश्व ही ब्रह्म है ॥ ७० ॥

कार्य्य-कारण सम्बन्धसे कार्य्यब्रह्म ही कारण-ब्रह्म है। ब्रह्मप्रकृति और ब्रह्ममें जब 'अहं ममेति वत्' भेद नहीं है, उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि गायक और उसकी गानेकी शक्तिमें अभेद ही है तो प्रकृतिसंजात विश्व औरमें भेद हो ही नहीं सकता है। गायक जब तक गाता नहीं है, तब तक उसकी गायकशक्ति उसीमें अव्यक्त रहती है। संगीतशास्त्रके अनुसार अलाप

क्वापि जीवन्मुक्तस्यापि तज्ज्ञभावदौर्बल्यदर्शनात् ॥६९॥
विश्वमेव ब्रह्म ॥ ७० ॥

आदि गायन शैली प्रकट होने पर गानशक्ति व्यक्त होती है। उस समय गायनक्रिया अलग प्रतीत होने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि अलाप आदि गायनक्रियामें और गायकमें भेद नहीं है। ब्रह्मसे, ब्रह्मप्रकृति व्यक्त होकर स्वभावसे परिणामिनी होती है और स्वभावसे ही दृश्यप्रपंच जगत् उत्पन्न करती है। और प्रकृतिके त्रिगुणके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय स्वतः होता रहता है। अतः अविद्याके द्वारा जगत् और ब्रह्म ये दोनो अलग अलग प्रतीत होने पर भी विद्याकी कृपासे ये दोनों एक ही प्रतीत होंगे, यही मीमांसादर्शनका सिद्धान्त है ॥ ७० ॥

उसी प्रसगसे दृश्यका रहस्य कह रहे है—

पुरुष अव्यक्त व्यक्त होता है ॥ ७१ ॥

सांख्यका पुरुष, योगका पुरुषविशेष और वेदान्तदर्शनका ब्रह्म ये सब एक होने पर भी अवस्थाविशेषके नाम है। प्रत्येक पिण्डमें जो स्वस्वरूपका अनुभव होता है, वही सांख्यदर्शनका पुरुष है। ब्रह्माण्ड सम्बन्धसे जो परमात्माका अनुभव होता है, वही योगदर्शनका पुरुषविशेष है। दृश्य प्रपंचसे अतीत जो स्वस्वरूपका अनुभव है, वही वेदान्तका ब्रह्मपद है। अतः चाहे उसको पुरुष कहिये या पुरुषविशेष कहिये, वह अपनी प्रकृतिको अपनेमें लय करके अव्यक्तभावको धारण करता है और अपनी प्रकृतिको अपनेमें प्रकट करके व्यक्तभावापन्न होता है। यही पुरुषके व्यक्त

पुरुषोऽव्यक्तो व्यक्तः ॥७१॥

और अव्यक्त होनेका रहस्य है। वस्तुतः महादेवी आलिंगित महादेव ही पुरुष विशेष है। जब देवाधिदेव महादेवमे महादेवी प्रकृति लीन होती है, तब वही अव्यक्तावस्था और जब महादेवी प्रकट होकर सेवामे प्रवृत्त होती है तब वही व्यक्तावस्था कहाती है॥ ७१ ॥

उससे क्या होता है सो कहते हैं—

इस कारण सब कालात्मक है ॥ ७२ ॥

अव्यक्तसे व्यक्त होने पर व्यक्तावस्था कालके अधीन हो जाती है। इसका कारण यह है कि अव्यक्तसे व्यक्तावस्था होते ही अव्यक्त और व्यक्तकी सन्धिमें कालका स्वरूप प्रकट होता है। सुतरां यह मानना ही पड़ेगा कि व्यक्तावस्था कालके अधीन होती है। इसी कारण वेद और शास्त्रोंमे कालको पुरुषकी विभूति करके वर्णन किया है और कालको भगवत्स्वरूप करके माना है। इसी कारण दार्शनिक दृष्टिसे यह अनुमेय है कि, यावत् दृश्यप्रपंच जो व्यक्तावस्थाका परिणाम है, वह सब कालात्मक है ॥ ७२ ॥

मुक्ति प्रसङ्गसे विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

चतुर्धा शुद्धभावमें उसको देखनेसे मुक्ति होती है ॥७३॥

तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण जब उन्नत ज्ञानभूमिमे अवरोहण

कालात्मकमतोऽखिलम् ॥ ७२ ॥

तद्दर्शनान्मुक्तिः शुद्धे भावचतुष्टये ॥ ७३ ॥

करते हैं, तब समाधिगम्य इस सूक्ष्मातीसूक्ष्म दशाको पुरुष, अव्यक्त, व्यक्त और काल इन चार भावोंमें अनुभव करके कृतकृत्य होते हैं। प्रकृतिकी पूर्णलयावस्था जब प्रकृतिका अनुभवतक न रहे और चिन्मयभावका प्राधान्य रहे, वही पुरुषभाव-बोधक अवस्था है। जब प्रकृतिका अनुभव हो परन्तु लयावस्था बनी रहे, वही सत्‌भाव प्रधान अवस्था अव्यक्तभावका बोधक है। जब प्रकृति पुरुषमें प्रकट हो जाती है, वही प्रकृतिसहित अवस्था व्यक्तावस्थाका बोधक है और व्यक्तावस्थाके साथ ही साथ जो कालका अनुभव है, वही सत् चित् और काल, इन तीनोंका एकाधारमें अनुभव ही भगवान् महाकालका बोधक है। समाधि-बुद्धिद्वारा इन अवस्थाओंका दर्शन करनेसे मुक्तिपदका अनुभव होता है ॥ ७३ ॥

वह दर्शन कैसे होता है, सो कहा जाता है—

कर्मके रहस्यज्ञानसे ऐसा होता है ॥ ७४ ॥

प्रथम कर्मरहस्यका ज्ञान लाभ करना आवश्यक होता है। तदनन्तर उस सूक्ष्मसमाधि बुद्धिका उदय होता है, जिससे पूर्वकथित अनुभव हो। संस्कारशुद्धिका रहस्य तदनन्तर क्रियाशुद्धिका रहस्य समझनेसे कर्मकी गतिका वेत्ता मुमुक्षु हो सकता है और इसी साधनके लिये इस दर्शनकी प्रवृत्ति है ॥ ७४ ॥

तत् कर्ममर्मज्ञानात् ॥ ७४ ॥

दर्शनका माहात्म्य कह रहे हैं—

वह विष्णुका परमपद है ॥ ७५ ॥

यह पहले ही विस्तारितरूपसे कहा गया है कि, ब्रह्माण्डमें आकर्षण और विकर्षणशक्ति इन दोनोंके समन्वयमें ही सत्त्वगुणका विकाश होता है। उसी प्रकार पिण्डमें रागद्वेषके समन्वयमें ही सत्त्वगुणका विकाश होता है। वही समन्वयकी अवस्था ही धर्म है और उसी अवस्थामें ही स्थितिके अधिदैव भगवान् विष्णुका पीठ बनता है, जहाँ वे विराजते हैं। इसी कारण शास्त्रोंमें कहीं-कहीं भगवान् विष्णुको ही धर्मरूप करके वर्णन किया है। कहीं-कहीं उस पीठेश्वरीको भगवती जगद्धात्री करके वर्णन किया गया है। इसी कारण श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

क्योंकि मैं ही अमृत और अव्ययरूप ब्रह्मका प्रतिष्ठास्थान हूँ। इसलिये शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुखका भी प्रतिष्ठास्थान हूँ।

सुतरां तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपनी निर्विकल्प समाधिमें पूर्वकथितरूपसे जब अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं, तो उस समय उनका अन्तःकरण जिसभावसे भावित होता है, वही विष्णुका परमपद है। धर्मकी धारिकाशक्तिसे अभ्युदयको प्राप्त करते हुए उन्नतसे उन्नततर और उन्नततम आध्यात्मिक अधिकारको पाकर

तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ७५॥

अन्तमें तत्त्वज्ञानी महापुरुष धर्मका एकमात्र आधाररूप इस विष्णुपदका साक्षात्कार कर लेते हैं। यही साधकके परमपुरुषार्थका चरमफल स्वरूप है ॥ ७५ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

अव्यक्त व्यक्तका कारण है ॥ ७६ ॥

पुरुषमें जो प्रकृति अव्यक्त रहती है, वही कारण है और व्यक्तावस्था उसका कार्य्य है। यद्यपि कारण ब्रह्म ही कार्य्यब्रह्मरूपसे प्रतीत होता है; परन्तु वस्तुतः ब्रह्मकी प्रकृति जो प्रलयावस्थामें ब्रह्ममें लीन रहती है, वही अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होकर दृश्यप्रपंच प्रकट करती है। पुरुषके सम्बन्धसे यह कह सकते हैं कि कारणब्रह्म ही कार्यब्रह्म होता है और प्रकृतिके सम्बन्धसे यह कह सकते हैं कि अव्यक्त ही व्यक्त होता है ॥ ७६ ॥

और भी कह रहे हैं—

उनके स्वरूपकी युक्ति और विमुक्ति काल है ॥ ७७ ॥

महाकालके स्वरूपको समझानेके लिये दूसरे प्रकारसे कहा जाता है कि, उनका स्वरूप जो सृष्टिमें संयुक्त और प्रलयमें वियुक्त होता है, वही काल है। प्रलयावस्थासे सृष्टि प्रारम्भ होते समय और सृष्टिका नाश होकर प्रलय होते समय—इन दोनों सन्धियोंमें

अव्यक्तं व्यक्तकारणम् ॥ ७६ ॥

युक्तिर्विमुक्तिश्च कालस्तत्स्वरूपस्य ॥ ७७ ॥

महादेवी आलिंगित महादेवस्वरूप जो प्रकट होता है, वही भगवान् महाकालका स्वरूप है। अद्वैतभावसे द्वैतभाव होते समय और द्वैतभावसे अद्वैतभाव होते समय, अथवा यों कहिये कि, ब्रह्म-प्रकृतिके अव्यक्तसे व्यक्त होते समय और व्यक्तसे अव्यक्त होते समय—इन दोनों सन्धियोंमें पुरुषका जो रूप अनुभवमें आता है, वही कालका स्वरूप है ॥ ७७ ॥

प्रसङ्गसे सृष्टिका रहस्य कह रहे हैं—

ईशके अनादि अनन्त होनेसे सृष्टि, स्थिति और लय पर्य्यायक्रमसे होता है ॥ ७८ ॥

ब्रह्ममें ब्रह्मशक्तिका सम्बन्ध प्रकट होते ही निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर अथवा पुरुष-विशेष कहाते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मभाव अनादि अनन्त है, उसी प्रकार ईश्वरभाव भी अनादि अनन्त है। दैवी-मीमांसादर्शनका सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्म और ईश्वर एक ही हैं। केवल प्रकृतिका महत्त्व बढ़ानेके लिये ही वे दोनों अलग-अलग अनुभवमें आते हैं। वस्तुतः जब ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें लीन रहती है, तब वही ब्रह्मपद है और जब वह व्यक्त होती है तब वही ईश्वर-पद है। सृष्टिका रहस्य यह है कि, जिस प्रकार एक मनुष्यकी मृत्यु हो जानेसे अनेक मनुष्य जीवित रहते हैं और सृष्टि नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डमें प्रलय होनेसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जीवित रहते हैं। मनुष्यपिण्डका जन्म और मृत्युके समान

क्रमात् सृष्टिस्थित्यन्ता अनाद्यनन्तभावादीशस्य ॥ ७८ ॥

ब्रह्माण्डोंका भी सृष्टि और प्रलय हुआ करता है। यही दृश्य प्रपंचका आविर्भाव और तिरोभावका रहस्य है। यही प्रकृतिकी व्यक्त और अव्यक्तदशाका रहस्य है और यही सृष्टि-स्थिति-लयके पर्य्यायका रहस्य है। अनादि, अनन्त, अद्वैत, अव्यय, अविकारी, अरूप, अगुण, अविभक्त ब्रह्मभावमें जहाँ सृष्टि प्रकट होती है, जहाँ प्रकृति व्यक्त होती है और जहाँ दृश्य द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापन होता है, वहीं ईश्वरत्व अनुभवमें आता है। कर्म और कर्मबीज संस्कारको आश्रय करके यथापूर्व अस्वाभाविक संस्कार और प्रकृति संजात स्वाभाविकसंस्कारके अनुसार ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक सृष्टि, स्थिति और लय पर्य्याय-क्रमसे हुआ करता है॥ ७८॥

अब प्रलयका रहस्य कह रहे हैं—

प्रलयके समयमें गुणोंकी समता होती है॥ ७९॥

विना सृष्टि तथा लयका रहस्य अनुभव किये कैवल्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कैवल्यपद सृष्टि तथा लय दोनोंके अतीत है। सृष्टिका रहस्य पहले प्रकाशित हो चुका है। अब लयका अनुभव करानेके लिये कहा जाता है कि, गुणकी समता हो जानेपर लयका उदय होता है। जिस प्रकार गायकके द्वारा ताल स्वर-युक्त सुन्दर गीत प्रकट होनेपर गायकको न जाननेपर भी दूरसे उस गानद्वारा मनुष्य मुग्ध होकर भावान्तरको प्राप्त होता है,

गुणसाम्यं लये॥ ७९॥

उसी प्रकार प्रकृतिके गुण व्यंजनकी अवस्थामें रज, सत्त्व और तम इन तीन गुणोंके अनुसार सृष्टि, स्थिति, लय यथाक्रम होती रहती है और उन गुणोंमें जीव फँसते भी रहते हैं। जिस प्रकार स्वरज्ञान न रहनेपर भी श्रोता गानमें मुग्ध होता है, उसीप्रकार प्रकृतिको न जाननेपर भी उसके गुणोंमें जीव मुग्ध होता है। जिस प्रकार गानकी पूर्वावस्था गायकसे स्वरका व्यक्त होता है, उसके अनन्तर स्वरविन्यासके अनुसार कार्य्य होता है, उसी प्रकार गुणकी साम्यावस्था और वैषम्यावस्था समझना उचित है। लयावस्थामें उससे विपरीत होता है। तीनों गुण अपने कारण अवस्थामें लय होकर साम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं। वही अवस्था प्रकृति कहाती है और बादकी अवस्था विकृति कहाती है ऐसा मान सकते हैं। यही प्रकृतिस्थ ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें साथ ही साथ लय हो जाती है। उसी अवस्थामें स्वस्वरूपका उदय होता है; वही अद्वैतपद ब्रह्मपद है। जब तक द्रष्टा दृश्यका सम्बन्ध है, तब तक वह विकृतावस्था है। गुणका दर्शन होते समय इस अवस्थाका रहना अवश्यसम्भावी है। जब गुण अपने कारणमें लय हो जाते हैं और द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध नहीं रहता, तब प्रकृति स्वतन्त्र रह नहीं सकती। वह भी परमपुरुषमें लय हो जाती है तभी परमपुरुष ब्रह्म कहाते हैं। उस समय सत्‌चित् और आनन्दका स्वतन्त्र स्वतन्त्र भान नहीं रहता है। गुणोंकी समतासे ये सब अवस्थाएँ अपने आप ही होकर स्वस्वरूपका उदय हो जाता है ॥ ७९ ॥

प्रसंगसे कालकी अवस्थाओंका स्वरूपनिर्णय किया जाता है—

व्यष्टि और समष्टिसे काल तथा महाकालकी कल्पना है ॥ ८० ॥

भगवान्‌की न्याईं अनादि अनन्त जो समय है, वही महाकालका स्वरूप है और एक पिण्डके सम्बन्धसे अथवा एक ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे जहाँ कहीं उस अनादि अनन्त दशाका विभाग किया गया हो, वही काल है। अथवा इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, महाकाल अनादि अनन्त है और काल सादि सान्त है। महाकाली आलिंगित महादेव ही अनादि अनन्तरूपधारी महाकाल कहाते हैं और दूसरी ओर घड़ी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, अयन, सत्य, द्वापर आदि युग ब्रह्माकी आयु, विष्णुकी आयु, रुद्रकी आयु कल्प आदि जो विभाग हैं, वे सभी काल नामसे अभिहित होने योग्य हैं ॥ ८० ॥

मुक्ति सम्बन्धसे पुनः कह रहे हैं—

अन्यथा ऐक्य है ॥ ८१ ॥

यदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड सम्बन्धसे विभागरूप उपाधि न हो, तो काल और महाकाल एक ही है। यदि अज्ञानोपाधि न रहे, तो जिस प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही है, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्य

कालमहाकालयोर्व्यपदेशो व्यष्टिसमष्टिभ्याम् ॥ ८० ॥

ऐक्यमन्यथा ॥ ८१ ॥

भेद बुद्धि न रहे, तो कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्म एक ही है और जिस प्रकार ब्रह्म प्रकृतिके वैभवका विचार न रहे, तो ब्रह्म और ईश्वर एक ही है, उसी प्रकार यदि विभागबुद्धि न रहे तो महाकाल और काल एक ही हैं ॥ ८१ ॥

उसी सम्बन्धसे देशका रहस्य कहा जाता है—

लोकवैचित्र्यसे देशकी कल्पना है ॥ ८२ ॥

देश भी अनादि अनन्त है और सादि सान्त है। महाकाश अनादि अनन्त वैसे ही है जैसे महाकाल है और चिदाकाश तथा चित्ताकाश ब्रह्माण्ड और पिण्डके सम्बन्धसे सादि सान्त है। स्थूलजगत्में भी परिधिकी उपाधि द्वारा विभाग होकर एक ही पृथिवी नाना नामसे अभिहित होती है। इसी प्रकार राशिचक्रादि भी अलग-अलग नामसे पुकारे जाते हैं और उसी प्रकार लोक-वैचित्र्यसे प्रेतलोक, मृत्युलोक, नरकलोक, पितृलोक, देवलोक, असुरलोक आदिकी कल्पना की गई है ॥ ८२ ॥

दोनोंसे प्रणवका सम्बन्ध निर्णय कर रहे हैं—

प्रणव उसका वाचक होनेसे दोनोंका आदि है ॥ ८३ ॥

मुक्तिके प्रसङ्गसे सृष्टिका मौलिक-रहस्य उद्घाटनार्थ पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कहते हैं कि प्रणवके साथ ब्रह्मका वाच्यवाचक सम्बन्ध होनेके कारण वाच्य-वाचक सम्बन्धसे घनिष्ठता हेतु प्रणव

देशस्य लोकवैचित्र्यात् ॥ ८२ ॥
प्रणवस्तद्वाचकत्वादुभयादिः ॥ ८३ ॥

देशकालका आदि है। पूज्यपाद महर्षि पतंजलिजीने योगसूत्रमें कहा है कि, "तस्य वाचकः प्रणवः।" इसी प्रकार स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पंदेन सव्यापकम् ।
स्पंदश्चाऽपि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा ॥
सृष्टिश्चाऽपि तथाऽऽदिमाकृतिविशेषत्वाद्भूत्स्पन्दिनी ।
शब्दश्चोद्भवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥

अर्थात् जहाँ कुछ कार्य्य है, वहाँ कम्पन अवश्य होता है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य होगा। इसी नियमके अनुसार सृष्टिकी उत्पत्तिरूपी कार्य्यके समय जो प्रथम कम्पन हुआ, उसी कम्पनका शब्द ओंकार है।

अतः अद्वैतस्वरूपावस्थासे द्वैत उत्पादक कार्य्य उत्पन्न होते ही प्रणवका सम्बन्ध निर्देश होता है। अद्वैतसत्ताके अनन्तर प्रकृतिके व्यक्तावस्थाके साथ ही साथ प्रणव प्रकट होता है, इस कारण वह परमपुरुषका वाचक है। देशकाल प्रकृति और पुरुषकी यथाक्रम विभूति होनेके कारण प्रणवके परवर्त्ती तत्त्व हैं। इस कारण ईश्वर वाचक प्रणव, देश, कालका आदि है यह मानना ही पड़ेगा ॥ ८३ ॥

उसकी महिमा वर्णन कर रहे हैं—

वह अष्टप्रकृतियुक्त होनेसे पूर्णशक्तिशाली है ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार परमपुरुष भगवान् अष्टप्रकृतिसे युक्त हैं, उसी

पूर्णशक्तिमत्त्वमस्याष्टप्रकृतिमयत्वात् ॥ ८४ ॥

प्रकार प्रणव भी अष्टप्रकृतिसे युक्त है। श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

भूमिरापोऽनलोवायुःखं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिऽष्टधा॥

अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार भगवान्की प्रकृति अष्टधा विभक्त है। इसी प्रकार उनका वाचक प्रणव भी अष्टप्रकृतिसे युक्त है। क्योंकि वाच्य और वाचकमें अभेद सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें भेद होकर सगुण ब्रह्मकी अष्टप्रकृति विज्ञान-सिद्ध है, उसी प्रकार ब्रह्मवाचक प्रणवको अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगियोंने दो अवस्थामें विभक्त किया है। एक ध्वन्यात्मक वह शब्द जो समाधिस्थ अन्तःकरणमें सुनाई दे और दूसरा वह शब्द जो मनुष्यके कण्ठसे उच्चारित होता है। इन दोनोंमें से प्रथम अवस्थाको प्रणव और दूसरी अवस्थाको ओंकार कहते हैं। ओंकारकी अष्टप्रकृति यथा षड़ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और नाद। जिस प्रकार ब्रह्मकी अष्टप्रकृतिमेंसे बुद्धितत्त्वका प्राधान्य है और बुद्धितत्त्वके परे ही ब्रह्मका अनुभव है; उसी प्रकार प्रणवकी इन अष्टप्रकृतियोंमेंसे नादका अधिकार सर्वोपरि है और नादके परे ही प्रणव अथवा ओंकारका अनुभव होता है। दूसरी ओर जैसा ब्रह्म और ईश्वरमें भेद नहीं है वैसे ही प्रणव और ओंकारमें भेद नहीं है। षड़जादि सप्त स्वर तो संगीतशास्त्र अनुमोदित है और नाद उनकी समष्टि है। उस

समष्टि-शब्दके अनन्तर जो "तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।" प्रणवध्वनिका कण्ठद्वारा अनुकरण है, वही ओंकार शब्दसे अनुमेय है। अन्तर्द्रष्टा योगिराज ब्रह्म और ईश्वरके भावों जैसा पार्थक्य है, उसे जैसा समझते हैं, वैसे ही प्रणव और ओंकार शब्दके प्रतिपादित अवस्थाओंको समझते हैं और संगीतशास्त्रज्ञ योगिगण इसको प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि, प्रणव अपनी अष्टप्रकृतिसे युक्त होकर यावत्‌शब्दमयी सृष्टिको उत्पन्न करता है॥ ८४॥

दूसरी महिमा कह रहे हैं—

प्रवाहके अनादि होनेसे इसका अनादित्व है॥ ८५॥

जैसे एक पिण्डके नाश हो जानेपर कोटि-कोटि पिण्ड जीवित रहते हैं, ऐसे ही एक ब्रह्माण्डके नाश हो जानेपर अनन्तकोटिब्रह्माण्ड जीवित रहते हैं। जैसे मनुष्यलोकमे मनुष्योंका जन्म मृत्यु होते रहनेपर पृथिवी मनुष्यशून्य नहीं होती है; इसी प्रकार ब्रह्माण्डो सृष्टि, स्थिति, लय होते रहनेपर भी प्रवाहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका नाश नहीं होता है। सुतरां प्रवाहरूपसे स्थूलपाँच भौतिक सृष्टि अनादि अनन्त होनेके कारण शब्दमयी सृष्टि भी अनादि अनन्त है। क्योंकि प्रथम शब्दमयी सृष्टि होती है उसके अनन्तर स्थूल सृष्टि होती है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि, इस विज्ञानके अनुसार शब्दसृष्टि अनादि है॥ ८५॥

अनादित्वमनादित्वात् प्रवाहस्य॥ ८५॥

तीसरी महिमा कह रहे हैं—

शब्दयोनि होनेसे श्रेष्ठ है ॥ ८६ ॥

आकाशतत्त्व सब शब्दोंमें श्रेष्ठ है। इस कारण शब्दसृष्टि सर्वप्रथम उत्पन्न होती है। उसी शब्दमयी सृष्टिका आदिकारण होनेसे प्रणवकी महिमा सर्वोपरि है और प्रणव शब्दयोनि किस प्रकारसे है, इसका वर्णन पहले ही हो चुका है ॥ ८६ ॥

चौथी महिमा कह रहे हैं—

शास्त्रयोनि होनेसे ॥ ८७ ॥

शास्त्रीय ग्रन्थोंके विषयमें श्रुति और स्मृतियोंसे प्रमाणित है कि पुस्तक पाँच श्रेणीकी होती हैं। यथा—

> पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यान्ति सस्रोतसः।
> सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित् ॥ श्रुतिः,
> ब्रह्माण्डपिण्डनादाश्च विदुरक्षरमेव च।
> पंचैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः ॥

अर्थात्—इस प्रकारसे चाहे वेद हो, चाहे स्मृति हो, चाहे पुराण तन्त्रादि हो, चाहे लौकिकशास्त्र हो, वे सब जब सूक्ष्म दैव-जगत्से स्थूलजगत्में आविर्भूत होते हैं, तो वे शब्दके अवलम्बन-से ही होते हैं। क्योंकि भाव और शब्दका नित्य कार्य्य-कारण सम्बन्ध है। अक्षरमयी पुस्तकके रूपमें जब अन्य चार श्रेणीकी

गरीयस्त्वं शब्दयोनित्वात् ॥ ८६ ॥

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ८७ ॥

पुस्तकें दैवी प्रेरणासे आविर्भूत होती हैं, तो चाहे ऋषियोंके अन्तः-करणमें नादमय वेद अपने शब्दमय स्वरूपमें ही प्रकट हो अथवा अन्यान्य शास्त्रभावकी सहायतासे प्रकट हो; सभी शब्दसृष्टिको ही अवलम्बन करके प्रकट होते हैं। इसका विस्तारित वर्णन दैवीमीमांसादर्शनमें है। फलतः जब वेदादिशास्त्रके आविर्भूत होते समय शब्दसृष्टिकी सहायता लेनी पड़ती है और शब्दसृष्टि प्रणवके अधीन है; तो मानना ही पड़ेगा कि, शास्त्रयोनि होनेसे प्रणवका ही प्राधान्य है ॥ ८७ ॥

पाँचवीं महिमा कह रहे हैं—

सर्गयोनि होनेसे ॥ ८८ ॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है, जहाँ कार्य्य है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द अवश्य ही होगा। क्योंकि कम्पनके घात-प्रतिघातका रूपान्तर ही शब्द है। जब अद्वैतसे द्वैतका प्राकट्य हुआ, उस समय साम्यावस्था प्रकृतिसे वैषम्यावस्था प्रकृतिके उत्पन्न होनेसे साथ-साथ उस समयकी क्रियासे प्रणव आविर्भूत होकर ब्रह्मका वाचक बना। तदनन्तर देशकालकी उत्पत्ति हुई, तदनन्तर देशकालसे परिच्छिन्न होकर देश-कालमयी सृष्टि प्रकट हुई। इससे मानना ही पड़ेगा कि सृष्टिका आदि प्रणव है और प्रणवसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। अतः सृष्टि-का उत्पादक होनेसे उसकी महिमा सर्वोपरि है ॥ ८८ ॥

सर्गयोनित्वात् ॥ ८८ ॥

छठीं महिमा कह रहे हैं—

मन्त्रयोनि होनेसे ॥ ८९ ॥

मनको जो आत्माके अभिमुख करे, उसको मन्त्र कहते हैं। किसी-किसी महर्षिकी सम्मतिमें अन्तर्राज्यसे सम्बन्धयुक्त शब्द मन्त्र कहाते हैं। मन्त्रशास्त्रका यह रहस्य है कि, इष्टदेवका वाचक मन्त्र कहाता है। अर्थात् जिस शब्दके वाचनिक उपांशु या मानसिक जप करनेसे इष्टसान्निध्य प्राप्त होता है, वह शब्द इष्टदेवका मन्त्र कहाता है। सब श्रेणीके मन्त्रोंका उत्पत्तिस्थान प्रणव है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इसी कारण मन्त्रशास्त्रमें प्रणवको सब मन्त्रोंका सेतु कहा है। मन्त्रके कई भेद हैं। यथा शाखापल्लवयुक्त मन्त्र, शाखायुक्त मन्त्र, बीजमन्त्र इत्यादि। जिस प्रकार बीजमें कारणरूपसे शाखापल्लव निहित रहते हैं, इस कारण बीजका प्राधान्य है; इसी विचारके अनुसार वेद आदि शास्त्रोंमें बीजमन्त्रकी प्रधानता मानी गई है। बीजमन्त्रोंमें अष्ट-बीज प्रधान है और वे अष्टबीज प्रणवसे ही व्यक्त हुये हैं। सुतरां प्रथमतः सर्वबीजोंका आधारभूत प्रणव है और द्वितीयतः प्रणव सब मन्त्रोंका सेतु है। जिस प्रकार बिना सेतुके मार्ग विच्छिन्न, असम्पूर्ण और रुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बिना प्रणवके सब मन्त्रोंकी गति अबाध नहीं हो सकती है। इन सब कारणोंसे मानना ही पड़ेगा कि मन्त्रोंका योनिरूप होनेसे प्रणवका माहात्म्य सर्वसम्मत है॥ ८९॥

मन्त्रयोनित्वात् ॥ ८९ ॥

सातवीं महिमा कह रहे हैं—

आदिवाचक होनेसे ॥ ६० ॥

इस नामरूपात्मक प्रपंचमें प्रणव आदिशब्द होनेसे आदि-वाचक है, इसमें सन्देह ही नहीं। जहाँ रूप है, वहाँ नाम है, जहाँ नाम है, वहाँ रूप है। दृश्य और द्रष्टा इन दोनोंके सम्बन्ध-स्थापनसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है। जहाँ दृश्य है, वहाँ नाम है, इस कारण नामकी उत्पत्ति दृश्यके साथ ही साथ होती है। यही कारण है कि, वाच्यवाचक सम्बन्ध स्वाभाविक है। जिस प्रकार ब्रह्म सबके आदि है, उसी प्रकार ब्रह्मका वाचक प्रणव सब वाचकोंका आदि है ॥ ९० ॥

आठवीं महिमा कह रहे हैं—

त्रिदेवात्मक होनेसे ॥ ६१ ॥

सर्वशक्तिमय प्रणव सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी पूरी शक्तिसे युक्त है। इस कारण प्रणवमें त्रिदेवका अधिष्ठान है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

> अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
> मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयोमताः ॥

अर्थात्—अकार विष्णु, उकार महेश्वर और मकार ब्रह्मा, इस प्रकार प्रणवसे तीनोंको समझना चाहिये ॥ ९१ ॥

आद्यवाचकत्वात् ॥ ६० ॥

त्रिदेवात्मकत्वात् ॥ ६१ ॥

नवीं महिमा कह रहे हैं—

गुणसाम्यसे आविर्भूत होनेसे ॥ ६२ ॥

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे सृष्टि, स्थिति और लय, होता है। इन तीनोंका जब स्वरूप और कार्य्य व्यक्त रहता है, तब प्रकृतिकी व्यक्तावस्था कहाती है और जब इनका स्वरूप और कार्य्य व्यक्त नहीं रहता है, वही प्रकृतिकी अव्यक्तावस्था कहाती है। अव्यक्तावस्था वस्तुतः गुणसाम्यकी अवस्था है। प्रकृतिकी अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था होनेकी जो प्रथम क्रिया ,है उसी क्रियाके हिल्लोलकी ध्वनिका नाम ओंकार है, जिसका विज्ञान पहले कहा गया है। सुतरां रूपान्तरसे गुणसाम्य अवस्था-के साथ ही प्रणवका सम्बन्ध पाया जाता है। गुणसाम्य तभी होता है, जब शक्ति और शक्तिमान्‌की अभेद अवस्था होती है। प्रकृतिके जो चार भेद हैं यथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय, उसमेंसे प्रकृतिकी तुरीय अवस्थाके साथ प्रणवका सम्बन्ध सिद्ध होनेके कारण उसका माहात्म्य सर्वोपरि है ॥ ९२ ॥

दशवाँ महत्त्व कह रहे हैं—

भावातीतभावका उपलम्भक होनेसे ॥ ६३ ॥

रज, सत्त्व और तम इन तीनों गुणोंसे सृष्टि, स्थिति और लय होता है और भावसे उसका अनुभव होता है। जैसे तुरीया

गुणसाम्यत आविर्भूतत्वात् ॥ ६२ ॥
भावातीतभावोपलम्भकत्वात् ॥ ६३ ॥

प्रकृतिमें तीनों गुणोंकी लयावस्था रहती है, उसी प्रकार परम-पुरुषके स्वस्वरूपमें तीनों भावोंकी लयावस्था रहती है । क्योंकि उस अवस्थामें सच्चिदानन्द इन तीनों भावोंका अद्वैतरूपमें अनुभव होता है । उसी भावातीतभावमें पहुँचानेवाला प्रणव है । मनबुद्धिसे अगोचर वह अद्वैततुरीयपद प्रणवजप तदनन्तर प्रणवके अर्थकी भावना, तदनन्तर प्रणवकी उत्पत्ति और लय स्थानकी धारणासे प्राप्त होता है । इस कारण प्रणवकी महिमा सर्वोपरि है ॥ ९३ ॥

ग्यारहवाँ महत्त्व कह रहे हैं—

लयकारक होनेसे ॥ ९४ ॥

प्रणव मन्त्रराज तथा मन्त्रसेतु होनेके कारण इसके जपसे मनकी लयोन्मुखी गति अपने आप हुआ करती है । सुतरां प्रणव-मन्त्रके जपसे रही-सही विषयोन्मुखप्रवृत्ति वैराग्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा लयकी ओर स्वतः अग्रसर हो जाती है । इस कारण सन्न्यासियोंकेलिये इस जपकी महिमा सर्वोपरि शास्त्रोंमें वर्णित है । अतएव तुरीयाश्रममें विहित होनेसे प्रणवकी महिमा बहुत है ।

इस स्थलपर जिज्ञासुके हृदयमें शङ्का हो सकती है कि, यदि प्रणव लयकृत् है, तो सबलोग उसके जपके अधिकारी क्यों नहीं हैं ? स्त्री, शूद्र आदिकेलिये शास्त्रोंमें उसका निषेध क्यों पाया

लयकृत्त्वात् ॥ ९४ ॥

जाता है? यदि वह वैराग्य उत्पादक है, तो सबके लिये हितकारी क्यों नहीं है? उसके जपके लिये अधिकार भेद क्यों रक्खा गया है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, सनातनधर्ममें अधिकारपार्थक्य रखनेसे ही उसका पूर्णत्व प्रतिपादित होता है। प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिके अनुसार ही कर्मका अधिकार निर्णय हुआ करता है। त्रिगुणके भेदसे प्रकृतिका निर्णय होता है। एक तामसिक अधिकारीको यदि सात्त्विक कर्मका उपदेश दिया जाय अथवा एक सात्त्विक अधिकारीको यदि राजसिक या तामसिक कर्मका उपदेश दिया जाय, तो उसमें विपरीत फल होगा। यदि राजाको राज्यमर्य्यादा त्यागपूर्वक भिक्षाटनका उपदेश दिया जाय और ज्ञानवान् ब्राह्मणको युद्धमें प्रवृत्त किया जाय, तो विपरीत फल अवश्य होगा। उसी प्रकार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-भावके अनुसार मनुष्यमें प्रवृत्ति हुआ करती है। यदि ज्ञानप्रवण व्यक्तिको केवल अन्ध-विश्वासके द्वारा संचालित किया जाय अथवा तामसिक श्रद्धाके अधिकारीको वैज्ञानिक उपदेश देकर उसकी श्रद्धाको शिथिल किया जाय, तो विरुद्धफल होना निश्चय है। जिस व्यक्तिकी रुचि सात्त्विक भोजनमें है, उसको यदि तामसिक या राजसिक भोजनका अभ्यास कराया जाय, तो विफल मनोरथ होना पड़ेगा। शक्तिका भी ऐसा ही माहात्म्य है। जिसमें जितनी शक्ति है, उसका उपयोग उतना ही कराने पर सफलता होगी नहीं तो विफलता अवश्य होगी। जो व्यक्ति पाँच सेर बोझ उठा सकता है, उसको यदि मन भरका बोझ उठाने दिया जाय,

तो अवश्य विपरीत फल होगा। अतः वेद और शास्त्रोंमें प्रवृत्ति, प्रकृति और शक्तिके तारतम्यके अनुसार अधिकार निर्णयकी जो विधि है, वह सर्वथा विज्ञानसिद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। प्रणवका अधिकार तुरीया प्रकृतिके साथ माना गया है। इस कारण आश्रम अधिकारमें भी उसको तुरीयस्थान देकर संन्यासमें ही उसका प्रशस्त अधिकार माना गया है और ब्राह्मण आदि द्विज-जातिकेलिये केवल मन्त्रसेतुरूपसे उसका जप सर्वथा विहित है। स्त्रीशूद्रादिका अधिकार निम्नकोटिका होनेसे और उनकी शक्ति, प्रकृति और प्रवृत्तिका प्रकृतिके स्थूलतरराज्यसे सम्बन्ध रहनेके कारण उनको प्रणवजपका अधिकार नहीं दिया गया है। यह आज्ञा उनका उपकारक है, अपकारक नहीं है। यद्यपि ब्रह्मसद्भावका अधिकार परमोत्कृष्ट है तथापि यदि एक असाधु इन्द्रिय-लोलुप व्यक्तिको सर्वभूतोंमें एकता प्रतिपादक ब्रह्म-सद्भावका अधिकार दिया जाय; तो उसकी परधनलोलुपता बढ़ जाएगी घटेगी नहीं। उसीप्रकार प्रणवजप वैराग्य उत्पादक होनेपर भी और निवृत्तिमार्ग प्रवृत्तिमार्गसे श्रेष्ठ होनेपर भी अनधिकारीकेलिये वह अवश्य ही शुभ फलप्रद नहीं होगा। जिसकी प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्ति विषय-वैराग्यको सहन नहीं कर सकती, उसको यदि अस्वाभाविक रीतिसे विषय-वैराग्यके पथपर लाया जाय, तो वह वैराग्य स्थायी नहीं होगा और जल-के स्रोतके सन्मुख बालुकाबन्धके समान वह थोड़े समयमें ही नष्ट हो जाएगा। इस कारण यथाधिकार साधकको क्रमशः

साधनपथमें अग्रसर करना ही वेदशास्त्र और दार्शनिक युक्तिके अनुकूल है ॥ ९४ ॥

अब बारहवीं महिमा कह रहे हैं—

सृष्टिके लयका हेतु होनेसे ॥ ९५ ॥

वेद और शास्त्रोंमें वर्णन है कि पृथिवीतत्त्व जलतत्त्वमें और जलतत्त्व अग्नितत्त्वमें और अग्नितत्त्व वायुतत्त्वमें और वायुतत्त्व आकाशतत्त्वमें लय होकर ब्रह्माण्डका लयकार्य्य सम्पन्न होता है और उस समय अन्तमें शब्दमयी सृष्टि अर्थात् सृष्टिकी सूक्ष्म-अवस्था ओंकारमें लय होकर ब्रह्माण्डकी लयक्रिया सिद्ध होती है। ओंकार प्रकृतिमें लय हो जाता है और प्रकृति ब्रह्ममें लय हो जाती है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि प्रणव लयका हेतु है। यही कारण है कि पुराणोक्त तथा तन्त्रोक्त सगुणोपासनाकी तो बात ही क्या, वेदोक्त सामोपासना, उद्गीथोपासना आदि उपासनाकी जितनी प्रणालियाँ हैं, सबमेंसे ओंकारोपासनाको सर्वोच्चस्थान दिया गया है। जिसका विस्तारित वर्णन उपनिषदोंसे लेकर दैवीमीमांसादर्शन तकमें प्रतिपादित है। इससे प्रणवकी महिमा विशेषरूपसे सिद्ध होती है ॥ ९५ ॥

तेरहवीं महिमा कह रहे हैं—

एकतत्त्वका उद्भावक होनेसे ॥ ९६ ॥

योगके सब क्रियासिद्धांशका यह तात्पर्य है कि जिन साधनों-

सृष्टिलयहेतुत्वात् ॥ ९५ ॥

एकतत्त्वोद्भावकत्वात् ॥ ९६ ॥

के द्वारा एकतत्त्वकी उत्पत्ति होती है, वे ही साधनसमाधिके उत्पादक होते हैं। वस्तुतः एकतत्त्वके द्वारा ही समाधिकी सिद्धि होती है; इसका विस्तारित रहस्य योगदर्शनमें पाया जाता है। एकतत्त्वका उदय यदि न हो तो योगी समाधिभूमिमें पहुँचकर भी सविकल्प समाधिमें ही अटका रहता है और निर्विकल्प समाधिभूमिमें पहुँचने नहीं पाता है। एकतत्त्वकी पूर्णताके अभाव-से अनेक योगविघ्न उत्पन्न होते हैं। परन्तु ओंकारसाधनसे एकतत्त्वके उदयमें बड़ी भारी सहायता मिलती है। इस कारण प्रणवकी महिमा अधिक है ॥ ९६ ॥

चौदहवीं महिमा कह रहे हैं—

मनका विशेष लय साधक होनेसे ॥ ९७ ॥

बन्धमोक्षका कारण एकमात्र मन ही है। मन और सब इन्द्रियोंका राजा होनेसे अशुद्ध मन बन्धन प्राप्त कराता है और शुद्ध मन मुक्ति प्रदान करता है। आसक्तिके द्वारा मन अशुद्ध हो जाता है और शुद्धभावके अवलम्बनसे मनकी शुद्धि सम्पादित होती है। शास्त्रमें भी कहा—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।" दूसरी ओर मन कैसा प्रभावशाली है, इस विषयमें गीतोपनिषद्में कहा है—

"तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।
असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥"

मनसोविशिष्टलयसाधकत्वात् ॥ ९७ ॥

ऐसे प्रभावशाली मनको जो प्रणव तुरत ही लयावस्थामें पहुँचानेमें समर्थ है, उसकी महिमा सर्वोपरि होगी इसमें सन्देह ही क्या है ? विषयमें आसक्त मन तो चंचलसे अतिचंचल होता ही रहता है । उसमें तो मनके शान्त होनेकी सम्भावना ही नहीं है और शुद्ध मन भी सद्भावकी सहायतासे यद्यपि स्वरूपकी ओर क्रमशः अग्रसर होता हुआ उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्दका अधिकारी होता रहता है; परन्तु लय नहीं होता । मनका लय तभी होता है, जब आत्मज्ञानके पूर्ण-विकाशद्वारा मनका मनत्व नष्ट हो जाय अथवा ब्रह्मवाचकरूपी प्रणवके नित्यस्वरूपमें लगकर उसके साथ ही साथ ब्रह्मपदमें जाकर लय हो जाय । सुतरां ऐसे अलौकिक प्रभावसे युक्त प्रणवकी जितना महिमा कीर्त्तन किया जाय, उतना ही थोड़ा है ॥ ९७ ॥

पंद्रहवीं महिमा कह रहे हैं—

स्वरूप प्रकाशक होनेसे ॥ ९८ ॥

योददर्शनका यह अकाट्य सिद्धान्त है कि, मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जानेसे आत्मा स्वस्वरूपमें प्रकाशित हो जाता है । यथा—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥"

चित् अर्थात् मनकी वृत्तियाँ जब तक निरुद्ध नहीं होती हैं,

स्वरूपद्योतकत्वात् ॥ ९८ ॥

तब तक स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती है। क्योंकि तरङ्गसे आलोड़ित जलाशयमें सूर्य्य या चन्द्रका प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे सकता है। जैसे तरङ्गरहित स्थिरजलाशयमें सूर्य्य अथवा चंद्रका प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई देता है, उसी प्रकार मनकी वृत्तियाँ साधन द्वारा शान्त हो जानेपर स्वस्वरूपका स्वतः विकाश हो जाता है। अतः जब प्रणव ही मनकी वृत्तियोंका निरोध करनेमें सबसे श्रेष्ठ सहायक है और चित्तवृत्तिनिरोध होते ही स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है तो मानना ही पड़ेगा कि प्रणवस्वरूपके प्रकाश करनेमें समर्थ होनेसे उसका महत्त्व सर्वोपरि है॥ ९८॥

सोलहवीं महिमा कह रहे हैं—

उसमें संसारको लय करके परतत्त्वानुसन्धानद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है॥ ९९॥

सृष्टिस्थितिलयतत्त्वका सिद्धान्त यह है कि प्रणवसे ही संसार उत्पन्न होता है और प्रणवमें ही लय होता है। शब्द आकाशका गुण है। शब्दतन्मात्रा ही अंतिम तन्मात्रा है, क्योंकि आकाश-तत्त्व सब तत्त्वोंसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। अतः संसार जिस समय प्रकट होता है, उस समय जैसे आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवीतत्त्व प्रकट होकर संसार प्रकट

तत्र विश्वलयेन ब्रह्मभावप्राप्तिः परतत्त्वानुसन्धानात्॥ ९९॥

होता है ; ठीक उसी प्रकार व्युत्क्रमके द्वारा लय क्रिया होती है अर्थात् संसारका प्रलय होते समय पृथिवी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें और आकाश प्रणवमें लय होकर विश्वब्रह्माण्डका प्रलय संसाधित होता है । इस सिद्धांतके अनुसार शब्दतन्मात्रा पञ्चतत्त्वोंका लयस्थान है और प्रणवशब्द तन्मात्राका लयस्थान है और वाच्यवाचक सम्बन्ध होनेसे प्रणवका लयस्थान ब्रह्मपद है। उसी क्रमके अनुसार सफल कामयोगी निर्विकल्प समाधिपदमें पहुँचनेके लिये समस्त द्वैतप्रपंचको प्रणवमें लय करके परतत्त्वानुसंधान द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है। अतः प्रणव ही पराकाष्ठा है प्रणव ही परमगति है इसमें संदेह नहीं है ॥ ९९ ॥

स्थूलसूक्ष्म कर्म्मशक्तिकी सुव्यवस्था द्वारा मोक्षपदकी उपलब्धिके प्रसंगसे कहा जाता है—

शृंखला द्वारा सब कुछ होता है ॥ १०० ॥

चाहे अभ्युदयका मार्ग हो, चाहे निःश्रेयसका मार्ग हो, शृंखला द्वारा सब कुछ सरल और सुसाध्य हो जाता है। जिस प्रकार सिकलमें एक कड़ी दूसरी कड़ीको सम्हालती है और सब कड़ीका बल सब कड़ीमें पहुँचता है ; उसी प्रकारकी कार्य्यव्यवस्थाको शृंखला कहते है। अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्मसाधनमें और उसके मार्गमें शृंखलाकी बड़ी आवश्यकता है और उसकी सहायतासे सब कुछ हो सकता है ॥ १०० ॥

शृंखलया सर्वम् ॥ १०० ॥

उसके भेद कह रहे हैं—

वह त्रिभेदवत् त्रिविध है ॥ १०१ ॥

जैसे सृष्टिकी सब वस्तुएँ त्रिगुणके त्रिभेदके अनुसार तीन-तीन प्रकारकी होती हैं, ऐसे ही शृङ्खलाको यदि अधिकारभेदसे विभाग किया जाय, तो उसके भी तीन भेद होते हैं। यह शृङ्खलाकी ही महिमा है कि ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डपर्य्यन्त और सूक्ष्मदैवराज्यसे लेकर स्थूलमृत्युलोकपर्य्यन्त सबमें सृष्टि-स्थिति और लयकी व्यवस्था यथावत् रहती है। यह शृङ्खलाकी ही महिमा है कि चन्द्रग्रह पृथिवीग्रहमें और पृथिवीग्रह सूर्यग्रहमें प्रवेश नहीं कर जाता है। यह शृंखलाकी ही महिमा है कि असुरोंकी व्यवस्था और देवताओंकी व्यवस्था अपनी-अपनी मर्य्यादाको अतिक्रमण नहीं कर सकती है। यह शृंखलाकी ही महिमा है कि देवतागण अपने-अपने पदपर बैठकर अपने-अपने अधिकारोंका पालन करते हैं। यह शृङ्खलाकी ही महिमा है कि, ऋषि, देवता, पितर और असुरगण अपने-अपने कार्य्यको करते हुए ब्रह्माण्डकी स्थितिकी सुरक्षा करते हैं। यह मृत्युलोकमें शृङ्खला-की ही महिमा है कि राजाके द्वारा प्रजा सुरक्षित होकर कल्याणको प्राप्त होती है। चाहे शिल्पकार्य्य हों, चाहे वाणिज्यकार्य्य हो, चाहे राजानुशासन हो, चाहे आध्यात्मिक धर्मजगत्का कार्य्य हो बिना शृङ्खला ब ा सफलता नहीं हो सकती है। अतः शृंखलाकी

सा त्रिविधा त्रिभेदवत् ॥ १०१ ॥

आवश्यकता सार्वभौम होनेके कारण उसका त्रिविध होना युक्तियुक्त है ॥ १०१ ॥

प्रथमका वर्णन किया जाता है—

संस्कारशृंखला पहली है ॥ १०२ ॥

कर्मका बीज संस्कार है, इस कारण संस्कारशृंखलाको प्रथम स्थान दिया गया है। किस प्रकार स्वाभाविक संस्कार प्रकृतिके स्वभावसिद्ध रीतिसे पिण्डसृष्टिके आदिमें सहजातरूपसे उत्पन्न होता है, पुनः जीवको क्रमोन्नति कराता हुआ मुक्तिपद तक पहुँचा देता है और किस प्रकारसे वह अस्वाभाविक संस्कारको दबाकर आवागमनचक्रका भेदन करके स्वस्वरूपकी उपलब्धि करा देता है, सो पूर्वमें विस्तारितरूपसे सिद्ध हो चुका है। अस्वाभाविक संस्कारके अभिव्यक्तिके समय यह संस्कारशृङ्खलाका ही कारण है, कि जीवका क्रमाभ्युदय बना रहता है और जीवको नीचेकी ओर गिरने न देकर उत्तरोत्तर प्रथममें अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयसके मार्गमें नियमितरूपसे अग्रसर कर देता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म, पुरुष और नारीधर्मके यावत् आचारकी व्यवस्था जो श्रुति और स्मृतिमें बाँधी गई है सो संस्कारशृंखलाके अनुसार ही बाँधी गई है। लोहेकी सांकलमें एक कड़ी दूसरी कड़ीको सम्हालती हुई एक बृहत् शक्ति उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार वर्णधर्म और आश्रमधर्म आदिकी

संस्कारशृङ्खला प्रथमा ॥ १०२ ॥

क्रियावली और साधन आदि इस प्रकारके संस्कारकी शृङ्खला प्रकट करते हैं कि, जीव चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष, चाहे शूद्र हो या वैश्य, चाहे क्षत्रिय हो चाहे ब्राह्मण और चाहे चतुराश्रमका कोई भी व्यक्ति हो, वह अधःपतित न होकर जन्मान्तरमें क्रमोन्नतिको ही प्राप्त होता है। संस्कारशृङ्खलाके महत्त्वको समझनेवाले विद्वान् इसी कारण वर्णधर्मके निम्न और उच्च-अधिकार और नारीधर्म तथा पुरुषधर्मके विभिन्न और असम अधिकारोंको देखकर न शंका करते हैं और न विचलित होते हैं। क्योंकि उनमेंकी संस्कारशृंखलाको बड़े ही दृढ़ और चमत्कार विज्ञानसे ओत-प्रोत देखते हैं। भेद इतना ही है कि, संस्कार-शृङ्खलाके महत्त्वको उच्च अधिकारके दार्शनिक और योगी व्यक्ति ही समझ सकते हैं ॥ १०२ ॥

दूसरेका वर्णन करते हैं—

कर्मशृङ्खला दूसरी है ॥ १०३ ॥

यह कर्मशृंखलाका ही कारण है कि तैंतीस प्रधान देवतासे लेकर तैंतीसकोटि देवता अपने-अपने कार्य्यको यथावत्‌रूपमें सम्पादन करते हुये सृष्टिकी सुरक्षा किया करते हैं। यह कर्म-शृङ्खलाका ही कारण है कि चाहे ब्रह्माण्डमें चाहे पिण्डमें चाहे अन्तर्जगत्‌में हो चाहे बहिर्जगत्‌में देवासुरसंग्रामकी क्रिया होते हुये भी देवताओंकी ही अन्तमें जय होती है; जिसके द्वारा

कर्मशृङ्खला द्वितीया ॥ १०३ ॥

सृष्टिकी सामञ्जस्य रक्षा होती है। यह कर्मशृङ्खलाका ही कारण है कि एक सम्राट्के राज्यमें एक प्रजारक्षक प्रहरी तथा एक साधारण सैनिक व्यक्तिसे लेकर छोटे-बड़े सब राजकर्मचारी तक अथवा राज्यके सब विभाग और मन्त्रीसभा आदि तकमें सुव्यवस्था बनी रहती है और उसके द्वारा प्रजा तथा राजा दोनोंका कल्याण होता रहता है और सब अभ्युदयकी सहायता प्राप्त करते हैं। यह कर्मशृंखलाका ही कारण है कि, चाहे शूद्रोंका वृहत् शिल्प-गृह हो, चाहे वैश्योंका कृषिवाणिज्यका बृहत् आयोजन हो, चाहे क्षत्रियोंका राजानुशासन हो और चाहे ब्राह्मणोंके धर्मानुशासन हो, सबकी क्रिया यथावत् सम्पादित होकर मङ्गलकी प्राप्ति होती है। चाहे वर्णधर्मकी क्रिया हो, चाहे आश्रमधर्मकी क्रिया हो, चाहे सभा समितिकी क्रिया हो, चाहे राजानुशासनकी क्रिया हो, चाहे समाजानुशासनकी क्रिया हो, चाहे मृत्युलोककी क्रिया हो, चाहे प्रेतलोककी क्रिया हो, चाहे पितृलोककी क्रिया हो, चाहे देवलोककी क्रिया हो, दूसरी ओर चाहे जड़यन्त्र आदिकी क्रिया हो, चाहे ग्रह-उपग्रहकी क्रिया हो, सबमें कर्मशृङ्खला रहना स्वतः सिद्ध है और जब कर्मशृङ्खलाकी व्यवस्था ठीक रहे, तो मङ्गल होना भी निश्चित है। १०३।

अब तीसरेका वर्णन करते हैं—

शक्तिशृङ्खला तीसरी है ॥ १०४ ॥

सूर्य्यदेवकी रश्मिके प्रभावसे पृथिवी तथा समुद्र और अन्यान्य

शक्तिशृङ्खला तृतीया ॥ १०४ ॥

सब पदार्थोंका जलांश वाष्परूपमें परिणत होकर आकाशमें खींच जाता है। प्रथम सूर्य्यकी तेजशक्तिसे वाष्प खींचकर आकाशस्थ तड़ित्‌शक्ति और ऋतुओंकी शक्तिके प्रभावसे कई रूपोंको धारण करता हुआ मेघरूपमें परिणत होता है और समयपर वारिरूपमें परिणत होकर पृथिवीको सिंचित करके नानाप्रकारसे अन्नकी उत्पत्ति करके सृष्टिकी रक्षा करना, शक्तिशृङ्खलाका ही कार्य्य है। प्राणशक्तिके विपर्य्यय होनेसे इस शक्तिमें विप्लव उपस्थित होनेके कारण अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारीभय आदि हुआ करता है। शक्तिशृंखलाके छिन्न-भिन्न होनेसे ही यह विपत्तियाँ हुआ करती हैं। ब्रह्माण्डमें जिस प्रकार ये अनुकूल और प्रतिकूल दशाएँ होती हैं, उसी प्रकार पिण्डमें भी प्राणशक्तिकी शृङ्खला ठीक रहनेसे अनुकूल दशा बनी रहती है और नर-नारी स्वास्थ्य, वीर्य्य, आरोग्य, आयु, उत्साह, अभ्युदयको प्राप्त करते रहते हैं। इसके विपरीत होनेसे मनुष्यसमाज अधःपतित और पराधीन हो जाता है और मनुष्यमें स्वास्थ्य, वीर्य्य आदिकी हानि, पवित्रता और उत्साहका नाश, पारिवारिक आनन्द, सामाजिक आनन्द और राजनैतिक आनन्दका अभाव, अल्प-मेधत्व, अल्पायुत्व, भोगशक्तिका अभाव, आरोग्यनाश, स्नेह, प्रेम, श्रद्धा, भक्तिमें विराग, साहस उद्यम और धर्मानुराग आदिमें अस्पृहा, आलस्य आदि दुर्लक्षण प्रकट हो जाते हैं। शक्तिशृंखला जब तक रहती है, तब तक सेनाव्यूहको शत्रुसेना भेद नहीं कर सकती है। शक्तिशृंखलाके द्वारा ही एक सेनादल दूसरे सेना-

दलको परास्त कर सकता है और उसके भङ्ग होनेसे पराभवको प्राप्त होता है। चाहे राज्यानुशासन हो चाहे सेनापरिचालन हो, चाहे समाजानुशासन हो और चाहे छोटा से छोटा गृहस्थानुशासन हो, शक्तिशृंखलाकी रक्षासे अभ्युदय और उसके क्षय होनेसे हानि हुआ करती है। चाहे आध्यात्मिक उन्नतिकारी साधन मार्ग हो, चाहे लौकिक उन्नतिकारी कोई साधन हो, शक्तिशृंखला परमावश्यक है।

चाहे एक मनुष्य हो, चाहे कोई मनुष्यसमाज हो, चाहे लौकिककार्य्य हो चाहे दैवकार्य्य हो और चाहे अभ्युदयका कार्य्य हो, चाहे निःश्रेयसका कार्य्य हो, पूर्वकथित त्रिविध-शृंखला-का रहस्य समझकर उनके यथायोग्य स्थानपर सुरक्षा करनेसे अभ्युदयका क्रम अवश्य बना रहता है और अन्तमें निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ॥ १०४ ॥

मुक्तिपथको शुद्ध और सरल करनेके अर्थ विरुद्धवृत्तियोंका निर्देश किया जाता है—

मूढ़ोंमें क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश होता है ॥ १०५ ॥

योगदर्शनके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु
नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।"

क्रमान्मूढेष्वविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः ॥ १०५ ॥

अनित्यको नित्य अशुचिको शुचि दुःखको सुख और अनात्माको आत्मा समझानेवालीको अविद्या कहते हैं।

"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता।"

दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिमें अभेदप्रतीति होना अस्मिता है।

"सुखानुशयी रागः।"

सुखके अनुस्मरणपूर्वक उसमें प्रवृत्ति होनेको राग कहते हैं।

"दुःखानुशयी द्वेषः।"

दुःखका अनुस्मरणपूर्वक उसमें उत्पन्न विरुद्धभावनाको द्वेष कहते हैं।

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।"

अर्थात्—जन्मजन्मान्तरोत्पन्न संस्कारधारा द्वारा ममत्वादिरूपसे अपनेपनको प्राप्त करनेवाली, अविद्वानों तथा पण्डितोंमें भी जो रहनेवाली वृत्ति है, वही अभिनिवेश है।

आत्मा अनात्मा विचारशून्य, सत् असत् विवेकसे रहित तत्त्वज्ञानविहीन व्यक्ति मूढ़ कहाता है। विषयासक्त ऐसे व्यक्तियोंमें यथाक्रम-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशोंका उदय होकर मल, विक्षेप और आवरण द्वारा उनको ग्रसित कर लेता है। आध्यात्मिक उन्नतिको लक्ष्यमें रखकर जो व्यक्ति पूर्वकथित तीनों शृङ्खलाओंका अनुसरण करते हैं, उनका यह पंचक्लेशभय क्रमशः दूर हो जाता है। पूज्यपाद महर्षि-

सूत्रकारका तात्पर्य्य यह है कि, मुमुक्षु व्यक्तिको पूर्वकथित शृंखलाओंको लक्ष्यमें रखकर उनके अभ्यासमें सिद्धि लाभ करते हुये इन असुविधाओंसे बचना उचित है। यह दर्शनशास्त्र कर्म-विज्ञानका निदर्शक है; इस कारण सब श्रेणीको कर्मावस्थामें क्रमोन्नतिकी शृंखला बाँधकर अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति करने-का सिद्धान्त निश्चय करके इस प्रकारसे विरुद्धवृत्तियोंका निर्देश किया गया है ॥ १०५ ॥

प्रसङ्गसे इन वृत्तियोंसे बचनेका क्रमवर्णन किया जाता है—

ज्ञानियोंमें क्रमशः इसके विपरीत होता है ॥ १०६ ॥

मूढ़व्यक्तिमें अविद्यासे अस्मित अस्मितासे राग और द्वेष और तदनन्तर अभिनिवेश उत्पन्न होकर उसको बन्धनदशासे विजड़ित रखते हुए आवागमनचक्रमें ये क्लेश घुमाया करते हैं। परन्तु ज्ञानी व्यक्तिमें इस क्रमके विपरीत होता है। तत्त्वज्ञानीमें प्रथम अभिनिवेश शिथिल होता है, तदनन्तर द्वेषवृत्ति शिथिल होती है, तदनन्तर राग शिथिल होता है, तदनन्तर अस्मिता दूर होकर अविद्याका लय हो जाता है। धर्मसाधनद्वारा संस्कारशुद्धि और संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होनेसे स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है, इस स्वस्वरूपकी उपलब्धिके मार्गमें सात्त्विक ज्ञानके उदयसे अभिनिवेश दूर हो जाता है। तदनन्तर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सात्त्विक धारणाद्वारा द्वेषवृत्तिका लय होता है।

तद्विपरीतं ज्ञानवत्सु ॥ १०६ ॥

तत्पश्चात् आत्मरतिके द्वारा रागवृत्ति भगवद्भावसे भावित होकर लयावस्थाको प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् तटस्थज्ञानके लयके साथ अस्मिताका लय होता है और अन्तमें ज्ञानजननी विद्याकी सहायतासे प्रकृतिका लय होनेपर अविद्याका लय हो जाता है। ये ही तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें स्वस्वरूपोपलब्धिका क्रम है ॥ १०६ ॥

प्रसङ्गसे निःश्रेयसमार्गको भयरहित करनेकेलिये कहा जाता है—

कर्मयोगमें अध्यासवश अभिनिवेश होता है ॥ १०७ ॥

निःश्रेयस प्राप्तिका मूलभूत निष्काम कर्मयोगभी पूर्वकथित भयोंसे रहित नहीं है। इस कारण कर्मयोगीको सावधान करनेके अर्थ पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार कह रहे हैं कि कर्मयोगीका अध्यास बढ़कर अभिनिवेशमें परिणत होता है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होकर जब साधक कर्मयोगका अधिकारी बन जाता है और उसमेंका वासनाजाल शिथिल हो जाता है; ऐसे उन्नत अधिकारीको भी सावधान होना चाहिये। जब तक पूर्णरूपसे मलविक्षेप और आवरण दूर न हो जाय, जब तक पूर्णरूपसे अविद्या और अस्मिताका तिरोधान होकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि न हो जाय तब तक निष्काम व्रतधारी कर्मयोगीको भी सावधान रहना चाहिये। क्योंकि अध्यास ही जीवके बन्धनका कारण है और अध्यास

अध्यासतः कर्मयोगिन्यभिनिवेशः पूर्वम् ॥ १०७ ॥

बढ़ते-बढ़ते अभिनिवेशमें परिणत हो सकता है। इस कारण अभिनिवेश उत्पन्न होकर कामनाका बीज पुनः अङ्कुरित न होने पावे, यही इस सूत्रका तात्पर्य्य है ॥ १०७ ॥

उसके बाद क्या होता है सो कहा जाता है—

तदनन्तर अन्य प्रकट होता है ॥ १०८ ॥

स्वरूप उपलब्धि होनेके पूर्वावस्थामें कर्मयोगीको अध्यासके कारण अभिनिवेश कैसे हो सकता है, सो पहले कहा गया है। इसी प्रकार योगारूढ़ होकर पूर्णसिद्ध अवस्था होनेसे पहले आरुरुक्षु अवस्थामें यदि कर्मयोगीको अभिनिवेश हो जाय, तो उससे रागद्वेष उत्पन्न होनेकी भी सम्भावना रहती है। इस गूढ़ रहस्यपूर्ण विषयको इस प्रकार समझ सकते हैं कि, स्वस्वरूप उपलब्धिकारक कर्मयोगीका निःश्रेयसप्रद मार्ग दो भागोंमें विभक्त है। उसका पूर्वांश भयसे रहित नहीं है और उत्तरांश भयरहित है। उत्तरार्द्धमें स्थिरसमाधि रहती है। उससमय एकतत्त्वकी पूर्णता द्वारा स्थिरलक्ष्य होकर सर्वक्लेशोंसे मुक्त निःश्रेयसमार्गका पथिक निरन्तर अग्रसर होता ही रहता है। परन्तु यदि ऐसा न हो तो कर्मयोगी होनेपर भी वह निःश्रेयस मार्गका पथिक अध्यासके फन्देमें पड़कर अभिनिवेशके वशमें हो जाता है और विषयमें अभिनिवेश होनेपर अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेषवृत्तिके अधीन हो जाता है ॥ १०८ ॥

ततोऽन्ये ॥ १०८ ॥

अब निर्भय अवस्थाको लक्ष्य करा रहे हैं—

निर्विकल्प समाधिस्थित निर्भय है ॥ १०६ ॥

जब कर्मयोगी कर्मयोगमें सिद्धिलाभ करके सम्पूर्णरूपसे वासनाका नाश करता हुआ एकतत्त्व और स्थिर लक्ष्यसे युक्त होकर निर्विकल्प समाधिमें पहुँच जाता है; तब वह पूर्वकथित-भयोंसे रहित हो जाता है। इससे पहले जो निःश्रेयसपथके दो विभाग किये हैं, उनमेंसे उत्तरार्द्धकी दशामें यह निर्भयता प्राप्त होती है ऐसा समझना उचित है। निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें प्रकृतिकी वैषम्यावस्था लय होकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जानेसे अविद्याके लयके साथ ही साथ अस्मिताका लय हो जाता है, इस कारण अभिनिवेश और रागद्वेषकी सम्भावना ही नहीं रहती है। सुतरां यह अवस्था भयसे रहित है इसमें सन्देह ही नहीं ॥ १०९ ॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं—

चित्त अविद्याशून्य होनेसे ॥ ११० ॥

निर्विकल्प समाधिमें तटस्थज्ञानका लय होकर स्वरूपज्ञानका उदय रहता है। उससमय सात्त्विक ज्ञान, सात्त्विकधृति और स्वरूपका पूर्णविकाश बने रहनेसे द्वैतभानका मूलोच्छेद हो जाता है। सुतरां उस समय प्रकृति अपने वैषम्यावस्थाको छोड़कर साम्यावस्थाको प्राप्त होती हुई अपने अविद्यारूपको त्याग कर देती

निर्भयोनिर्विकल्पस्थः ॥ १०६ ॥

अविद्याशून्यत्वाच्चित्तस्य ॥ ११० ॥

है। उस समय निर्विकल्प समाधिस्थित कर्मयोगकी पराकाष्ठा-प्राप्त जीवन्मुक्त महापुरुषका चित्त अविद्याशून्य हो जाता है। इस कारण उनमें पंचक्लेशोंमें से कोई क्लेश उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सबका मूल अविद्या है, जब मूल नष्ट हो जाता है तो अन्य-क्लेशोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। सुतरां उस समयकी अवस्था भयरहित हो जाती है॥ ११०॥

पूर्वकथित दार्शनिक विचारका निष्कर्ष कहा जाता है—

ज्ञानीको सावधान रहना चाहिये॥ १११॥

पूर्वकथित दार्शनिकविज्ञानके अनुसार निष्कामव्रतपरायण कर्मयोगीकी प्रथम अवस्थामें परोक्षज्ञान द्वारा और दूसरी अवस्था-में अपरोक्षज्ञान द्वारा वह ज्ञानी योगी आत्माका अनुभव करता है। इन्हीं दशाओंको किसी-किसी शास्त्रोंने परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूति नामसे अभिहित किया है। सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार अपने-अपने ज्ञानके अनुरूप अपने-अपने दार्शनिक विज्ञानकी सहायतासे प्रथम अवस्थामें ज्ञानीको जो तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह परोक्षानुभूति है। इस परोक्षानुभूतिको तीन भागोंमें दर्शनशास्त्रके आचार्य्योंने विभक्त किया है। तदनन्तर अपरोक्षानुभूतिके द्वारा तत्त्वज्ञानी जब स्वस्वरूपका अनुभव करता है, उस द्वैतभानरहित प्रत्यक्ष अनुभवको भी शास्त्रकारोंने चार

महापुरुषोंमें यथाक्रम इन चारों अव-

सावधानेन भवितव्यं ज्ञानिना॥ १११॥

स्थाओंका अनुभव होते हुये उनका अन्तःकरण ब्रह्मीभूत हो जाता है और उस समय मैं मुक्त हूँ, मैं ब्रह्म हूँ यह भान भी नहीं रहता है। क्योंकि उस समय अस्मिता और अविद्या दोनों ही लय हो जाती हैं। अपरोक्षानुभूतिके ये चारों भेद अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञानसे पूर्ण हैं। उस समय स्वस्वरूपकी उपलब्धि स्वरूपज्ञान द्वारा होती है। केवल तत्त्वज्ञानीके अन्तःकरणकी धृतिके भेदसे इन चारों अवस्थाओंकी कल्पना की गई है। अपरोक्षानुभूतिकी ये अवस्थाएँ भयरहित हैं। परन्तु परोक्षानुभूतिकी पूर्वकथित तीन अवस्थाएँ भयरहित नहीं हैं। न्याय और वैशेषिकका पदार्थवाद सम्बन्धीय अनुभवमें जो अनुमानकी सहायतासे आत्माका अनुभव होता है, योग और सांख्यकी ज्ञानभूमिके अनुसार प्रकृति और पुरुषका जो स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अनुभव है और मीमांसाकी तीनों ज्ञानभूमियोंका मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जो अद्वैतपदका अनुभव होता है, ये तीनों श्रेणीके अनुभव ही परोक्षानुभूतिके अन्तर्गत हैं। ऐसी दशामें ज्ञानीको सर्वदा सावधान रहना उचित है। क्योंकि इस परोक्षानुभूतिकी दशामें पूर्वकथित भय उत्पन्न होकर ज्ञानी पुनः विपन्न हो सकता है ॥ १११ ॥

असावधानतासे क्या होता है सो कहा जाता है—

अन्यथा व्युत्थानकी सम्भावना रहती है ॥ ११२ ॥

यदि यथार्थ रीतिसे स्वरूप उपलब्धि न हो, तो उन्नत ज्ञानी

अन्यथा व्युत्थानसम्भवः ॥ ११२ ॥

होनेपर भी मुक्तिपथके पथिकको भयप्राप्त हो सकता है । शरीर रहते समय हो अथवा शरीरत्याग करनेकी सन्धिमें हो, उसमें व्युत्थानदशाकी सम्भावना सर्वदा रहती है । शरीर रहते उसमें क्लेशोंकी उत्पत्ति हो ही सकती है और शरीरत्याग करते समय भी व्युत्थान होकर उसको व्युत्थानकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसे उदाहरण पुराणादि शास्त्रमें बहुत मिलते हैं ।

अब शंका यह हो सकती है कि ऐसे उन्नत अधिकारके योगी-की यदि ऐसी दशा हो तो उसके पुनः पतनकी सम्भावना क्या सम्भव नहीं है ? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, पंचक्लेशोंके द्वारा जन्मान्तरप्राप्ति और नानाभोगोंकी उत्पत्ति होनेपर भी ऐसे उन्नत अधिकारीका ज्ञानाधिकार नष्ट नहीं होता है और अन्तमें वह आत्मा उसी ज्ञानभूमिमें रहकर उन्नतिका मार्ग प्राप्त कर लेता है । केवल भोगजनित बाधाएँ कुछ दिनोंके लिये उसको भोगनी पड़ती हैं ॥ ११२ ॥

कर्मयोगप्रसङ्ग और निःश्रेयसपथको सरल करनेके लिये कहा जाता है—

कालके प्रतिकूल चलनेपर तापग्रस्त होना पड़ता है ॥ ११३ ॥

अनादि अनन्त महाकालमें जीवके समष्टि कर्मराशिके सम्बन्ध-से विशेष विशेष कालकी उत्पत्ति कैसे होती है, इसका विस्तारित वर्णन पहले आचुका है । जब समष्टि कर्मराशिके प्रभावसे ही

तापोऽन्यथात्वे कालस्य ॥ ११३ ॥

सत्य, त्रेता, द्वापर, आदि युगोंकी उत्पत्ति और प्रत्येकमें उनकी अन्तर्दशाकी उत्पत्ति हुआ करती है, तो यदि एक व्यष्टिकर्मका अधिकारी जीव उस समष्टि-कर्मवेगके विरुद्ध चलना चाहे तो वह अवश्य ही तापग्रस्त होगा इसमें सन्देह ही नहीं। उसके तापग्रस्त होनेके कई कारण हैं। प्रथम तो कालके प्रभावसे उस समयके प्रायः सभी मनुष्य उसके विरोधी होंगे; क्योंकि कालका प्रभाव उस समयके मनुष्यों पर अवश्यही पड़ेगा। अन्तर्जगत्के देवासुर-संग्रामके विचारसे भी दैवी सम्पत्तिका अधिकारी होने पर भी उसके आसुरी प्रकोप अधिक सहना होगा। अन्तर्जगत्के अधिष्ठाता देवगण भी उसको कठिनतासे सहायता दे सकेंगे अथवा कभी-कभी नहीं भी दे सकेंगे। विशेषतः व्यष्टि कर्म समष्टिकर्मका बराबरी कदापि नहीं कर सकता है। इस प्रकारके अनेक कारण हैं। जिस प्रकार नदीस्रोतके प्रतिकूल और झंझावातके प्रतिकूल नौकाको लेजानेमें नाविक तापग्रस्त होता है, उसी प्रकार कालके विरुद्ध चलनेवाला व्यक्ति यदि कर्मयोगीभी हो अथवा जीवन्मुक्त महापुरुष भी हो तो, उसको भी तापग्रस्त होना सम्भव है। यदि जिज्ञासुको शंका हो कि ऐसी दशामें क्या कालके विरुद्ध सत्कार्यका अनुष्ठान अथवा अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्तिका पुरुषार्थ असम्भव है? या करना उचित नहीं है? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें कहा जा सकता है कि सूत्रकार महर्षिका यह तात्पर्य्य नहीं है कि धर्मात्मा सज्जन अथवा मुमुक्षुगण अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये पुरुषार्थ न करें। परन्तु पूज्यपादका तात्पर्य यह है कि अभ्युदय और निःश्रेयस मार्गके पथिक दृढ़व्रत होकर अपने गन्तव्यपथमें अग्रसर हों।

और वे सर्वदा स्मरण रक्खें कि कालके प्रतिकूल चलनेसे अवश्य तापग्रस्त होना पड़ता है। उनके उत्साहवर्द्धनार्थ ही इस सूत्रकी चरितार्थता है ॥ ११३ ॥

प्रसङ्गसे अब विशेष अधिकारियोंके लिये कहा जाता है—

कालकी प्रतिकूलतामें जगत् चलानेकी चेष्टा करने पर त्रिविध ताप उत्पन्न हो त्रिविध बाधा होती है ॥११४॥

उन्नत कर्मयोगिगण, गुरुगण, आचार्य्यगण अथवा इसी प्रकारके विभूति नेतृवृन्दोंके सम्बन्धसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। चाहे सामाजिक नेतृवृन्द हों चाहे धार्मिक नेतृवृन्द हों और चाहे आध्यात्मिक नेतृवृन्द हों, उनको सदा स्मरण रखना उचित है कि, काल-प्रवाहके विरुद्ध यदि वे प्रजाको चलाना चाहें, तो उनको त्रिविधतापकी उत्पत्ति होना और त्रिविध बाधाकी उत्पत्ति होना निश्चित है। लोककल्याणार्थ जो ऐसे शुभ कार्य्यमें प्रवृत्त होंगे, वे अवश्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप प्राप्त करेंगे। यदि वे उन्नत जीवन्मुक्त महात्मा भी होंगे, यद्यपि वे विचलित न हों तौभी उनको ये क्लेश क्षणिक अवश्य प्राप्त होंगे और उनको शरीरकी बाधा, दैवीबाधा और मानसिकबाधा भी प्राप्त करनी होगी। अतः विरुद्धकालमें जगत्-मंगलकर कार्य्यरत महापुरुषोंको सदा दृढ़व्रत होकर प्रजाको अभ्युदय और निःश्रेयसके मार्गमें अग्रसर करना उचित है ॥११४॥

तत्र विश्ववाहने तापत्रयात् त्रिविधा बाधा ॥ ११४ ॥

प्रकृतविज्ञानको और भी स्पष्टकर रहे हैं—

समष्टिके प्रतिकूल होनेसे ॥११५॥

जिस प्रकार पिण्डके साथ ब्रम्हाण्डका व्यष्टि और समष्टि सम्बन्ध है, उसी प्रकार पिण्डसे सम्बन्धयुक्त व्यष्टिकर्म और ब्रम्हाण्डसे सम्बन्धयुक्त समष्टिकर्मको समझना उचित है। चित्ता-काश, चिदाकाश और महाकाश इन तीनोंके साथ संस्कारराशिका कैसा सम्बन्ध है, इसका विस्तारित वर्णन पहले हो चुका है। जिस प्रकार पिण्डमें व्यष्टि-प्रारब्ध अपने बीजावस्थासे अंकुरित होकर शुभाशुभभोग उत्पन्न करता है, उसी प्रकार समष्टिप्रारब्धको उत्पन्न करता है। जिस प्रकार प्रारब्धके भोगके विरुद्ध दूसरे प्रकारका भोग उत्पन्न करना प्रबल तपःसाध्य है, क्योंकि असाधारण धर्मके द्वारा ही किस प्रकारसे असाधारणशक्तिका विकाश होता है, सो भी पहले वर्णन हो चुका है, ठीक उसी प्रकार समष्टि-प्रारब्धके विरुद्ध कार्य्य होना भी प्रायः असम्भव है। इस सूत्रका तात्पर्य्य यह है कि समष्टि-कर्मके प्रतिकूल होनेसे और कालके प्रतिकूल होनेसे त्रिविध बाधाएँ उत्पन्न होंगी और वह पुरुषार्थ प्रायः साधारणरूपसे असम्भव होगा ॥ ११५ ॥

ऐसी दशामें कौन समर्थ होता है सो कहा जाता है—

त्रिविध अधिकारयुक्त इसकेलिये समर्थ होता है ॥११६॥

समष्टिप्रतिगतेः ॥ ११५ ॥

तत्रालमधिकारत्रयोपेतः ॥ ११६ ॥

जैसे असाधारणधर्मका अधिकार असाधारण शक्तिसम्पन्न व्यक्तिमें ही हो सकता है, जैसा एक जीवनमें ही क्षत्रियसे ब्राह्मण होना, यह महर्षि विश्वामित्रके असाधारणशक्तिसे ही सम्बन्ध रखता है, साधारण मनुष्य इस अधिकारको नहीं पा सकता है; ठीक उसी प्रकार कालके विरुद्ध और समष्टि कर्मके विरुद्ध पुरुषार्थ करके सफलकाम होना केवल त्रिविध अधिकारयुक्त महापुरुषके लिये सम्भव है। जिस महदात्मा अथवा ईशकोटिके जीवन्मुक्तमें अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूत शक्तियोंका विकास हो, वे ही महापुरुष समष्टिकर्मके विरुद्ध जगतको लेजानेमें समर्थ होते हैं अन्य-व्यक्ति नहीं हो सकते हैं। त्रिविध बाधाको अतिक्रम करनेके लिये ये तीनों शक्तियां कार्य्यकारिणी हुआ करती हैं। यद्यपि दैवीमीमांसादर्शनमें अवतारविज्ञान विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुआ है तथापि इस सत्रोक्त विज्ञानद्वारा भी अवतारतत्त्वका रहस्य प्रकाशित होता है। भगवत् अवतार तथा ऋषि और देवताओं-का अवतार ऐसे ही शक्तियोंसे युक्त हो समष्टिकर्मके विरुद्ध होकर संसारका कल्याण साधन करते हैं। इस प्रसंगमें इस श्रेणीकी शंकाएं होसकती हैं कि क्या जगत्का कोई विशेष उपकार होना समष्टि कर्मके अधीन नहीं है? यदि है तो वह समष्टिकर्मके अधीन है, पुनः उस कार्य्यकेलिये त्रिविध शक्तिसे युक्त महापुरुषके आविर्भावकी क्या आवश्यकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि पूर्वापर सम्बन्ध बिना कोई क्रिया फलीभूत नहीं होती इसी कारण कहा गया है कि जिस प्रकार दोनों पंखके

बिना एक पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दोनोको साथ लिए बिना चाहे समष्टिकर्म हो चाहे व्यष्टिकर्म हो कोई भी फलीभूत नहीं होसकता है। दूसरी ओर समष्टिकर्म और व्यष्टि कर्म दोनों एक दूसरेसे सम्बन्धित होकर गुम्फित हैं। जिस प्रकार समष्टिकर्मके वेगसे काल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस कालमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य भी वैसे ही प्रारब्धशाली होते हैं, कि उस कालमें उत्पन्न हो सके। अतः किसी महापुरुषका किसी कालमें प्रकट होना समष्टि और व्यष्टि दोनो कर्मोंके साथ न्यूनाधिक रूपसे सम्बन्ध रखता है। केवल भेद इतना ही है कि, जो व्यक्ति कालके विरुद्ध मनुष्यसमाजको लेजानेमे सफलकाम होगा, वह साधारण मनुष्य नहीं है। वस्तुतः पूर्वापर सम्बन्धयुक्त संस्कारके बिना कोई कार्य्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस कारण वह असाधारण शक्तिसम्पन्न महापुरुष जो कुछ कार्य्य करेगें, उसमे दैवी प्रेरणाभी कारण हो सकती है, समष्टिकर्म भी कारण हो सकता है। ऐसा होने पर भी त्रिविध बाधाके सहनेकी शक्ति भी अवश्य होनी चाहिये। साधारण मनुष्य त्रिविध बाधाकी तो बात ही क्या है एक प्रकारकी बाधा होनेसे ही लक्ष्यच्युत हो जाता है। परन्तु असाधारणशक्तिसम्पन्न व्यक्ति चाहे कैसी ही बाधा क्यों न हो, वे कदापि लक्ष्यच्युत नहीं होते यही उनमें विशेषता है। अब जिज्ञासुओंको यह शंका हो सकती है कि, काल और समष्टिकर्म यदि एक सम्बन्धसे युक्त हैं और समष्टिकर्मसे सम्बन्धयुक्त यदि महापुरुष रहते हैं तो उनके पुरुषार्थकी गति कालके विरुद्ध कैसे हो सकती है? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान

यह है कि समष्टि कर्मके साधारण वेगसे कालकी उत्पत्ति होती है। और समष्टिकर्मके विशेष विशेष वेगसे इस श्रेणीके महापुरुषोंका सम्बन्ध रहता है। दूसरी ओर विशेष समष्टिकर्मके अनुसार इन महदात्माओंके भेद भी हो सकते हैं। यथा भगवान्‌का पूर्णावतार, अंशावतार, आवेशावतार आदि। देवताओंके और ऋषियोंके पूर्णावतार, अंशावतार आवेशावतार आदि। ईश कोटिके जीवन्मुक्त, शक्तिसम्पन्न गुरु, आचार्य्य आदि ॥ ११६ ॥

प्रसङ्गसे लक्षण कह रहे हैं—

वह ज्ञानसिद्धि और बलात्मक है ॥ ११७ ॥

त्रिविध शक्तिके विज्ञानको लक्ष्य करानेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। त्रिविध शक्तिको इस प्रकारसे समझ सकते हैं यथा ज्ञानशक्ति अर्थात् तत्त्वज्ञानादि, सिद्धि अर्थात् दैवीशक्ति आदि और बल अर्थात् स्वास्थ्य वीर्य्य आदि। प्रथम ऋषिकृपाजन्य है, द्वितीय देवकृपाजन्य है और तृतीय पितृकृपाजन्य है। भगवत् अवतारमें भी इन शक्तियोंकी विशेषता रहती है और अन्य अधिकारके मनुष्योंमें इनकी यथाक्रम असम्पूर्णता रहती है ॥ ११७ ॥

शक्ति सम्बन्धसे अवतारका महत्त्व कहते हैं—

इस कारण अवतारका महत्त्व है ॥ ११८ ॥

त्रिविध शक्तिके विशेष-विकाशसे ही अवतारका महत्त्व वेद-

ज्ञानसिद्धिबलात्मकं तत् ॥ ११७ ॥

महत्त्वमतोऽवतारस्य ॥ ११८ ॥

और शास्त्रोंमें प्रतिपादित हुआ है। मनुष्यमें और विभूतिमें जिस प्रकार भेद है, अवतारमें और विभूतिमे उसी प्रकार भेद है। उसी प्रकार ऋषि अवतार, पितृ अवतार और देवताओंके अवतारमें भेद है। इसी विशेषत्वके कारण ही अवतारका महत्त्व सर्वशास्त्र-सम्मत है। शंका-समाधानकेलिये कहा जा सकता है कि जहाँ मनुष्यशक्ति अथवा देवशक्ति कार्य्य नहीं कर सकती, वहीं सृष्टिके रक्षक सगुण ब्रह्मरूपी भगवान् विष्णुके अवतार प्रकट होकर सृष्टिकी रक्षामें सफलकाम होते हैं। मध्यम कर्म-वेगको रोकनेकेलिये वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र, यम आदि देवताओं-के अवतार कार्य्यकारी होते हैं और साधारण कर्मवेगको दूर करनेकेलिये विभूतिगण ही यथेष्ट समझे जाते हैं। ज्ञानविकाशके सम्बन्धसे ऋषियोंके अवतार भगवत्कार्य्य करते हैं। अवतारोंकी विशेषता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ११८ ॥

शक्तिप्रसंगसे भगवदवतारका विज्ञान कहा जाता है—

भगवदवतार त्रिविध पूर्णतासे होता है ॥ ११९ ॥

श्रीभगवान्मे त्रिविध भावोंकी पूर्णता विद्यमान है। जिस प्रकार स्वस्वरूपमे सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावोंकी एका-धारमे पूर्णता रहती है, उसी प्रकार सगुण ब्रह्मरूपी श्रीभगवान्-में उसीका पूर्णविकास विद्यमान है। यही कारण है कि उनकी प्रकृतिकी व्यक्तावस्थामें वे ब्रह्म, ईश और विराटरूपसे अपने तीनों

भगवतोऽसौ त्रिभिः पूर्णः ॥ ११९ ॥

स्वतन्त्र-स्वतन्त्र भावोंमें भक्तोंको दर्शन देते हैं। सुतरां अधर्मका नाश और धर्मकी रक्षाके निमित्त जब श्रीभगवान्‌का अवतार इस जगत्‌में आविर्भूत होते हैं तो उनमें त्रिविधशक्तिका पूर्ण विकाश होना स्वतः सिद्ध है। भगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रमें अध्यात्मशक्ति, अधिदैवशक्ति और अधिभूतशक्ति, इस प्रकारसे तीनों शक्तियोंके पूर्ण प्राकट्यका लक्षण उनके अलौकिक चरित्रसे दिखाई देता है। अंशावतारमें इसका तारतम्य होता है किन्तु ये तीनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं॥ ११९॥

अन्यके विषयमें कहा जाता है—

अन्यथा देवता और ऋषिका अवतार होता है॥१२०॥

यद्यपि श्रीभगवान्‌के दैवकार्य्य सम्पादनकेलिये ही दैवजगत्‌के संचालनके निमित्त तीन श्रेणीकी देवता हैं। यथा—ज्ञान जगत्‌के संचालनकेलिये ऋषि, कर्मजगत्‌के संचालनकेलिये देवता और स्थूलजगत्‌के संचालनकेलिये पितृ हैं। परन्तु दैवीमीमांसादर्शनद्वारा यह प्रमाणित है कि पितृगणोंका अवतार स्वतन्त्र नहीं होता; आवश्यक होनेपर माता-पिताके द्वारा ही अवतारकार्य सुप्रसिद्ध होता है। किन्तु नित्यऋषि और नित्यदेवताओंके अवतार यथा आवश्यक जगतमें प्रकट हुआ करते हैं। भगवत्‌-अवतार और ऋषि तथा देवताओंके अवतारोंमें भेद इतना ही है कि, भगवत् अवतारमें त्रिविधशक्तियोंका विकाश अवश्य ही

देवर्ष्योरन्यथाभावे॥ १२०॥

रहता है और इन अवतारोंमें ऐसा नहीं रहता है। विशेषत्वके कारण ऋषियोंके अवतारमें अध्यात्मशक्ति और देवताओंके अवतारमें अधिदैवशक्तिका विकाश तो अवश्य ही रहता है। कहीं-कहीं दो शक्तियोंका विकाश भी देखनेमें आता है ॥ १२० ॥

अन्यथा कैसे कार्य्यसिद्धि होती है सो कहा जाता है—

या विभूति ॥१२१॥

दैवीमीमांसादर्शनका यह सिद्धान्त है कि शक्तिकी कला षोडश-भागमें विभक्त है। एकसे लेकर पाँच तक जीवश्रेणी समझी जाती है। छः से आठ तक विभूति समझी जाती है और नौ से सोलह कला तक रहनेसे अवतार श्रेणी समझी जाती है। जिनमें तीनों श्रेणीकी कलाएँ सोलह सोलह हों, वे पूर्ण अवतार समझे जाते हैं। जिस समय अवतारके आविर्भावकी आवश्यकता नहीं होती है, उस समय विभूतिद्वारा कार्य्यसिद्ध किया जाता है ॥ १२१ ॥

प्रसंगसे अवतारविज्ञानको कहकर अब प्रकृतविषयको पुनः कहते हैं—

आतिवाहिक गति द्विविध होती है ॥ १२२ ॥

अभ्युदय और निःश्रेयस प्रसंगसे जन्मान्तरकी गतिको जानना बहुत आवश्यक है। लोकान्तरमें वहन करनेवाली गतिको आति-

---

विभूतिर्वा ॥ १२१ ॥

द्विविधातिवाहिकगतिः ॥ १२२ ॥

वाहिक गति कहते हैं और उस समय जो देह मिलता है, उसको आतिवाहिक देह कहते हैं। धर्मके जैसे दो फल, यथा अभ्युदय और निःश्रेयस, उसी प्रकार गति भी दो हैं। एक अभ्युदय-का कारण होती है और दूसरी नियमितरूपसे निःश्रेयस प्राप्त कराती है ॥ १२२ ॥

अब पहली गतिका वर्णन कर रहे हैं—

शुक्लागति ऊर्ध्वपरा होती है ॥ १२३ ॥

इस गतिके साथ ही साथ क्रमशः अवाध होकर आत्माका विकाश और ज्ञानका प्रकाश होता रहता है और इसमें दैवी-सहायता स्थिररूपसे प्राप्त होती रहती है। अतः आत्मज्ञान-प्रकाशिका होनेसे इसका नाम शुक्लगति है। इसके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षएमासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः ॥

अर्थात्—अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें शरीरत्याग करनेवाले ब्रह्मविद्गण ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि शुक्लगतिमें यद्यपि इन कालोंको आश्रय करके जो शरीरत्याग करते हैं, उनकी अवश्य सद्गति होती है अथवा असद्गतिवालोंको भी इन कालोंमें शरीरत्याग करनेसे

ऊर्ध्वपरा शुक्ला ॥ १२३ ॥

सहायता मिलती है। परन्तु सूक्ष्मजगत्‌का रहस्य कुछ और ही है। ये सब काल प्रकाशमय हैं। इनके अभिमानी देवता-समूह यथाक्रम जीवको सहायता करते हुये सूर्य्यमण्डल तक पहुँचा देते हैं। क्योंकि सूर्य्यमण्डल तक पहुँचनेमें काल और क्रमकी अपेक्षा रहती है। इन देवताओंकी सहायता इस कारण बहुत हितकारी होती है ॥ १२३ ॥

उसके भेद कहते हैं—

ध्यान त्रिविध होनेके कारण वह त्रिविध है ॥ १२४ ॥

श्रीभगवान्‌को ज्ञानी भक्तगण तीन रूपमें ध्यान करते हैं। उनका अध्यात्म ब्रह्म-ध्यान कहाता है, अधिदैव ईश-ध्यान कहाता है और अधिभूत विराट्-ध्यान कहाता है। इस त्रिविध ध्यान-शैलीके अनुसार शुक्लगतिके भी त्रिविध भेद कर्मगतिवेत्ता धर्माचार्य्योंने वर्णन किये हैं। इन तीनों ध्यानोंका विस्तारित वर्णन वेदके उपासनाकाण्डके दैवीमीमांसाशास्त्रमें भलीभाँति विवृत है। यद्यपि ये तीनों ध्यान एक ही हैं परन्तु तीनोंकी भूमिमें कुछ भेद है उस अलौकिक भेदके त्रैविध्यके अनुसार शुक्लगतिके ये तीन भेद हैं। इनमें स्थूलशरीरके अन्तमें एक अवस्थामें सिद्ध-कोटिमें पहुँचकर जीव महात्मापद वाच्य होता है और देवशरीर-धारण करके लोककल्याणमें रत रहता है और वासनापरिपाक-होते ही ब्रह्मीभूत हो जाता है। दूसरी गति सारूप्य आदि मुक्तिकी

सा त्रिविधा ध्यानत्रैविध्यात् ॥ १२४ ॥

मानी गई है। इस दशामें भक्त विष्णुसारूप्य, शिवसारूप्य आदि दशाओंको प्राप्त करके इष्टके साथ ब्रह्मीभूत होता है। तीसरी दशामें तुरत ही सप्तमलोकमें पहुँचकर सूर्य्यमण्डलभेदन करता हुआ ब्रह्मीभूत होता है। इन तीनों गतियोंका वर्णन वेद और पुराणोंमें पाया जाता है। सिद्ध महात्माओंका वर्णन योगदर्शनसे स्पष्टतया सिद्ध होता है। सारूप्य, सामीप्य आदि मुक्तियोंका वर्णन भक्तिशास्त्र तथा दैवीमीमांसादर्शनसे सिद्ध है और तीसरी अवस्थाका विस्तारित रहस्य उपनिषदोंसे सिद्ध है। शंकासमाधानकेलिये कहा जाता है कि त्रिविध ध्यानसे यही तात्पर्य्य है कि इन तीनोंका अधिकारी पृथक्-पृथक् होता है। प्रथममें जगत् ही ब्रह्म है इस ज्ञानसे जगत् कल्याण प्रवृत्ति बनी रहती है। दूसरेमें ब्रह्म ही जगत् है, इस ज्ञानके अनुसार उपासना-प्रवृत्तिकी छाया बनी रहती और तीसरेमें 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानके अनुसार ब्रह्मसद्भावकी दशा पूर्ण रहती है। वस्तुतः संस्कारभेदसे इन तीनों अवस्थाओंका भेद है। फलसे तीनों एक अवस्था है इसमें सन्देह नहीं ॥ १२४ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

सिद्ध पुरुषोंकी यह है ॥ १२५ ॥

काल और क्रमका अवश्य इन तीनोंमें भेद है, परन्तु ये तीनों गति अबाधरूपसे मुक्ति उत्पादक हैं। इन तीनोंमेंसे किसी गतिमें

सिद्धानामेषा ॥ १२५ ॥

पड़ते ही जीव शिव हो जाता है। वह सिद्धकोटिमें पहुँचकर नियमपूर्वक अग्रसर होता हुआ ब्रह्मीभूत हो जाता है। इन तीनोंमेंसे किसी गतिमें पहुँचते ही जीवका पुनः अधःपतन नहीं होता और उसका आवागमनचक्रभेद हो जाता है। ये गति सिद्धोंकी है इसमें सन्देह नहीं ॥ १२५ ॥

और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

इसके द्वारा क्रमशः मुक्ति होती है ॥ १२६ ॥

इन तीनोंमें काल और क्रमका अवश्य भेद है, परन्तु ये तीनों ही गति अबाधरूपसे मुक्ति प्रदायिनी है। पहली अवस्थामें जगत्-हितकर कार्य्य करते हुये अन्तर्जगत्वासी सिद्ध महात्मा दैवराज्य-में अग्रसर होते रहते हैं। दूसरी अवस्थामें सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्तिके आनन्दको भोग करते हुये अग्रसर होते हैं और तीसरी दशामें सप्तमलोक तक पहुँचकर अग्रसर होते हैं। परन्तु तीनों दशाओंमें पतनकी सम्भावना नहीं रहती है और पूर्वकथित शुक्लगतिकी दैवी सहायता मिलती रहती है। इन तीनों गतियोंके कालमें न्यूनाधिकका सम्बन्ध अवश्य रहता है। परन्तु सबमें कैवल्याधिगम निश्चय रहता है ॥ १२६ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

सप्तममें सूर्य्यमण्डल भेदन होता है ॥ १२७ ॥

जैवकर्मके अनुसार मुक्तिप्राप्तिके उपयोगी जिस गतिका पहले

मुक्तिरेतया क्रमशः ॥ १२६ ॥

सप्तमे सूर्य्यमण्डलभेदनम् ॥ १२७ ॥

वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्भाव और उसकी अवान्तर-दशाको यद्यपि तीन भागोंमें विभक्त किया गया है, परन्तु जैवकर्म-को आश्रय करके जो गति अग्रसर होती है, उसके अन्तमें सप्तम ऊर्ध्वलोकमें पहुँचना होता है और तदनन्तर सूर्य्यमण्डलभेदन करके ब्रह्मीभूत होना पड़ता है। यद्यपि जैवकर्म और ऐशकर्म ये दोनों परस्पर सहायक होनेके कारण कभी-कभी आपसमें मिल जाया करते हैं। उदाहरणरूपसे कहा जा सकता है कि योग-साधनद्वारा एक व्यक्ति सिद्ध बनकर महात्मा पदवीको प्राप्त हुआ। पुनः कर्मकी विचित्रताके कारण वह सिद्धकोटिसे दैवकोटिमें भी पहुँच सकता है। तब उसकी ऊर्ध्वगति ऐशकर्माधीन हो जाती है। इस प्रकारकी यदि कर्मशैलीका परिवर्त्तन न हो तो सप्तमलोकमें पहुँचकर सूर्य्यमण्डलभेदन करनेकी आवश्यकता रहती है।

सप्तमलोक और सूर्य्यमण्डलके विषयमें जिज्ञासुओंको अनेक शंकाएँ हो सकती हैं उनका समाधान होना उचित है। चतुर्दश-भुवनोंका विस्तारित विवरण दैवीमीमांसादर्शनमें पाया जाता है। चतुर्दशभुवनोंसे ऊर्ध्व-सप्तभुवनका जो सप्तमभुवन है, उसकी महिमा सर्वोपरि वेद और शास्त्रोंमें गायी गई है। ब्रह्माजीकी रात्रिमें कुछ लोक नष्ट हो जाते हैं; विष्णुजीकी रात्रिमें उससे भी अधिक ऊर्ध्वलोक नष्ट हो जाते हैं परन्तु सप्तम ऊर्ध्वलोक शिवजी-की रात्रिमें भी अपने स्वरूपमें जीवित रहता है। इसीसे उस लोककी ज्ञान-गरिमा और आध्यात्मिक पूर्णताका परिचय मिल

सकता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्तिके निद्रित होते समय जो लोक जीवित रहता है और जिस लोकके वासी महात्मागण उस समय भी निद्रित नहीं होते, आत्मज्ञानके विचारसे वह लोक पूर्ण है इसमें सन्देह ही क्या है। और शुक्लगतिको प्राप्त करनेवाले सिद्धपुरुष उसी उन्नततमलोकमें होकर तब ब्रह्मपदमें विलीन होंगे यह निःसन्देह है। सूर्य्यलोक एक स्थूल ब्रह्माण्डका केन्द्र है, सूर्य्यशक्ति ही प्रतिब्रह्माण्डकी रक्षा करती है और उसका तम-अन्धकार दूर करती है। अधिभूत आदि त्रिविध-भेदके अनुसार सूर्य्यलोक, सूर्य्यदेव और सूर्य्यमण्डल ये तीन भेद स्वभावसिद्ध है। स्थूल अन्धकार दूर करनेकेलिये जिस प्रकार एकमात्र प्रकाश-पूर्णाधाररूपी सूर्य्यलोक अवलम्बनीय है, जिस प्रकार मलिन कर्मको अपसारित करके उज्ज्वल कर्मोंके फलद्वारा आत्मज्ञान-प्रकाशकरनेमें श्रीसूर्य्यदेव एक ही है, उसी प्रकार कारणशरीर तकको भस्म करके स्वस्वरूपमें जीवात्माको लय कर देनेकेलिये सूर्य्यमण्डल एकमात्र सहायक है। तमके नाश और प्रकाशके आविर्भाव करनेकेलिये अपने अपने ढंगपर सूर्य्यलोक, सूर्य्यदेव और सूर्य्यमण्डल सहायक हैं। परन्तु अज्ञानप्रसविनी अविद्याके प्रभावको पूर्णरूपसे दूर करने और अस्मिता-उत्पादक कारणशरीरको भस्मीभूत करनेमें सूर्य्यमण्डल ही समर्थ है। सूर्य्यमण्डलकी सहायतासे ही तृतीय ज्ञाननेत्रद्वारा मूल-पुरुष और मूल-प्रकृतिका स्वतन्त्र स्वतन्त्र दर्शन तत्त्वज्ञानी महापुरुषको हुआ करता है। समष्टि महत्तत्त्वके आधारमें अनन्त-

कोटि सूर्य्यतेजके उदाहरणसे वेदोंमें वर्णित आत्माके पूर्ण-प्रतिबिम्बसे प्रतिबिम्बित मण्डलको सूर्य्यमण्डल कहते हैं। उसको भेदन करके तब जीव शिवत्वको प्राप्त करता है। सप्तमलोकमें पहुँचनेपर मलका और विक्षेपका पूर्णरीत्या नाश तो स्वतः ही हो जाता है, तदनन्तर सूर्य्यमण्डलभेदन होते समय आवरणका पूर्णरीत्या नाश होकर जीव स्वस्वरूपमें, समुद्रमें आकाशपतित वारिविन्दुके समान लय हो जाता है। यही सप्तमलोकमें सूर्य्यमण्डलभेदनका मन, वचन और बुद्धिसे अतीत रहस्य है ॥ १२७ ॥

अब दूसरी गतिका वर्णन कर रहे हैं—

कृष्णा गति भोगमुख्या है ॥ १२८ ॥

पहली गति जिस प्रकार मुक्ति-प्रदायिनी है, दूसरी गति उसी प्रकार सुख-दुःखमय भोगप्रदायिनी है। मुक्तिमें बाधा देनेवाली और सुखदुःखभोगको उत्पन्न करनेवाली होनेसे इसको कृष्णा गति कहते हैं। श्रीगीतोपनिषद्‌में ऐसा कहा है—

> धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
> तत्र चाद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन छः महीनोंमें और चन्द्र-ज्योतिमें शरीरत्याग करनेसे योगीकी पुनरावृत्ति होती है ॥ १२८ ॥

भोगमुख्या कृष्णा ॥ १२८ ॥

उसके भेद कहते हैं—

धारणात्रैविध्यसे वह त्रिविध है ॥ १२९ ॥

उन्नत ज्ञानसम्भूत त्रिविध भगवद्ध्यानके विचारसे जैसी मुक्तिप्रदायिनी शुक्लगतिके भेद पहले वर्णन हो चुके हैं, उसी प्रकार अज्ञानसम्भूतशरीर आत्मवादसे सम्बन्धयुक्त बन्धन-दशा प्राप्तकरानेवाली कृष्णगति अन्तःकरणकी त्रिविध मलिन धारणाद्वारा तीन प्रकारकी होती है। एक स्थूलशरीरमयी धारणा, दूसरी सूक्ष्मसंस्कारमयी धारणा और तीसरी धारणाका अभाव अर्थात् चित्तकी मूर्छावती धृति, इन्हीं तीनों धृतियोंके अनुसार तीन श्रेणी बाँधी गई है, जिनका विवरण अगले सूत्रोंमें आवेगा ॥ १२९ ॥

तीनोंमेंसे एकका लक्षण कह रहे हैं—

तृण जलौकाके समान ॥ १३० ॥

तृण जलौका अर्थात् जोंक अपने शरीरके दोनों परिधियोंसे चलती है और शरीरके एक परिधिको तब उठाती है, जब दूसरी परिधि जमीन या वृक्षपर जमा लेती है। ठीक उसी उदाहरणके अनुसार इस गतिको समझना उचित है। इस गतिमें पड़ा हुआ जीव स्थूलशरीरसे निकलते समय पहले एक दूसरे स्थूलशरीरको पकड़ लेता है, तब पहले स्थूलशरीरसे निकलता है। तात्पर्य्य

त्रैविध्यमस्या धारणात्रैविध्यात् ॥ १२९ ॥

तृणजलौकावत् ॥ १३० ॥

यह है कि आवागमनचक्रमें पतित जिस जीवको अपने कर्मानुसार यह गति मिलती है, वह मनुष्य अपने स्थूलशरीरको त्याग करते समय मातृगर्भमें उत्पन्न दूसरे स्थूलशरीरको पकड़कर तब पहले स्थूलशरीरसे निकलता है। यह गति जीवको कभी कभी प्राप्त होती है सदा नहीं। शंका-समाधानकेलिये कहा जा रहा है कि, दूसरे शरीरका लक्ष्य उसको अन्त समय पहले शरीरमें ही हो जाता है। इसीको दूसरा शरीर पकड़ना कह सकते हैं। अन्य-गतियोंमें इस प्रकारका भविष्यत् ज्ञान और लक्ष्य जीवको नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि इस गतिमें कर्मदेह उसको तुरत ही मिल जाता है। यह गति सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण इसका प्रथम वर्णन किया गया है॥ १३०॥

अब दूसरी श्रेणीका वर्णन कर रहे हैं—

स्वर्ग नरक परा॥ १३१॥

इस गतिकी दूसरी अवस्था स्वर्ग और नरकपरा है। उसमें जीवको स्थूलशरीर छोड़ते ही स्वर्ग या नरकमें जाना पड़ता है। यदि पुण्य अधिक हो तो प्रथम नरकमें जाना होता है और यदि पाप अधिक हो तो प्रथम स्वर्गमें जाना होता है और तदनन्तर नरकमें जाना होता है। स्वर्गकेलिये देवदूत और नरककेलिये यमदूत उसको साथ ले जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि केवल पुण्य हो तो स्वर्गमें ही जाता है और केवल पाप

स्वर्निरयपरा॥ १३१॥

हो तो नरकमें ही जाता है। परन्तु उसका आवागमनचक्र वर्त्त-मान रहता है ॥ १३१ ॥

तीसरी श्रेणीका वर्णन कर रहे हैं—

मूर्च्छा देनेवाली ॥ १३२ ॥

मूर्छा देनेवाली तीसरी श्रेणीकी होती है। वह प्रेतलोकको पहुँचाती है। प्रेतलोकका विज्ञान पहले विस्तारितरूपसे कहा गया है। मनुष्यमें यह गति तब उत्पन्न होती है, जब स्थूलशरीरत्याग करते समय उसके सूक्ष्मशरीरको मूर्च्छा आ जाय। मूर्च्छा दो प्रकारसे आती है या स्थूलशरीरके प्रबल धक्केसे या सूक्ष्मशरीरके प्रबल धक्केसे। स्थूलशरीरमें यदि बड़ी चोट लगे और उससे मृत्यु हो जैसे कोई मार डाले या गिरकर मरे अथवा आत्महत्या करे। यही सब स्थूलशरीरके धक्के-के उदाहरण हैं। घोर मोह, घोर काम, घोर क्रोध, घोर लोभ आदि सूक्ष्मशरीरके धक्केके उदाहरण हैं। इस प्रकारके असाधारण धक्केसे स्थूलशरीरत्याग करते समय यदि जीव मूर्च्छित हो जाता है, तो उसको यह गति प्राप्त होती है। इसी अवस्थासे मुक्त करनेकेलिये प्रेतश्राद्धादि किया जाता है। यमदूत और वेतालादिके द्वारा जीव इस गतिमें ले जाया जाता है ॥ १३२ ॥

मूर्च्छावती ॥ १३२ ॥

विज्ञानको और स्पष्ट कर रहे हैं—

इसके द्वारा पुनरावृत्ति होती है ॥ १३३ ॥

पूर्वकथित शुक्लगतिकी तीनों अवस्थाओंमें पुनरावृत्ति नहीं होती और कृष्णगतिकी तीनों अवस्थाओंमें पुनरावृत्ति होना निश्चित है। पूर्वकथित शुक्ला गतिकी किसी किसी अवस्थामें किसी अलौकिक कार्य्यसिद्धिकेलिये सिद्धोंको कभी कदाचित् मृत्युलोकमें आना पड़े, तो उसमें उनकी मुक्तिके क्रममें कदापि बाधा नहीं होती है। वह उनका जन्म, कर्म अलौकिक ही होता है। और उनका आत्मज्ञान लोप नहीं होता है। वह उनकी पुनरावृत्ति पुनरावृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वे चक्रका भेदन कर चुकते हैं। परन्तु इस कृष्णगतिकी इन तीनों श्रेणियोंकी अवस्थामें मृत्युलोकमें आना तो निश्चित ही है, साथ ही साथ आवागमनचक्रका स्थायी रहना और बन्धनदशाकी यथाविधि स्थिति भी निश्चित रहती है। इसी कारण कृष्णगतिके द्वारा पुनरावृत्ति सम्बन्ध स्थायी होता है ऐसा इस सूत्रमें कहा गया है ॥ १३३ ॥

अब कृष्णा, शुक्लासे अतिरिक्त एक तीसरी गतिका वर्णन कर रहे हैं—

जीवन्मुक्तगति विशेष है ॥ १३४ ॥

शुक्लगति और कृष्णगति इन दोनों गतियोंसे अतिरिक्त

एतया पुनरावृत्तिः ॥ १३३ ॥

विशिष्टा जीवन्मुक्तगतिः ॥ १३४ ॥

जीवन्मुक्तकी गति कुछ विलक्षण ही है। पूर्वकथित दोनों आतिवाहिकगति हैं, यह आतिवाहिकगति नहीं है क्योंकि मनुष्यके स्थूलशरीरमें जीवके रहते समय इस मृत्युलोकमें ही इस गतिकी प्राप्ति होती है ॥ १३४ ॥

इस विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

वह सहजा है ॥ १३५ ॥

सहजकर्मके आश्रयसे इस गतिकी प्राप्ति होती है। जिस शुक्ल और कृष्णागतिरूपी दोनों आतिबाहिक गतियाँ जैवकर्मके द्वारा प्राप्त होती हैं, सहजकर्मके अन्तिमं अवस्थामें इस गतिकी प्राप्ति होती है। स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज इन चारो योनियोंमें जीव सहजकर्मके बलसे कैसे नियमितरूपसे अभ्युदय प्राप्त करता है, इसका विस्तारित वर्णन पहले हो चुका है। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें वह सहजकर्म रुक जाता है और जैवकर्मके बलसे आवागमनचक्रकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसका रहस्य भी पहले प्रकाशित हो चुका है। तदनन्तर पूर्णावयव, पूर्णज्ञानी महापुरुष जब आवागमनचक्रभेदन करनेमें समर्थ होता है; आवागमनचक्ररूपी आवर्तसे बचकर पुनः सहजकर्मके सरल प्रवाहमें पहुँच जाता है, तब इस गतिकी प्राप्ति होती है। इस कारण वह सहज है। इस गतिमें शरीरमें ही सूर्य्यमण्डलभेदन होता है और विशेषता यह है कि सप्तमलोकमें जानेकी आवश्यकता नहीं होती ॥ १३५ ॥

सहजा सा ॥ १३५ ॥

इसकी और भी विलक्षणता कह रहे हैं—

इसमें ज्ञानकी अपेक्षा रहती है ॥ १३६ ॥

पूर्वकथित शुक्लगति और कृष्णगतिमें जिस प्रकार कर्मकी अपेक्षा रहती है, इस सहजगतिमें कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती है। परन्तु इसमें ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य रहती है। एकमात्र आत्मज्ञानके बलसे ही कर्मपाशरहित होकर जीवन्मुक्त महापुरुष इस गतिको प्राप्त होते हैं। चाहे ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त कर्मत्यागी होकर केवल शारीरिक कर्म करते रहें, और चाहे ईशकोटिके जीवन्मुक्त होकर जगत् हितकर कार्य्यमें लगे रहें, उनको कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती, वह कर्म स्वाभाविक है और कुलालचक्रवत् होता रहता है। इस सहजदशामें केवल आत्मज्ञान ही अवलम्बनीय रहता है ॥ १३६ ॥

एक चौथी और अलौकिक गतिका वर्णन कर रहे हैं—

अन्य भी ॥ १३७ ॥

शुक्लगति, कृष्णगति और सहज गतिके अतिरिक्त एक और गति है जो केवल देवलोकसे सम्बन्ध रखती है। इस गतिको भी आतिबाहिक गति नहीं कह सकते हैं। इस अलौकिकगतिसे न सहजकर्मका कोई सम्बन्ध है न जैवकर्मका कोई सम्बन्ध है। सूक्ष्मदेवलोकमें पदकी क्रमोन्नतिद्वारा निःश्रेयस प्रदायिनी इस

ज्ञानापेक्षत्वमस्याः ॥ १३६ ॥

अन्याऽपि ॥ १३७ ॥

गतिकी प्राप्ति होती है। क्रमशः पदोन्नतिद्वारा यह गति प्राप्त होती है और त्रिमूर्त्तिपदमें जाकर इस गतिकी परिसमाप्ति होती है॥१३७॥

उसका स्वरूप कह रहे हैं—

वह ऐशकर्मके अधीन होनेसे ऐशी है॥ १३८॥

यह गति अन्यगतियोंसे कुछ विलक्षण ही है। इस कारण इसका वर्णन वेद और शास्त्रोंमें कदाचित् आता है। जब विशेष अधिकार प्राप्त करके जीव उन्नत देवता बन जाता है, और उसकी मृत्युलोकमें पुनरावृत्तिकी सम्भावना नहीं रहती है, तब केवल ऐशकर्मके अधीन होकर यह गति प्राप्त होती है इस कारण इसको ऐशगति कहते हैं। इस गतिके अनुसार इन्द्रत्व, आदित्यत्व, वसुत्व आदि पदवी प्राप्त करते हुए देवतागण सगुण ब्रह्मके स्वरूप त्रिमूर्त्तित्व प्राप्त होते हैं। यह गति लोकातीत है। कभी कभी शुक्ल-गतिका भी कोई महात्मा इस ऐशगतिमें पड़कर त्रिमूर्त्तिपदमेंसे किसी पदका अधिकारी होते हुये ब्रह्मीभूत होता है। जैसा कि, शास्त्रोंमें है—हनुमानजी भगवान् ब्रह्माके पदको प्राप्त होंगे। वस्तुतः यह लोकातीत गति है और जीवराज्यसे परे तथा मन-बुद्धिसे अतीत है॥ १३८॥

पुनः प्रकृत विषय कह रहे हैं—

सर्वत्र कर्मकी अपेक्षा है॥ १३९॥

सृष्टिकी कोई अवस्था हो, स्थितिकी कोई अवस्था हो, अथवा

ऐशी सैशकर्मायत्तत्वात्॥ १३८॥

सर्वत्र कर्मापेक्ष्यम्॥ १३९॥

लयकी पूर्वकथित कोई अवस्था हो, सब ही अवस्थाएँ कर्मअधीन हैं यह मानना ही पड़ेगा । कर्मसे सृष्टि स्थिति-लयका कैसा मिश्र-सम्बन्ध है, कर्मके साथ ही धर्माधर्मका कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, एकमात्र कर्म ही जैव, ऐश और सहजरूपसे तथा संस्कारादिरूपमें किस प्रकार ब्रह्माण्डको चलाता है, प्रकृतिके स्पन्दनसे उत्पन्न गुणों-का प्रकट करनेवाला कर्म सबका आदि है, कर्म ही बीजाङ्कुररूप होकर सृष्टिधाराको स्थायी रखता है, और कर्म ही ब्रह्माण्ड तथा पिण्डके लयका कारण बनता है ; वस्तुतः कर्म ही चिज्जड़ग्रन्थिमय जीवत्वको उत्पन्न करता है, और कर्म ही उस ग्रन्थिका भेदन करके जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसत्ताको प्राप्त करानेका कारण बनता है । इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि सर्वत्र ही कर्मकी अपेक्षा है ॥ १३९ ॥

मुक्ति प्रसङ्गसे पुनः कहा जाता है—

कृष्णामें चक्र स्थायी होता है ॥ १४० ॥

इस अन्तिम पादकी प्रवृत्ति केवल निःश्रेयसपथको सरल करनेकेलिये है। कारण सावधानता अवलम्बन करानेकेलिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है । मुक्ति-पथके पथिकको सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि कृष्णागति मुक्तिका बाधक है । उसके द्वारा आवागमनचक्र चिरस्थायी होता है । इस कारण यत्नपूर्वक कृष्णागतिसे अपने आपको बचाना

कृष्णायां चक्रस्थैर्य्यम् ॥ १४० ॥

उचित है। इस प्रसङ्गसे यह शंका हो सकती है कि वेद और शास्त्रोंमें जो ऐसा लिखा है, 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो हि जायते।' इसका तात्पर्य्य क्या है? और इनकी गति कृष्ण है या नहीं? और कृष्ण है तो मुक्ति विरोधी है या नहीं? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें यह कहा जाता है कि यद्यपि इस शास्त्रीय आज्ञामें कही हुई गति कृष्णगति ही है; परन्तु यह अवस्था सर्वथा मुक्तिविरोधी नहीं है। जिनका योगपूर्ण होनेसे पहले ही कुछ बाधा प्राप्त होती है और वह बाधा इतनी अधिक नहीं होती है कि जिससे आवागमनचक्रको अधिक सहायता मिले तभी वह पुण्यात्मा जीव पवित्र श्रीमान्‌के घरमें अथवा योगियोंके घरमें जन्म लेता है। यदि शुचि और श्रीमान्‌के घर जन्मता है तो उसको प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें पहुँचनेका सुअवसर मिलता है और योगीके यहाँ जन्मता है तो शीघ्र ही उसको निवृत्तिका अवसर मिलता है, जिससे एक ही जन्ममें उस पुण्यात्मा व्यक्तिको निःश्रेयसपदकी प्राप्त हो जाती है। कृष्णगतिकी अन्तिम अवस्थामें यह अधिकार पुण्यात्माको मिलता है॥ १४०॥

और भी कहते हैं—

अन्य उसके भेदनमें समर्थ हैं॥ १४१॥

कृष्णगतिसे अतिरिक्त पूर्वसूत्रोंमें और जितनी गतियोंका वर्णन है, उनमें आवागमनचक्र भेदनका सामर्थ्य है। शुक्लगतिमें

तद्भेदसामर्थ्यमितरासाम्॥ १४१॥

उग्र पुण्यकर्मकी शक्ति विद्यमान रहनेसे और देवलोककी सहायता रहनेसे आवागमनचक्रमें पुनः फँसनेकी सम्भावना नहीं रहती है। जीवन्मुक्तकी सहजगतिमें तो स्थूलशरीर रहते ही चक्रभेदन-सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। और ऐशगतिमें उन्नत देवपदके प्रभावसे उन्नत दैवीशक्ति प्राप्त होती रहती है, जिससे चक्रभेदन-का सामर्थ्य स्वतः प्राप्त हो जाता है। इस स्थलपर यह शंका हो सकती है कि विना आत्मज्ञानके मुक्ति नहीं होती तो क्या इन सब अवस्थाओंमें आत्मज्ञानप्राप्तिका अवसर रहता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि जीवन्मुक्त-दशामें आत्मज्ञानपूर्णताकी सम्भावना ही है; अन्य अवस्थाओंमें भी त्रिविधशुद्धिके हेतु आत्मज्ञानके क्रमविकाशकी पूरी सम्भावना रहती है॥ १४१॥

कर्मच्छेदका क्रम कहा जाता है—

संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है॥ १४२॥

संस्कारशुद्धि कैसे होती है, इसका विस्तारित वर्णन संस्कारपादमें आ चुका है। अस्वाभाविक संस्कार स्वाभाविक संस्कारमें परिणत होनेपर क्रियाशुद्धि होती है। जितनी-जितनी संस्कारशुद्धि होती जाती है उतनी-उतनी क्रियाशुद्धि होती जाती है॥ १४२॥

संस्कारशुद्धया क्रियाशुद्धिः॥ १४२॥

तदनन्तरकी अवस्था कही जाती है—

उससे मोक्ष होता है ॥ १४३ ॥

अशुद्धकर्म आवागमनचक्रको स्थायी रखता है और शुद्धकर्म आवागमनचक्रभेदन करनेमें सहायक होता है। राग, द्वेष, अभिनिवेश और आसक्तिके द्वारा जो मिश्रकर्म होते हैं वे अशुद्धकर्म कहाते हैं और वे शुभाशुभभोग उत्पादक होते हैं। और सद्भावसे युक्त होकर जो कर्म उत्पन्न होते हैं, वे ही आत्मज्ञानप्रकाशक कर्म शुद्ध कहाते हैं। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति जब अशुद्धकर्मका त्याग करके शुद्धकर्ममें ही रत होते हैं, तब क्रियाशुद्धिके द्वारा चक्रभेदन होकर कैवल्यपदका उदय हो जाता है। जितना-जितना मनुष्य शुद्धकर्मका अधिकारी होता है, उतना-उतना उसमें वासनाका नाश होता जाता है। वासनाके नाशके साथ ही साथ उदारता, सात्त्विकज्ञान, सात्त्विकधृति आदिका अधिकारी होकर सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न होते हुये आत्मज्ञानका अधिकारी हो जाता है। आत्मज्ञानसे स्वरूपोपलब्धि करके निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है ॥ १४३ ॥

उसका उपाय कह रहे हैं—

वह काल, क्रिया और द्रव्यके द्वारा होती है ॥ १४४ ॥

क्रियाशुद्धिके तीन उपाय हैं, यथा—काल, क्रिया और द्रव्य। क्रियाशुद्धिकेलिये वस्तुतः कालकी अपेक्षा रहती है, साधनकी

तया मोक्षः ॥ १४३ ॥

सा तु कालक्रियाद्रव्यैः ॥ १४४ ॥

अपेक्षा रहती है और पदार्थकी अपेक्षा रहती है। विना कालके साधन बन नहीं सकता और बिना पदार्थके साधनमें सुविधा नहीं होती। और अभ्युदय तथा निःश्रेयसकारी कार्य्यको ही साधन कहते हैं। ऐसे साधन कर्मका सम्पादन उत्तम रीतिसे तभी हो सकता है, जब आवश्यकतानुसार सुन्दर और यथेष्ट समय मिले और कर्ममें बाधा न हो, इसके उपयोगी पदार्थोंका आनुकूल्य हो। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि किसी यज्ञका साधन करनेकेलिये यज्ञीय-पदार्थोंकी भी आवश्यकता है, दक्षिणाकेलिये धनकी आवश्यकता और अपने शरीररक्षाकेलिये अन्न-वस्त्रकी आवश्यकता है। इस प्रकार यथेष्टकाल और यथेष्टद्रव्य और यथावश्यक साधनरूप क्रिया करनेपर शुद्धकर्म बन सकता है ॥ १४४ ॥

प्रसङ्गसे संस्कारशुद्धिका महत्त्व कह रहे हैं—

संस्कारशुद्धिसे असत् भी सत् हो जाता है ॥ १४५ ॥

संस्कारशुद्धिद्वारा अशुद्धकर्मके शुद्धकर्म बननेमें सहायता होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि संस्कारशुद्धिद्वारा असत्कर्म भी सत्कर्ममें परिणत हो जाते हैं। भावशुद्धिके द्वारा पापकर्म भी किस प्रकार पुण्यकर्म बन जाता है, इसका विस्तारित वर्णन पहले आ चुका है ॥ १४५ ॥

संस्कारशुद्धयाऽसदपि सत् ॥ १४५ ॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेकेलिये कहा जाता है—

दानकी त्रिविध शुद्धि होती है ॥ १४६ ॥

क्रियाशुद्धि कैसे हो सकती है और क्रमशः शुद्धकर्मका अधिकार कैसे प्राप्त होता है, उसके उदाहरणकेलिये पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। क्रियाशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त निश्चय हो चुका है। उसके अनन्तर संस्कारशुद्धिद्वारा कितना बलशाली फल उत्पन्न होता है सो कहा गया है। अब उदाहरणरूपसे यह दिखाया जाता है कि क्रिया-शुद्धि कैसे होती है। यदि दानरूपी क्रियाको देखा जाय तो यही विचार निश्चित होगा कि देश, काल और पात्र इन तीनोंका विचार कर दानकरनेसे दानकी आधिभौतिक शुद्धि होगी। दानकी आधिभौतिक शुद्धिद्वारा यदि निःश्रेयस न हो तो अभ्युदय अवश्य होगा। देश, काल, पात्रका विचारकर किया हुआ दान यदि सकाम होगा तो अभ्युदय होगा और निष्काम होगा तो निःश्रेयस होगा। इसी प्रकार यदि दान भगवत्स्मरणपूर्वक होगा, तो उसके द्वारा अधिदैवशुद्धि होगी; परन्तु अवश्य वह स्मरण केवल वाचनिक न हो, तत्त्वतः हो। और जब वासनारहित होकर परोपकारबुद्धि, जगत्कल्याणबुद्धि एवं केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे किया जाय, तो उस दानरूपी क्रियाकी अध्यात्मशुद्धि होगी। ऐसे त्रिविधशुद्धिसे युक्त दानक्रिया अवश्य ही निःश्रेयसका कारण

शुद्धित्रैविध्यं दानस्य ॥ १४६ ॥

होगी इसमें सन्देह नहीं। इसी रीतिपर अन्यान्य क्रियाओंकी भी शुद्धि समझनी उचित है। ऐसे शुद्ध सब कर्म ही मुक्तिका कारण हो सकते हैं॥ १४६॥

प्रकृतविषयको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

वह विचार, स्मरण और विध्यात्मक है॥ १४७॥

देश, काल, पात्रका विचार करना ही विचारात्मक प्रयोग है। जगत्कर्त्ता, जगदाधार, जगदात्मा श्रीभगवान्‌को स्मरण करके दान करनेसे ही स्मरणभावकी चरितार्थता होती है। और निष्कामबुद्धि एवं कर्त्तव्यबुद्धिसे युक्त होकर वेद और शास्त्रकी विधिके अनुसार करनेसे वह दान विध्यात्मक होगा। इस स्थलपर जिज्ञासुओंको यह शंका हो सकती है कि इसमें विचारको प्रथम और विधिको अन्तमें क्यों स्थान दिया गया? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि सब क्रियाओंमें दानक्रिया स्थूलातिस्थूल है। स्थूलक्रियामें विधिको सर्वोच्च स्थान दिया गया है और उसके साथ वासनानाशका सम्बन्ध रक्खा गया है। इसी कारण संकल्पकी प्रधानता और भगवान्‌में फलार्पणकी विधि सर्ववादि-सम्मत है॥ १४७॥

अब साधारणरूपसे कह रहे हैं—

शुद्ध और अशुद्ध भेदसे कर्म द्विविध है॥ १४८॥

कर्मका द्विविध होना स्वतः सिद्ध है। यथा शुद्धकर्म और

विचार-स्मरणविध्यात्मकं तत्॥ १४७॥

द्विविधं कर्म शुद्धमशुद्धञ्च॥ १४८॥

अशुद्धकर्म। पूर्वकथित रीतिके अनुसार जो कर्म त्रिविधशुद्धिसे युक्त हो, वह शुद्ध है और जिसमें त्रिविधशुद्धि नहीं है, वह अशुद्धकर्म होगा। जिस कर्ममें त्रिविधशुद्धिकी जितनी न्यूनता होगी, वह उतना अशुद्ध समझा जाएगा। जिसमें तीनों शुद्धियाँ नहीं होंगी, वह पूर्ण अशुद्ध समझा जाएगा। इस प्रकारसे शुद्ध और अशुद्धकर्मोंका अनेक विभाग हो सकता है। जिनमें पूर्णशुद्धकर्मको सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण अशुद्धकर्मको सबसे निकृष्ट समझा जाएगा॥ १४८॥

उनका फल कहा जाता है—

एक चक्रभेदन करनेवाला और दूसरा उसमें फँसानेवाला है॥ १४६॥

इन दोनोंमें शुद्धकर्म चक्रभेदनमें समर्थ है और अशुद्धकर्म आवागमनचक्रको स्थायी रखनेवाला है। अशुद्धकर्ममें संस्कारशुद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें अस्वाभाविक संस्कार बने रहते हैं। दूसरी ओर कर्मकी मलिनता बने रहनेसे कर्म ही में मल-विक्षेप और आवरण तीनोंका प्रभाव पड़ा रहता है और वह जीव निरन्तर आवागमनचक्रमें भ्रमण करता रहता है और मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि कर्त्ता शुद्धकर्मका अधिकारी हो, तो वह स्वाभाविक संस्कारका अधिकारी बनकर संस्कारशुद्धि सम्पादित कर लेता है। और अपने सब कर्मोंकी त्रिविधशुद्धि

एकं चक्रभेदकमपरं तत्रावपातकम्॥ १४६॥

सम्पादन करता हुआ संचित और क्रियमाणसे बच जाता है तथा प्रारब्ध कर्मोंको आनन्दपूर्वक भोगता हुआ निःश्रेयसपदको प्राप्त कर लेता है ॥ १४९ ॥

निःश्रेयस प्रसंगसे पुनः कहते हैं—

एकतत्त्वके सम्बन्धसे योग मुक्तिपद है ॥ १५० ॥

योगके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

सा कर्मोपासनाज्ञान-काण्डत्रय-विधानतः ।
त्रिविधैरधिकारैर्हि योगशक्तिस्त्रिधा मता ।
यदेतल्लक्षणं गीतं योगः कर्म्मसुकौशलम् ॥
तन्नूनं कर्म्मकाण्डीय-योगलक्षणमीरितम् ।
चित्तवृत्तिनिरोधो वै योग एतद्धि लक्षणम् ॥
विज्ञेयं सर्वथोपास्ति-काण्डयोगस्य निर्जराः ।
अज्ञानजनितोपाधिं निःशेषमपनोद्य हि ॥
एकत्वप्रतिपत्तिर्या योगः स्याच्छिवजीवयोः ।
अस्त्येतज्ज्ञानकाण्डीय योगलक्षणमद्भुतम् ॥

वह योगशक्ति त्रिविध अधिकार भेदसे कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डके अनुसार तीन प्रकार है। सुकौशलपूर्ण कर्म्मको योग कहते हैं, यह कर्मकाण्डका लक्षण है ; चित्तवृत्ति निरोध करनेको योग कहते हैं। हे देवगण ! यह लक्षण सर्वथा उपासनाकाण्डका जानो और अज्ञान-जनित उपाधिको निःशेष हटाकर जीवात्मा

एकतत्त्वसम्बन्धान्मुक्तिदो योगः ॥ १५० ॥

और परमात्माको एकीकरण करनेको योग कहते हैं। ज्ञानकाण्डका अद्भुतलक्षण है।

वस्तुतः ये तीनों लक्षण ही एक लक्ष्यको सिद्ध करते हैं। आत्मानुसन्धानके लक्ष्यसे सुकौशलपूर्ण कर्म करना स्वस्वरूप उपलब्धिकेलिये चित्तवृत्तिनिरोध करना और साधनद्वारा आत्मज्ञानप्राप्त करके जीवात्मा और परमात्माके पृथक्ज्ञानको दूर करना, वस्तुतः तीनों एक ही हैं। और तीनों साधनमें यद्यपि कुछ पुरुषार्थकी पृथक्ता है, परन्तु एकतत्त्वाभ्यास तीनोंका मूलमन्त्र है। एकतत्त्वसे युक्त होकर आत्मानुसन्धान करके जब योगसिद्धि प्राप्त की जाती है, तब योगसाधन मुक्तिप्रद है, इसमें सन्देह ही क्या है॥ १५० ॥

प्रसंगसे संगीतकी महिमा कही जाती है—

इस कारण संगीत अभ्युदयप्रद है॥ १५१ ॥

स्वर-विन्यासद्वारा अलौलिक शब्दसृष्टिको संगीत कहते हैं। यद्यपि संगीतशास्त्र वाद्य, नृत्य और गान इस प्रकारसे त्रिविध अङ्गोंसे पूर्ण माना जाता है, तथापि तीनोंमें गानकी प्रधानता है। गान-प्रकृति, तालपुरुष और नृत्य परस्परके संयोगसे शृंगारानन्द है, ऐसा शास्त्राकारोंने वर्णन किया है। जैसे सृष्टिमें प्रकृतिकी प्रधानता है, ऐसे ही संगीतमें गानकी प्रधानता है। वह गान षड़ज, ऋषभ, गान्धारादि सप्त-स्वरात्मक है। उन्हीं सातों स्वरोंके

अतः संगीतमभ्युदयाय ॥ १५१ ॥

अनुलोम-विलोमद्वारा तथा श्रुति, मूर्च्छना आदिकी सहायतासे षोडश सहस्र राग-रागिनियोंकी सृष्टि प्राचीनकालमें हुई थी। वस्तुतः गान दो भागोंमें विभक्त है यथा मार्गी और देशी। वेद-गानकी प्राचीनशैलीको मार्गी कहते हैं और लौकिक गानशैलीको देशी कहते हैं। गानकी कोई शैली हो, कण्ठसे स्वर निकलते ही एकतत्त्वकी उत्पत्ति हो जाती है इसमें सन्देह नहीं है। स्वरका लयस्थान प्रणव है और प्रणवका लयस्थान स्वस्वरूप है; अतः स्वरसे युक्त होकर गान करनेसे ही एकतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। इस कारण गायकका अन्तःकरण स्वतः ही अन्तर्मुख हो जानेसे गान अभ्युदयकारी है इसमें सन्देह ही नहीं। इसी कारण पूज्यपाद योगिराज महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥
गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥

वीणाका बजानेवाला और सप्तस्वरोंका भेद जाननेवाला तथा ताल जाननेवाला मनुष्य विना प्रयासका ही मोक्षपदको प्राप्त करता है। गीतका जाननेवाला यदि योगके द्वारा परमपदको नहीं प्राप्त कर सके तो वह निश्चय रुद्रगण होकर शिवके साथ कैलाशमें वास करता है॥ १५१॥

अब पुनः प्रकृतविषयको कहते हैं—

शुद्ध कर्मानुष्ठानको कर्मयोग कहते हैं ॥ १५२ ॥

कर्मकाण्डका जो अन्तिम साधन है, वह कर्मयोग है। उसको समझानेकेलिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। शुद्धकर्मको उदाहरणसे तथा उपपत्तिद्वारा पहले ही समझाया गया है। उसी प्रकार कोई कर्म हो, यदि वह कर्मके शुद्धि-विज्ञानसे युक्त हो तो अवश्य कर्त्ताके निःश्रेयसका कारण होगा। कर्मयोगके द्वारा साथ ही साथ मल, विक्षेप और आवरण तीनोंका नाश होता है। विचार, भगवत्स्मरण और विधि-द्वारा सम्पादित कर्मयोग तुरत ही मल और विक्षेपको दूर कर देता है। और वासना-रहित होकर कर्त्तव्य कर्म करनेपर आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होकर निःश्रेयसपदका उदय स्वतः ही हो जाता है ॥ १५२ ॥

और भी कहते हैं—

उसकी अवस्था जीवन्मुक्ति है ॥ १५३ ॥

पहले जो सहजगतिका वर्णन किया गया है, वह सहजगति इसी अवस्थामें प्राप्त होती है। जब पूर्णरीत्या शुद्धकर्म बनता है, तो अस्वाभाविक संस्कारका नाश होकर स्वाभाविक संस्कारका पूर्ण उदय हो जाता है। जब वह भाग्यवान् महापुरुष जो कुछ

शुद्धकर्मानुष्ठानं कर्मयोगः ॥ १५२ ॥

तदीयावस्था जीवन्मुक्तिः ॥ १५३ ॥

करता है, प्रकृति इङ्गितसे करता है, अपनी इच्छासे नहीं करता। नया क्रियमाण कर्म उससे बनता ही नहीं। स्वाभाविक संस्कारके उदय होनेसे अस्वाभाविक संस्कार जनित संचितकर्म उसको स्पर्श नहीं कर सकते; केवल प्रारब्धवेगसे कुलालचक्रवत् वह महापुरुष जीवन-यात्रा निर्वाह करता रहता है। यही सर्वोत्तम दशा जीवन्मुक्त की है॥ १५३॥

उसके प्राप्तिका काल निर्णय कर रहे हैं—

वह तुरीयावस्थामें प्राप्त होती है॥ १५४॥

जीव जब चतुर्विध भूतसंघकी योनियोंसे उन्नति करता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है, तब वह जैवकर्मका अधिकारी होता है। उस दशामें आवागमनचक्रमें घूमता हुआ जब क्रमशः अशुद्धकर्मोंका त्याग और शुद्धकर्मोंका संग्रह किया करता है, तो वह यथाक्रम अर्थ-कामकी वासना छोड़ता हुआ धर्म और मोक्षकी वासना बढ़ाता है, और प्रवृत्तिमार्गको छोड़ता हुआ निवृत्तिमार्गमें अग्रसर होता है। जन्मजन्मान्तरमें क्रमशः आत्मज्ञानका संचय करता हुआ शास्त्रज्ञ, वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ, अन्तमें आत्मज्ञानी होकर तुरीयावस्थामें पहुँच जाता है। इसी ज्ञानोन्नतिकी अन्तिम अवस्थामें महापुरुषगण जीवन्मुक्त-दशाको प्राप्त करते हैं॥ १५४॥

तत्प्राप्तिस्तुरीयायाम्॥ १५४॥

प्रसंगसे कहते हैं—

जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति क्रमशः सत्त्व, रज और तम रूपा हैं ॥ १५५ ॥

मनुष्यमें तीन अवस्थाओंका होना स्वाभाविक है, उनको जाग्रत्‌अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। मनुष्यसे नीचेके जीवोंमें केवल दो अवस्थाएँ होती हैं। यथा—जाग्रत्-अवस्था और सुषुप्ति अवस्था। जबतक जीव आवागमनचक्रमें प्रवेश नहीं करता, तबतक अस्वाभाविक संस्कारसंग्रहका अधिकारी नहीं होता। और जबतक अन्तःकरण अस्वाभाविक संस्कारके संग्रह करनेकी शक्ति नहीं प्राप्त करता, तबतक उसमें स्वप्नावस्था हो नहीं सकती है। जब अन्य जीवोंमें स्मृतिके लक्षण विद्यमान होते हैं, तो इससे प्रमाणित होता है कि, उनमें चित्तका अस्तित्व विद्यमान है। इसी प्रकार बुद्धिके लक्षण भी उनमें पाये जाते हैं। मन और अहंकारके तो प्रत्यक्ष लक्षण रहते ही हैं। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि निम्नश्रेणीके जीवोंमें बुद्धितत्त्व और चित्तका बलवान होना नहीं पाया जाता है। बुद्धि और चित्तकी सहायतासे वे अपनी प्रकृतिपर आधिपत्य नहीं कर सकते हैं यही इसका प्रमाण है। सुतरां बुद्धिके उन्नत न होनेसे और चित्त बलशाली न होनेसे और दूसरी ओर अस्वाभाविक संस्कार-के अधिकारी न होनेसे उनमें केवल दो ही अवस्थाएँ होती हैं,

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः क्रमात् सत्त्वरजस्तमोरूपाः ॥ १५५ ॥

एक तमकी अवस्था एक सत्वकी अवस्था। जाग्रत्-अवस्थामें जागकर चेतनकी सहायतासे स्वस्वप्रकृतिके अनुसार कार्य्य करते हैं और सुषुप्ति अवस्थामें वे पूर्ण तम भावापन्न रहकर जड़वत् हो जाते हैं। ये दोनों अवस्थाएँ निम्नश्रेणीके जीवोंमें स्वाभाविक हैं। जब जीव पूर्णावयव हो मनुष्ययोनिमें प्रवेश करता है, तब जैसे वह अपने भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार जाग्रत् और सुषुप्ति इन अवस्थाओंके बीचकी स्वप्नावस्थाको भी प्राप्त करता है। स्वप्नावस्था एक अपूर्व अवस्था है। स्वप्नमयी सृष्टिसे ही उसका भलीभांति अनुभव हो सकता है। स्वप्नमयी सृष्टि त्रिगुण भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इसी प्रकार स्वप्न भी तीन प्रकारके होते हैं–यथा सात्त्विक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और तामसिक स्वप्न। अनमोल, बेजोड़ बातें जिसमें हों, वह तामसिक स्वप्न है। स्मृतिकी सहायतासे जो स्वप्न देखा जाता है, वह राजसिक स्वप्न कहाता है। और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान दशाओंका ज्ञापक दैवीशक्तिसे पूर्ण जो स्वप्न है, वह सात्त्विक स्वप्न कहाता है। सात्त्विक स्वप्न मनुष्योंको कभी कभी होता है। जाग्रत्‌से सुषुप्तिदशामें जानेकी सन्धिमें अथवा सुषुप्तिसे जाग्रत् दशामें आनेकी सन्धिमें स्वप्न दिखाई देता है। सात्त्विक स्वप्न केवल इस दूसरी दशामें दिखाई देता है। क्योंकि उस समय सत्त्व परिणाम रहता है। इन तीनों अवस्थाओंकी सन्धियोंमें जो अन्तःकरणपर आधिपत्य रख सकते हैं, वे ही महापुरुष हैं। उन्नत योगिगण ही ऐसा कर सकते हैं। इन तीनों अवस्थाओंमेंसे सुषुप्ति अवस्था

तमोगुणकी, स्वप्न अवस्था रजोगुणकी और जाग्रत् अवस्था सत्त्वगुणकी है ॥ १५५ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे है--

तुरीया गुणातीता है ॥ १५६ ॥

अन्य जीवोमे जैसे जाग्रत् और सुषुप्ति है, मनुष्यमें वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनो अवस्थायें स्वाभाविक हैं। परन्तु इन तीनो अवस्थाओसे अतिरिक्त एक चौथी अवस्था है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके स्वाभाविक परिणामके अनुसार मनुष्यों-मे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनो अवस्थाएँ होती हैं। जब तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने सात्त्विकधृति, सात्त्विकज्ञान, योग शक्ति आदिके बलसे इन तीनो अवस्थाओंकी सन्धिमे योगयुक्त रहनेमे समर्थ होता है, तब उसके अन्तःकरणकी अवस्था एक विलक्षणरूपको धारण करती है। इस अवस्थाको महर्षि सूत्रकार-ने 'तुरीया' संज्ञा की है। निर्विकल्प समाधिकी इस अवस्था-मे जीवन्मुक्तदशाका उदय होता है। यद्यपि इस समय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति दशाएँ त्रिगुण परिणामके अनुसार बनी रहती है; परन्तु उक्त योगिराजका अन्तःकरण सदा निर्विकल्प समाधि स्थित रहनेके कारण, और उनको स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जानेके कारण वे इन तीनो अवस्थाओमे फँसते नहीं और सन्धि उपस्थित होनेपर युक्त बने रहते है। यह गुणातीत अवस्था तुरीया कहाती

गुणातीता तुरीया ॥ १५६ ॥

है । इस अवस्थामें योगिराज गुणोंमें फँसता नहीं है ; इस कारण यह अवस्था गुणातीत कहाती है ॥ १५६ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

इसका आत्माके साथ सम्बन्ध है ॥ १५७ ॥

इस तुरीयावस्थाका आत्माके साथ सम्बन्ध सर्वदा विद्यमान रहता है । व्युत्थानदशा होनेपर भी और द्रष्टा, दृश्यका सम्बन्ध स्थापित रहनेपर भी इस तुरीयावस्थामें योगिराज आत्म-धृतिसे च्युत नहीं होता है । जिस प्रकार सूत्रमें बँधा हुआ पक्षी आकाशमें उड़ता हुआ उड़नेकी सन्धिमें अपने प्रभुके हाथपर आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार इस तुरीयावस्थामें अन्तःकरण अवस्थात्रयको प्राप्त होनेपर भी और द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन होनेपर भी और व्युत्थान-दशाको प्राप्त होनेपर भी आत्मधृतिसे च्युत नहीं होता है ॥ १५७ ॥

अवस्थाको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

वहाँ प्रभुत्व है ॥ १५८ ॥

इस तुरीय-अवस्थामें सब प्रकारसे प्रभुत्वकी प्राप्ति होती है। जैसे ऐशगति और शुक्लगतिप्राप्त आत्मा प्रकृतिका अधीश्वर बनकर प्रभुत्वको प्राप्त होता है, लोक-पार्थक्य रहनेपर जीवन्मुक्त महापुरुषमें ऐसी दैवीशक्तियोंका आविर्भाव सम्भव न होनेपर

आत्मना सम्बन्धोऽस्याः ॥ १५७ ॥

तत्र प्रभुत्वम् ॥ १५८ ॥

भी यह तुरीयअवस्था प्रभुत्वमूलक है। इस अवस्थामें संस्कार-बन्धन और कर्मबन्धन नहीं रहता है। वे जो कर्म करते हैं सो सत्‌रूपको धारण करते हैं और शुद्ध होते हैं। उनको कोई संस्कार बाधा नहीं देते हैं। ईश्वरके सदृश वे गुण, संस्कार और कर्मों-पर प्रभुत्व स्थापन करनेमें समर्थ होते हैं। वे जो कुछ करते हैं, सो धर्म ही होता है ॥ १५८ ॥

प्रसंगसे मुक्तिके भेद कह रहे हैं—

तीन कर्मोंके अनुसार त्रिविध मुक्ति होती है ॥ १५९ ॥

तुरीयदशाप्राप्त मुक्तावस्थाके भेद तीन प्रकारके कर्मके अनुसार तीन श्रेणीके माने गये हैं। इन तीनों दशामें यद्यपि शक्ति, देश और कालका पार्थक्य रहता है, परन्तु ये तीनों अवस्थाएँ जिनका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा, पूर्वकथित तुरीयावस्थामें ही प्राप्त होती हैं ॥ १५९ ॥

प्रथम भेद कह रहे हैं—

त्रिमूर्त्तिपद ॥ १६० ॥

ऐशकर्मके द्वारा देवलोकमें उन्नत देवपदोंको अधिकृत करते हुये अथवा देवयोनिमें उन्नत तपस्या करते हुये उन्नत देवताओंमेंसे जो महदात्मा ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्त्तिपदोंमेंसे किसी एक पदको प्राप्त कर लेते हैं, तब उस-पदमें पहुँचकर ही सगुण

मुक्तिस्त्रिविधा कर्मभिस्त्रिभिः ॥ १५९ ॥

त्रिमूर्त्तिपदम् ॥ १६० ॥

ब्रह्मके अधिकारको प्राप्त करके ब्रह्माण्डके ईश्वर हो जाते हैं। उनकी यह ब्रह्मीभूतदशाविशेष विशेष गुणकी पूर्णशक्तिको धारण करते हुये भी ब्रह्मरूप ही है ॥ १६० ॥

दूसरा भेद कह रहे हैं—

सूर्य्यभेदीपद ॥ १६१ ॥

जैवकर्मके द्वारा इस पदकी प्राप्ति होती है। ऐशकर्मके द्वारा जो त्रिमूर्त्तिपद प्राप्त होता है, वह वस्तुतः शक्तिके विचारसे जीवकोटिसे बाहरकी है। त्रिमूर्त्तिपद वस्तुतः सगुण ब्रह्म ही हैं। इस दूसरी अवस्थामें शक्तिका विकाश नहीं हो सकता है। परन्तु ये महात्मापद वाच्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैवकर्मके बलसे आवागमनचक्रको भेदन करते हुये मृत्युलोकको छोड़कर वे शुक्ल-गतिकी सहायतासे उन्नतसे उन्नतलोकमें पहुँच जाते हैं। और तपका त्याग न करके शक्तियोंकी इच्छा न रखते हुये सप्तम ऊर्ध्वलोकमें पहुँचकर ब्रह्मीभूत हो जाते हैं ॥ १६१ ॥

अब तीसरा कह रहे हैं—

जीवन्मुक्तिपद ॥ १६२ ॥

ऐशकर्मके अनुसार जो अन्तिम मुक्तिपदकी प्रतिष्ठा है, सो त्रिमूर्त्तिमें होती है, जैवकर्मके अनुसार जो अन्तिमपदरूपी मुक्तितत्त्वकी प्रतिष्ठा है, सो सप्तम ऊर्ध्वलोकमें पहुँचकर प्राप्त होती है; उसी प्रकार इस सूत्रद्वारा अनुमोदित जीवन्मुक्तिपद

सूर्य्यभेदीपदम् ॥ १६१ ॥

जीवन्मुक्तिपदम् ॥ १६२ ॥

जो सहजकर्मसे प्राप्त होता है और सहजकर्मके अनुसार उसके अन्तिम परिणाममे इसी मृत्युलोकमे स्थूलशरीर रहते ही रहते प्राप्त होता है, उसीको जीवन्मुक्तिपद कहते हैं। जीवन्मुक्तिपदका विस्तारित वर्णन पहले भली प्रकार आ चुका है। जीव सहज-कर्मके बलसे क्रमोन्नति करता हुआ जब मनुष्ययोनिमें पहुँचता है, वहाँ जैवकर्मका अधिकार प्राप्त करके आवागमनचक्रमें फँस जाता है, वही उसकी कृष्णगति है। परन्तु यदि वह उग्रकर्मा तपस्वी जीव दैवीशक्तिकी इच्छा रखकर देवयोनिमे प्रवेश करे, तो वह कालान्तरमे ऐशकर्मके अन्तिम शुभ परिणामको प्राप्त करता है। यदि वह तपस्वी अपने उग्र शुभकर्मोंके वेगसे एक बार ही शुक्लगतिको आश्रय करके सप्तम ऊर्ध्वलोकमें पहुँच जाता है, तब वह महापुरुष जैवकर्मके पूर्वकथित अन्तिम शुभ परिणामको प्राप्त करता है। परन्तु यदि वह महापुरुष इसी शरीरसे कर्मयोगी बन जाय, तो इसी मृत्युलोकमे रहते हुये ही आवागमनचक्रको भेदन करके जैवकर्मके अधिकारसे बचकर पुनः सहजकर्मके अलौकिकदशाको प्राप्त करता हुआ सहजकर्मके अन्तिम शुभ परिणामको प्राप्त कर लेता है। यही अवस्था जीवन्मुक्तिपदकी है ॥ १६२ ॥

प्रसङ्गसे शंकासमाधान कर रहे हैं—

उस समय वृत्तियाँ स्वाभाविक हो जाती हैं ॥ १६३ ॥

अब जिज्ञासुको यदि यह शंका हो कि, जीवन्मुक्तदशाकी

तदा नैसर्गिकत्वं वृत्तीनाम् ॥ १६३ ॥

प्राप्ति स्थूलशरीरके रहते ही होती है, उस समय आहार, निद्रा आदि सब वृत्तियाँ रहती है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ रहती हैं, सुख, दुःखका अनुभव रहता है, तो मुक्तावस्थाकी प्राप्ति इन सब मनोवृत्तियोंके रहते कैसे सम्भव है? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। समाधान यह है कि जब जैवकर्मके द्वारा निर्मित आवागमनचक्रको भेदन करके महापुरुष जीवन्मुक्तिपदपर प्रतिष्ठित होता है, उस समय जैवकर्मके जो आवान्तर दशाएँ हैं, वे सब उनसे अलग हो जाती हैं। संचितकर्म स्वस्वरूप उपलब्धिके द्वारा उनसे अलग हो जाते हैं। उनका अन्तःकरण सर्वथा निष्काम हो जानेसे क्रियमाण कर्म उनसे सम्बन्धरहित हो जाते हैं। और जब वह मुक्तात्मा अनुभव कर लेता है, कि वह शरीररूपी दृश्यका द्रष्टा है, वह स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर नहीं है, तो प्रारब्धकर्म उसको फँसा नहीं सकते हैं। वस्तुतः इस जीवन्मुक्तदशामें उस महापुरुषकी वृत्तियाँ एक प्रकारसे स्वाभाविक हो जाती हैं, अर्थात् प्रकृति-प्रवाहके अनुसार वे जीवनयात्रानिर्वाह करते हैं। कुलालचक्रभ्रमणवत् शरीर-धारण करते हैं। और अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें वे सत्-असत् कर्मोंके कर्त्तारूपसे दिखाई देनेपर भी ज्ञानवान्की दृष्टिसे वे निष्क्रिय और प्रकृति-माताद्वारा चालित समझे जाते हैं॥ १६३॥

उसका कारण कह रहे हैं—

उसमें ज्ञानकी अपेक्षा है ॥ १६४ ॥

यह अतिलोकोत्तरदशा है। इसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है? ऐसी शंकाओंको स्पष्ट करनेकेलिये कहा जाता है कि, आत्मज्ञानकी प्राप्तिद्वारा यह सम्भव है इसमें कोई सन्देह नहीं। जब तत्त्वज्ञानके द्वारा राजयोगी महापुरुष यह समझ लेता है कि प्रकृतिका तत्त्वतः स्वरूप क्या है? और वह यह जान जाता है कि दृश्य प्रकृति है और द्रष्टा पुरुष है, तो कोई भी प्राकृतिक दृश्य उसको फँसा नहीं सकते हैं और न कोई प्राकृतिक स्पन्दनरूपिणी क्रिया उसको बाँध सकती है। साथ ही साथ स्वस्वरूपकी उपलब्धि हो जानेसे उसकी सदा विश्रान्ति सच्चिदानन्दमय ब्रह्मसत्तामें रहती है। अतः आत्मज्ञानी पुरुष ही जीवन्मुक्त हो सकता है ॥ १६४ ॥

अवस्थाको स्पष्ट कर रहे हैं—

उसकी व्युत्थानवृत्तियाँ क्षणस्थायी होती हैं ॥ १६५ ॥

इस आत्मज्ञानपूर्ण जीवन्मुक्तदशामें स्वस्वरूपकी उपलब्धि होनेपर विश्रान्ति तो उसमें रहती है, परन्तु जब शरीर रहता है, जगत्‌का दृश्य रहता है, और जगत्‌का सब प्रकारका कर्म होता रहता है तो द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध स्थापन करनेवाली व्युत्थानदशाका

ज्ञानापेक्षं तत् ॥ १६४ ॥

क्षणस्था व्युत्थानवृत्तयस्तस्य ॥ १६५ ॥

भी होना सम्भव ही है। परन्तु भेद यह है कि, साधारण मनुष्यों-में व्युत्थान सदा बना रहता ही है, किन्तु जीवन्मुक्तोंमें व्युत्थान दशा क्षणिक होती है। अब शंका यह होती है कि, सहजकर्मके अधीन पशु आदि जीवोंमें वृत्तियाँ भी क्षणिक होती हैं और जीवन्मुक्त भी सहजकर्मके अधीन होते हैं और उनमें भी वृत्तियाँ क्षणिक होती हैं, तो दोनोंमें भेद क्या हुआ ? इस श्रेणीकी शंका-का समाधान यह है कि पशु आदि चतुर्विध भूतसंघमें पूर्ण-तम रहता है और जीवन्मुक्तमें पूर्ण-सत्त्वका अधिष्ठान रहता है। पशु आदिकी वृत्तियाँ क्षणस्थायी होनेपर भी उनका विलय तमो-गुणमें अर्थात् जड़भावापन्नदशाकी प्राप्तिमें होता है; परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषकी वृत्तियाँ क्षणस्थायिनी होनेपर भी उनका विलय सत्त्वमें होता है और चेतन शेष रहता है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि किसी वृत्तिका अपने पूर्ण-स्वरूपमें कार्य्य करना, यह रजोगुणकी अवस्था है; वह रजो-गुणकी अवस्था दूसरे क्षणमें लयको प्राप्त होती है, यह रजोगुण स्वभाव है, परन्तु पशु आदि प्राकृतिक जीवोंमें वह रजो-गुण तम और जड़ताभावको धारण करके लयको प्राप्त होता है और जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें वह रजोगुण सत्त्वगुणमें पहुँच कर स्वस्वरूपमें विलय होता है, क्योंकि उनकी विश्रान्ति सदा स्वस्वरूप-में रहती है। सबसे बड़ी बात समझनेकी यह है कि, व्युत्थान-दशाका यह क्षणस्थायी होना केवल जीवन्मुक्तदशामें ही घट सकता है; क्योंकि चाहे बद्ध मनुष्य हो अथवा अन्य जीव हो,

उसकी वृत्तियाँ या तो अपने पूर्ण स्वस्वरूपमें रहती हैं, या अज्ञान, प्रमाद, सुषुप्ति आदिमें लय हो जाती हैं और वहाँ उनका मूल बना रहता है, परन्तु जीवन्मुक्तमें ठीक इससे विपरीत होता है उनके अन्तःकरणमें सहजकर्मके अनुसार व्युत्थान होता है परन्तु उस व्युत्थानका वेग जब समाप्त होता है, तो उस समय स्वस्वरूपकी अवस्थिति ही शेष रहती है। यह लोकातीतदशा जीवन्मुक्तमें ही सम्भव है ॥ १६५ ॥

वृत्ति सम्बन्धसे प्रकृत विषयको समझा रहे हैं—

त्रिगुण भेदसे जीवकी वृत्तियाँ छः होती हैं ॥ १६६ ॥

जीवमात्रमें छः वृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं। वे सहजात हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा, ये छः वृत्तियाँ हैं। आहार, निद्रा ये तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं, भय, मैथुन ये रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं ज्ञान और सुखेच्छा ये सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। आहार और निद्रा इन दोनोंका स्थूलशरीरसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कारण जड़ सम्बन्धयुक्त होनेसे वे तामसिक श्रेणीमें परिगणित होती हैं। भय और मैथुन ये दोनों वृत्तियाँ परिणामशील हैं और नित्य तथा सब देश, काल पात्रमें समानरूपसे रहनेवाली नहीं हैं इस कारण वे राजसिक श्रेणीकी कहाती हैं। द्रष्टा दृश्यका तटस्थज्ञान और सुखकी इच्छा यह ज्ञान और आनन्दमूलक होनेके कारण ये सत्त्वगुणकी हैं ॥ १६६ ॥

षड्जीववृत्तयस्त्रिगुणभेदात् ॥ १६६ ॥

उनका समान अधिकार कहा जाता है—

सर्वत्र समान हैं ॥ १६७ ॥

आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा ये छः वृत्तियाँ समानरूपसे अपना अधिकार सब प्रकारके जीवोंपर रखती हैं। चाहे उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ हो और चाहे मनुष्ययोनिके जीव हो, चाहे देवलोकके जीव हो, चाहे मृत्युलोकके जीव हो, यथा अधिकार सबमें ये वृत्तियाँ होती हैं। शंका-समाधानकेलिये कहा जाता है कि एक वृक्ष भी जल और खाद आदि आहार करके पुष्ट होता है। रात्रिको उसको भी निद्राकी आवश्यकता होती है। इस कारण रात्रिको पुष्प, पत्र फल आदि चयन शास्त्रोंमें निषेध है। वज्रपात आदि भीतिसे वृक्ष मर जाता है। मैथुनक्रिया वृक्षादि उद्भिज्जकी सब योनियोंमें ही प्रत्यक्ष सिद्ध है। वृक्षोंमें इन्द्रियजन्य तटस्थ ज्ञानका प्रमाण पहले दिया जा चुका है। और सुखेच्छा तो वृक्षादि योनियोंमें ऋतुभेदसे प्रत्यक्ष होती है। विचार करनेसे अन्य उन्नत जीवोंमें ये वृत्तियाँ सुगमतासे ही पायी जायँगी। ये वृत्तियाँ सहजकर्म-सम्भूत होनेसे इनका अधिकार सर्वत्र समान है ॥ १६७ ॥

अब जीवन्मुक्तदशामें क्या होता है सो कहा जाता है—

जीवन्मुक्तमें राजसी भ्रष्टबीजवत् होती हैं ॥ १६८ ॥

सर्वत्र समाः ॥ १६७ ॥

राजसी तु जीवन्मुक्ते भ्रष्टबीजवत् ॥ १६८ ॥

जीवन्मुक्तदशामें आहार निद्रा, ज्ञान और सुखेच्छा ये रूपान्तरमें रहती हैं, परन्तु भय और मैथुन वृत्तियाँ भ्रष्टबीजवत् हो जाती हैं। जीवन्मुक्त महात्मा प्रकृतिस्थ हो जानेसे और उनमें स्वस्वरूपका पूर्ण विकाश हो जानेसे केवल शरीररक्षाकेलिये ही उनकी आहारक्रिया होती है भोग-जनित नहीं। उसी प्रकार निद्रा-वृत्तिकी सन्धियोंपर उनका पूरा आधिपत्य बना रहता है जैसा कि पहले कहा गया है। उनकी सुखेच्छा और उनका तटस्थज्ञान परार्थ और जगत् मंगलकेलिये हो जाता है। इस कारण कहना ही होगा कि ये चारों वृत्तियाँ उनमें रूपान्तरमें रहती हैं। परन्तु भयवृत्ति और मैथुनवृत्ति भ्रष्टबीजवत् अर्थात् क्रियारहित हो जाती हैं। सृष्टिकी इच्छाका मूलोच्छेद हो जानेसे और वासनाका विलय होनेसे कामवृत्ति और आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे भयवृत्तिका भ्रष्टबीजवत् होकर शक्तिहीन होना निश्चित ही है। अब यह शंका हो सकती है कि भ्रष्टबीजका उदाहरण केवल रजोगुणकी वृत्तिमें ही क्यों किया गया? अन्यवृत्तिमें क्यों नहीं उदाहरण दिया गया? इन शंकाओंका समाधान यह है कि भ्रष्ट बीज जिस प्रकार नवीन प्रतिक्रियारूपी अंकुरोत्पन्न करनेमें असमर्थ होता है, वह उदाहरण केवल रजोगुणकी वृत्तिमें ही घटता है। अन्य चार वृत्तियोंमें नहीं घटता है। क्योंकि जीवन्मुक्तमें निद्रा और आहार-जनित तृप्ति और पुष्टि होती है। दूसरी ज्ञान और सुखेच्छा जगत्को ब्रह्मरूप समझकर बनी ही रहती है॥ १६८॥

मोक्ष प्रसंगसे कहते हैं—

सप्तभेदके समान कर्मियोंको सात अवस्थाएँ होती हैं॥ १६६॥

सृष्टिके सप्तभेद स्वाभाविक है। यथा—कालके सप्त दिन, स्थूल-शरीरके सप्तधातु, प्रकाशके सप्तरंग, अन्धकारकी सप्तछाया, देवलोकके सप्तभेद, असुरलोकके सप्तभेद इत्यादि। उसी नियमके अनुसार कर्म कर्त्ताओंकी अवस्थाओंको भी सात श्रणीमें विभक्त कर सकते हैं। जिनके विस्तारित स्वरूपका वर्णन अगले सूत्रोंमें आवेगा॥ १६९॥

पहलीका वर्णन कर रहे हैं—

शुभेच्छा॥ १७०॥

इस कर्मभूमिके विषयमें स्मृतिमें ऐसा कहा है—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं साधु सज्जनैः।
वैराग्यपूर्णमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

मैं मूढ होकर क्यों बैठा हूँ, गुरु और सज्जनोंकी सहायतासे ईश्वरका अवलोकन करूँगा, इस वैराग्यपूर्ण इच्छाको बुधगण शुभेच्छा कहते हैं।

इस योगभूमिका तात्पर्य्य यह है कि, आवागमनचक्रमें घूमता हुआ तथा अभ्युदय प्राप्त करता हुआ जीव प्रवृत्तिकी सीमासे

सप्तावस्थाः कर्मिणां सप्तभेदवत्॥ १६६॥

शुभेच्छा॥ १७०॥

निवृत्तिकी सीमामे पहुँचता है, तब साधकको यह कर्माधिकार प्राप्त होता है। और वह भाग्यवान् अशुभकर्ममे अरुचि प्राप्त करके शुभकर्ममे रुचि प्राप्त करता है॥ १७०॥

दूसरीका वर्णन कर रहे है—

विचारणा॥ १७१॥

इस विषयमे स्मृतिशास्त्रमे ऐसा कहा है—

शास्त्रसज्जन-सम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

शास्त्र और सज्जनके संसर्ग और वैराग्याभ्यासपूर्वक जो सदाचारमे प्रवृत्ति है, उसको विचारणा कहते है।

प्रथम भूमिकी प्राप्तिमे केवल शुभ और अशुभ कर्मका विवेक होकर अशुभके दोषदर्शनकी अधिकता रहती है और इस दूसरी भूमिमे शुभ कर्ममे यथार्थतः प्रवृत्ति हो जाती है। और वह पुरुष पुण्यात्मा बन जाता है॥ १७१॥

तीसरीका वर्णन करते है—

तनुमानसा॥ १७२॥

इस सम्बन्धमे स्मृतिवचन यथा—

विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥

विचारणा॥ १७१॥

तनुमानसा॥ १७२॥

विचारणा और शुभेच्छाद्वारा इन्द्रियार्थ वस्तुमें अनासक्तिको तनुमानसा कहते हैं । क्योंकि इस दशामें मन क्षीण हो जाता है। पूर्वकथित दोनों भूमियोंको अतिक्रम करके साधक जब इन्द्रियादि सम्बन्धीय भोग वस्तुओंमें अनासक्ति प्राप्त कर लेता है, तब अशुद्ध मनका वेग क्षीण हो जाता है। उस समय अशुद्धमनको क्षीण करके शुद्धमन भावप्रणोदित होने लगता है। वस्तुतः आसक्ति क्षीणहीन होनेसे यह नाम दिया गया है ॥ १७२ ॥

चौथीका वर्णन करते हैं—

सत्त्वापत्ति ॥ १७३ ॥

इस सम्बन्धमें स्मृतिवचन पाया जाता है । यथा—

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥

उपरोक्त इन तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे बाह्य पदार्थमें मनकी विरति होनेसे शुद्ध आत्मामें जो अवस्थिति होती है, उसको सत्त्वापत्ति कहते हैं ।

इस योगभूमिको प्राप्त करके साधक आसक्तिशून्य होकर सद्भावमें अवस्थान करता है और सत् स्मरणपूर्वक सब कर्म भावशुद्धिसे करने लगता है ॥ १७३ ॥

सत्त्वापत्तिः ॥ १७३ ॥

पाँचवींका वर्णन कर रहे हैं—

असंसक्ति ॥ १७४ ॥

इस विषयमें स्मृति यह स्मृति प्रमाण पाया जाता है—

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ता संसक्ति नामिका ॥

पूर्वकथित चार अवस्थाओंके अभ्यासद्वारा फलासक्तिके त्याग-को और सत्वारूढ़ होनेको असंसक्ति कहते हैं।

अशुद्धमन आसक्तिद्वारा चालित होता है और शुद्धमन भावद्वारा चालित होता है। पहले दो भूमियोंमें आसक्तिका सम्बन्ध रहता है, और तृतीय एवं चतुर्थ अवस्थामें साधकके अन्तःकरणमें यथाक्रम भावका सम्बन्ध रहता है। इस पंचम-योगभूमिमें भाग्यवान् साधक निष्कामव्रतधारी हो जानेसे जगत्-को ब्रह्मरूप जानकर सत्त्वारूढ़ हो काम करनेकी योग्यता प्राप्त करता है ॥ १७४ ॥

छठवींका वर्णन किया जाता है—

तद्भाविनी ॥ १७५ ॥

इस विषयमें स्मृति वचन यथा—

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्,
तथैवाभ्यन्तराणां हि बाह्यानामभावनात्।

असंसक्तिः ॥ १७४ ॥

तद्भाविनी ॥ १७५ ॥

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्,
पदार्था भावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥

पूर्वकथित पाँचों भूमियोंके अभ्यासद्वारा आत्मभावनामें दृढ़ता प्राप्त होनेसे बाह्य अभ्यन्तर भावनाका परित्याग करके यत्नपूर्वक पदार्थभावना अवस्थाको पदार्थ-भाविनी कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि इस षष्ठ योगभूमिमें भाव-विचारसे चित्त हटकर आत्म-विचारमें दृढ़ता प्राप्त होती है। तब उस भाग्यवान् कर्मीकी गति सब प्रकारके कर्ममें ही अकुण्ठ हो जाती है ॥ १७५ ॥

सातवींका वर्णन किया जाता है—

तुरीया ॥ १७६ ॥

इस भूमिके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

भूमिषट्क चिराभ्यासात् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥
योगो हि कर्म्मनैपुण्यं कर्म्मयोगेन तेन वै।
अतिक्रमन् सप्तयोग-भूमिकामधिगम्यते ॥

क्रमशः इन छः योगभूमियोंका अभ्यास दृढ़ हो जाय और किसी भी वस्तुमें भेदबुद्धि न रहे केवल ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थिति हो उस भूमिका नाम तुर्यगा है।

कर्मसुकौशलको योग कहते हैं। इन सप्तकर्मयोग भूमिकाओंका अतिक्रमण करता हुआ जीवन्मुक्त महापुरुष इस तुरीयागतिको

तुरीया ॥ १७६ ॥

प्राप्त करता है। तात्पर्य्य यह है कि सप्तमज्ञानभूमिमें महापुरुष अद्वैतभावको धारण करके सदा युक्त होकर कर्म और अकर्मकी अवस्थामें एकरूप रहता है ॥ १७६ ॥

भेदका कारण कह रहे हैं—

अधिकार भेदसे वे होती हैं ॥ १७७ ॥

संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धिके विभिन्न विभिन्न अवस्थाओंमें जो यथाक्रम अधिकार प्राप्त होते हैं; उन्हीं अधिकार भूमियोंके अनुसार कर्मियोंकी ये सात अवस्थाएँ कर्मके गतिवेत्ता महात्माओं-ने निर्णीत की हैं। ये अवस्थाएँ काल्पनिक नहीं है तात्त्विक हैं और क्रमशः एक दूसरेके बाद प्राप्त होती हैं। यदि जन्म-जन्मान्तर की अधिकृत हुई हों, तो एकबार ही उन्नत अवस्था प्राप्त हो सकती है ॥ १७७ ॥

इन अवस्थाओंको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

पार्वत्यक्षेत्रके समान ॥ १७८ ॥

पर्वतमें भ्रमणकारी पथिकोंने देखा होगा कि, उच्चतर पर्वतोंमें जहाँ कृषिजीवी मनुष्योंकी वसति है, वहाँ अन्न उत्पन्न करनेकेलिये जो खेत बनाए जाते हैं, उनके स्तर अलग अलग रक्खे जाते हैं। और वे स्तर एक दूसरेसे उन्नत होती हैं। यदि इस प्रकारके स्तर न बनाए जायँ, तो न खेत हो सकें न वे जोते

अधिकारभेदात् ताः ॥ १७७ ॥

पार्वत्यक्षेत्रवत् ॥ १७८ ॥

जा सकें, न उनमें जल ठहर सके और न खेती उत्पन्न हो सके। इस कारण स्वतन्त्र स्तरमय खेत पर्वतमें बनाए जाते हैं। ठीक उसी प्रकार संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धिको प्राप्त करते हुये अन्तमें मुक्तिपदप्राप्तिकेलिये ये सातों कर्म अधिकार-निर्णीत हुये हैं ॥ १७८ ॥

पुनः मुक्तिप्रसङ्गसे कहा जाता है—

लोकके समान ज्ञान अज्ञानका अधिकार चतुर्दश प्रकार होता है ॥ १७९ ॥

जिस प्रकार भूः, भुवः, स्वः, जन, मह, तप, सत्य ये सप्त ऊर्ध्व-लोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल इस प्रकार सप्त निम्न लोक मिलकर चतुर्दश लोक कहाते हैं, ठीक उसी प्रकार अध्यात्मराज्य भी चतुर्दश भेदोंमें विभक्त है। जिनका विस्तारित वर्णन अगले सूत्रोंमें आवेगा ॥ १७९ ॥

प्रथम चार अज्ञानभूमि कही जाती है—

भूतसंघके चिदाकाशमें चारका विकाश है ॥ १८० ॥

उद्भिज्ज भूतसंघके समष्टि चिदाकाशमें प्रथम अज्ञानभूमि अनुभव करने योग्य है। उसी प्रकार स्वेदज भूतसंघके समष्टि-चिदाकाशमें दूसरी अज्ञानभूमि अनुभव करने योग्य है। उसी प्रकार अण्डज भूतसंघके समष्टि-चिदाकाशमें तीसरी अज्ञानभूमि

चतुर्दशविधोज्ञानाज्ञानाधिकारो लोकवत् ॥ १७९ ॥

चिदाकाशे चत्वारो भूतसंघस्य ॥ १८० ॥

अनुभव करने योग्य है। उसी प्रकार जरायुज भूतसंघके पशु आदि योनियोंके समष्टि-चिदाकाशमें अध्यात्म तत्त्ववेत्ता योगि-गण चतुर्थ अज्ञानभूमिका अस्तित्व अनुभव करते हैं। यद्यपि अज्ञानावस्था उत्तरोत्तर ज्ञानभूमिमें तमके विचारसे क्रमशः कुछ घटता जाता है, परन्तु ये सब अज्ञानाच्छादित भूमि है इसमें सन्देह नहीं ॥ १८० ॥

पाँचवीं अज्ञानभूमिका स्वरूप कह रहे हैं—

देहात्मवादमें पंचम है ॥ १८१ ॥

जीव जब चतुर्विध भूतसंघकी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुँचता है, तब पाशव-वृत्तियोंके आधिक्यके कारण वह देहात्मवादी होता है। परलोकादिका उसको कुछ भी ज्ञान नहीं होता और देहको ही आत्मा समझता है जैसा कि पशुगण केवल शरीरपर ही पूर्णाध्यास रखते हैं। अथवा यों कहा जाय कि जिस मनुष्यमें देहात्मवादका ही लक्ष्य रहे, अथवा जो विचारशील देहको ही आत्मा समझें और नास्तिकताके कारण देहसे अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व न मानें, तो ये सब पंचम अज्ञानभूमिके अन्तर्गत ही समझे जायँगे। जगत्में बहुतसे नास्तिकदर्शन इसी मतके पोषक हैं। सब दार्शनिक सिद्धान्त इसी पञ्चम अज्ञानभूमि सम्भूत हैं, ऐसा मानना पड़ेगा ॥ १८१ ॥

पंचमो देहात्मवादे ॥ १८१ ॥

षष्ठ अज्ञानभूमिका वर्णन कर रहे हैं—

देहातिरिक्त आत्मवादमें षष्ठ है॥ १८२ ॥

इस ज्ञानभूमिके अनन्तर मनुष्यके आध्यात्मिक विचार जब अग्रसर होते हैं, तब वह देहके अतिरिक्त कोई आत्मा है, ऐसा अनुभव करने लगता है, अवश्य यह अवस्था पंचमसे उन्नत है। इस दशामें मनुष्य इस विचारपर प्रतिष्ठित होता है कि, देहके अतिरिक्त और देहसे भिन्न कोई स्वतन्त्र आत्मा है। और वह आत्मा देहके मृत होनेपर नहीं मरता है। इस अधिकारके व्यक्ति अथवा इस अधिकारके धर्ममत अथवा दार्शनिक-मतसमूह स्वर्ग और नरकको भी मानने लगते हैं। परन्तु जन्मान्तरवाद और सृष्टिप्रकरणके यथार्थ रहस्यको नहीं समझते हैं। यह अवस्था जिसके अन्तःकरणकी होती है, वह अज्ञानभूमिकी षष्ठ अवस्था है॥ १८२॥

अब सातवेंका वर्णन कर रहे हैं—

आत्मातिरिक्त शक्तिवादमें सप्तम है॥ १८३ ॥

यह अज्ञानभूमि सबसे अन्तिम है। इसके अनन्तर ही ज्ञानभूमियाँ प्रारम्भ होती हैं। इस अवस्थामें दार्शनिक बुद्धि बहुत कुछ बढ़ जाती है। परन्तु न ईश्वरका यथार्थ स्वरूप, न उनकी प्रकृतिका यथार्थ स्वरूप समझनेकी योग्यता होती है। केवल

देहातिरिक्तात्मवादे षष्ठः॥ १८२॥

आत्मातिरिक्तशक्तिवादे सप्तमः॥ १८३॥

दार्शनिक नेत्रद्वारा वे इतना ही देखते हैं कि, जीवात्माके अतिरिक्त एक सर्वव्यापक केन्द्रशक्ति ऐसी है कि, जिससे सृष्टि, स्थिति, लय क्रिया सम्पादित होती है यद्यपि यह अज्ञानभूमि है, परन्तु मनुष्ययोनिकी आध्यात्मिक स्थितिकी यह बहुत उन्नत दशा है इसमें सन्देह नहीं ॥ १८३ ॥

प्रकृत विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

ये सातों अज्ञानभूमियाँ हैं ॥ १८४ ॥

ये पूर्वकथित सातों अवस्थाएँ आध्यात्मिक जगत्में अज्ञान-भूमिकी हैं। क्योंकि लोकातीत तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञानका विकाश इन दशाओंमें नहीं होता है। स्मृतिशास्त्रमें इन सातोंके विषयमें इस प्रकार कहा है—

उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका ।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
तृतीयाऽण्डजजातेश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधि-कारिष्वेव वै नृषु ।
सन्ति शेषा अधिकृता स्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः ॥
तिस्रः ता एव कथ्यन्त उत्तमाऽधममध्यमाः ।
विशदं ताः प्रवक्ष्येऽहं श्रूयन्तां विप्रपुङ्गवा ! ॥

सप्तैताज्ञानभूमयः ॥ १८४ ॥

एता अज्ञानभूमिर्हि तिस्रूरेवसमूहतः ।
मूर्त्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्त्तुं समुद्यताः ॥
अधमाऽज्ञानभूमौ हि यावन्मर्त्यं प्रसज्जते ।
कृतेऽपराधे दण्डः स्यात्तिर्य्यग्योनौ तदुद्भवः ॥
मध्यमाज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः ।
पितृलोकास्तथा विप्राः ! नारकाश्च पुनः पुनः ॥
प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च सुखदुःखादिपूरितः ।
ददात्यूर्द्ध्वञ्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥
अधमाज्ञानभूमिञ्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो ।
देहात्मवादिनोऽनार्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः ॥
मध्यमाज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः ।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः ! सद्विचारपरायणाः ॥
देहात्मनोर्हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा ।
इन्द्रियाणां सुखे मग्ना नितरामैहलौकिके ॥
विस्मरन्ति महामूढाः सुखं ते पारलौकिकम् ।
उत्तमाज्ञानभूमेर्वै पुण्यवन्तोऽधिकारिणः ॥
आत्माऽतिरिक्तं मे शक्तेर्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः !
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥
अधमा ज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते ।
तमोरजः प्रधाना च मध्यमाऽस्ते प्रकीर्तिता ॥
उत्तमाज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका ।
शुद्धसत्त्व विकाशस्य स्थले नूनं यथाक्रमम् ॥

पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे ततो द्विजाः।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः क्रमेण हि॥
समुद्यन्ति ध्रुवं देव दुर्लभानां स्वभावतः।

उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञानभूमि है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञानभूमि कही गयी है। अण्डजोंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञानभूमि है, और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञानभूमि है। परन्तु पाँच कोषोंके पूर्णताकी अधिकारिणी मनुष्ययोनिमें ही शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार है। वे ही तीनों उत्तम मध्यम और अधम अज्ञानभूमियाँ कहाती हैं। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! मैं उनको स्पष्टरूपसे कहता हूँ सुनो। इन्हीं तीनों अज्ञानभूमियोंके समूल निराकरणकेलिये वेद स्वयं मूर्त्तिधारण करके प्रवृत्त हैं। अधम अज्ञानभूमिमें जबतक मनुष्य फँसा रहता है उसको अपराध करनेपर तिर्य्यक्योनिकी प्राप्ति दण्डरूपसे हुआ करती है। और हे ब्राह्मणों! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्योंको पितृलोक नरलोक और सुख दुःखपूर्ण मृत्युलोककी प्राप्ति बार बार होती है एवं सर्वोन्नत अज्ञानभूमि ऊर्ध्व स्वर्गलोक प्रदानकारी है। अधम अज्ञानभूमिप्राप्त मनुष्य अहो! नास्तिक देहात्मवादी अशुचि और अनार्य्य होते हैं। परन्तु हे ब्राह्मणों! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्य आस्तिक होनेसे देहसे आत्माकी पृथक्तापर सर्वथा विश्वास करते हुए और सद्विचारपरायण होते हुए भी वे महामूढ़ ऐहलौकिक इन्द्रियसुखमें अत्यन्त मग्न होकर पारलौकिक सुखको भूले रहते

हैं। हे ब्राह्मणों! उत्तम अज्ञानभूमिके ही पुण्यवान् अधिकारी आत्मासे अतिरिक्त मेरी शक्तिका अस्तित्व मानकर वे स्वर्गीय सुखके ही अधिकारी हुआ करते हैं। अधम अज्ञानभूमि तमः-प्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि तम, रजः प्रधान और उत्तम अज्ञान-भूमि रजः सत्व प्रधान कही गयी है। इसके अनन्तर हे ब्राह्मणों! शुद्धसत्वके क्रमविकाश स्थलरूपी पुण्यवान् मनुष्योंके चित्ताकाशमें देवदुर्लभ सप्तज्ञानभूमियोंके अधिकार क्रमशः स्वभावसे ही उदय होते हैं॥ १८४॥

विषयको और स्पष्ट कर रहे हैं—

अविद्याके निलय हैं॥ १८५॥

ये सातों अज्ञानभूमियाँ अविद्याका आश्रय स्थल हैं। अज्ञान जननी अविद्या इन सातोंमें विराजमान रहती है। देहासक्ति, इन्द्रियासक्ति, नास्तिकता, तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञानके विरोधी संस्कारसमूह इनमें बने रहते हैं। प्रथम चार तो अज्ञानसे आच्छादित ही हैं; परन्तु परवर्त्ती तीनमें ये सब दोष रहनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि ये अज्ञानभूमियाँ अविद्याके निलय हैं॥ १८५॥

मुक्तिपथ सरल करनेके अर्थ कह रहे हैं—

सप्तज्ञानभूमियाँ विद्याके क्षेत्र हैं॥ १८६॥

जिस प्रकार सप्तअज्ञानभूमि अविद्यादेवीका निलय है। उसी

अविद्यानिलयाः॥ १८५॥

विद्याक्षेत्रं सप्तज्ञानभूमयः॥ १८६॥

प्रकार सप्तज्ञानभूमि जिनका वर्णन अगले सूत्रोंमें आवेगा वे विद्यादेवीका विहारक्षेत्र हैं। अज्ञानभूमियोंके अनन्तर जीवकी आध्यात्मिक उन्नतिके साथ ही साथ जो सात भूमियाँ प्रकट होती हैं, उनमें सृष्टितत्त्व, ईश्वरशक्तित्व, ईश्वरतत्त्व, तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञान और विशेषतः मुक्तितत्त्वका विकाश होता रहता है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रोंमें कहा है—

हे विज्ञानविदो विप्राः! नन्वज्ञानस्य सप्तभिः।
प्रपूर्णं सप्तभिः सम्यक् तथा ज्ञानस्य भूमिभिः॥
नूनमास्ते महाकाश-गोलकं परमाद्भुतम्।
तस्य निम्नतराः सप्त सप्तच्छाया प्रपूरिताः॥
उच्चैः सप्ततराः सप्तज्योतिर्भिश्चैव पूरिताः।
अधःच्छायातराः सन्ति चत्वारो हि समष्टितः॥
चतुर्धा भूतसङ्घानां चिदाकाशेन पूरिताः।
स्तरा अज्ञानभूमीनां तत ऊर्द्ध्वं गतास्त्रयः॥
ज्ञानभूमिस्तराः सप्त तथा दश-विधानमून्।
धृत्वाऽधिकारान् सम्पूर्णान् पिण्डान्दैवांश्च मानवान्॥
व्याप्नुवन्ति न सन्देहस्तस्माद्विज्ञान-वित्तमाः।
एतद्दश विधेष्वेवाधिकारेष्वखिला हिताः॥
निम्नान्निम्नतरा एवमुच्चै रुच्चतमास्तथा।
दार्शनिकाधिकारा हि सन्ति सम्मिलिता ध्रुवम्॥
अघटव्यघटनायां सा प्रकृतिर्मे पटीयसी।
मत्तो व्यक्ता महाकाश-गोलकेऽत्र प्रकाशते॥

ऊद्ध्वगाः सप्तभूमिर्वै सा विद्यारूपतोऽश्नुते ।
अविद्यारूपतो विप्राः! सप्तभूमिश्च निम्नगाः ॥
सप्तच्छायाभिरेताभिर्ज्योतिर्भि सप्तभिस्तथा ।
परिपूर्णं महाकाश-गोलकं मे जडात्मिका ॥
विभर्त्ति प्रकृतिर्नित्यं नूनमाधाररूपतः ।
अहं तस्योपरिष्ठाच्च सन्तिष्ठे शुद्धचिन्मयः ॥
ज्ञानिनः स्याद्धि यस्यादोऽध्यात्मगोलकदर्शनम् ।
मद्दर्शनं ध्रुवं कर्त्तुं शक्नुयात् सर्वथैव सः ॥

हे विज्ञानविद्ब्राह्मणों! सप्तअज्ञानभूमि और सप्तज्ञानभूमिसे ही भलीभाँति पूर्ण परमाद्भुत महाकाश-गोलक है। उस गोलकके नीचेके सात स्तर सप्तच्छायासे पूर्ण हैं और ऊपरके सात स्तर सप्तज्योतिसे ही पूर्ण हैं तथा नीचेके चार छाया स्तर चतुर्विध भूतसंघके समष्टिचिदाकाशसे पूर्ण हैं। उसके ऊपरकी तीन अज्ञानभूमियोंके स्तर तथा सात ज्ञानभूमियोंके स्तर ये दश स्तर दशविध अधिकारोंको धारण करके समस्तमानव और दैवपिण्डमें व्याप्त हैं। इस कारण हे विज्ञानविद्वरो! इन दशों अधिकारोंमें ही निम्नसे निम्नतर और उच्चसे उच्चतम सब हितकर दार्शनिक अधिकार सम्मिलित हैं यह निश्चय है। मेरी वह अघटन घटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्त होकर महाकाश-गोलकमें प्रकाशित है। हे विप्रो! वही विद्यारूपसे ऊपरकी सप्तभूमिकाओंमें और अविद्यारूपसे नीचेकी सप्तभूमिकाओंमें परिव्याप्त है। इन सप्तच्छाया और सप्तज्योतियोंसे पूर्ण महाकाश-गोलकको आधाररूपसे

मेरी जड़ा प्रकृति नित्य ही धारण कर रही है और मैं शुद्ध चिन्मय होकर उसके ऊपर स्थित हूँ। इस अध्यात्म-गोलकका दर्शन जिस ज्ञानवान्को ही होता है वह निश्चय ही मेरे दर्शन करनेमें सर्वथा समर्थ होता है।

ऊपर वर्णित ज्ञान-गोलकरूपी औपनिषदिक दृश्यके मनन करने-से अज्ञान और ज्ञान-भूमियोंके विस्तार तथा दोनोंमें अलग-अलग अविद्या और विद्याके निलयका रहस्य ज्ञानवान् व्यक्तिको बहुत सुगमतासे समझमें आजाएगा ॥ १८६ ॥

पहलीका वर्णन कर रहे हैं—

ज्ञानदा ॥ १८७ ॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

आद्यायां ज्ञानदानाम्न्यां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः।
अन्तर्दृष्टिं लभेरंस्ते तत्त्वजिज्ञासवो द्विजाः॥
तदा जिज्ञासवो नूनं परमाणुस्वरूपतः।
स्थूलान्येव ममाङ्गानि ज्ञात्वा नित्यानि सर्वथा॥
षोडशधा विभक्तानि दृष्ट्वा तान्येव मे पुनः।
वादसाहाय्यतो वापि पर्य्यालोचनलोचनैः॥
सृष्टिं निरीक्ष्य तस्याश्च कर्त्तारं केवलं हि माम्।
शक्नुवन्ति बुधाः विप्राः अनुमातुं कुलालवत्॥

ज्ञानदा ॥ १८७ ॥

अस्याञ्च ज्ञानभूमौ हि क्षेत्रे तत्त्वज्ञ मानसे ।
आत्मज्ञानीय बीजस्य प्ररोहो जायते ध्रुवम् ॥
एनां वदन्ति भूमिं वै ज्ञानदां ज्ञानिनो जनाः ।
ददात्येषा यतो भूमिर्ज्ञानं नित्यं मुमुक्षवे ॥
आरूढानां ज्ञानभूमावेतस्यां नियमेन च ।
ममोपास्तौ प्रवृत्तानां येन केन प्रकारतः ॥
मुमुक्षूणां ध्रुवं चित्ते ज्ञानवायुप्रकम्पितम् ।
मूलमज्ञानवृक्षस्य सर्वथा शिथिलायते ॥

हे तत्त्वजिज्ञासु ब्राह्मणो ! ज्ञानदानाम्नी प्रथम ज्ञानभूमिमें वे मुमुक्षु अन्तर्दृष्टिप्राप्त करने लगते हैं । हे ब्राह्मणों ! उस समय जिज्ञासु पण्डितगण मेरे स्थूलअवयवोंको ही परमाणुरूपसे सर्वथा नित्य जानकर और उन्हीं मेरे स्थूलअवयवरूप विभागोंको षोडश संख्यामें विभक्त देखकर ही वादकी सहायतासे अथवा पर्य्यालोचनादृष्टिके द्वारा सृष्टिको देखकर और मुझको कुलालके समान केवल उस सृष्टिके कर्त्तारूपसे ही अनुमान करनेमें समर्थ होते हैं । इसी प्रथम ज्ञानभूमियोंमें तत्त्वज्ञानीके हृदयरूप क्षेत्रमें आत्मज्ञानरूप बीजका अंकुर निश्चय उत्पन्न होता है । इस कारण ज्ञानीलोग इस ज्ञानभूमिको ज्ञानदा कहते हैं । क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षुको नित्य ज्ञानप्रदान करती है । इस ज्ञानभूमिमें पहुँचे हुए और किसी न किसी प्रकारसे मेरी उपासनामें नियमपूर्वक लगे हुए मुमुक्षुओंके चित्तमें ज्ञानवायुसे भलीभाँति कँपाया हुआ अज्ञानवृक्षका मूल सर्वथा शिथिल हो जाता है । इस प्रथम

ज्ञानभूमिमें जो अनुभव होता है उसकेलिए स्मृतियोंमें भी लिखा है :—

यत्किञ्चिदासीद् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्यायाः भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥

मुझे जो कुछ जानता था सो सब कुछ जान लिया है ऐसी बुद्धिका होना प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। वस्तुतः न्यायदर्शन इस भूमिका दर्शनशास्त्र है ऐसा मान सकते हैं॥ १८७॥

दूसरीका वर्णन करते हैं—

सन्न्यासदा॥ १८८॥

इस विषयका स्मृतिशास्त्रोंमें ऐसा प्रमाण है—

सन्न्यासदाभिधायां हि ज्ञानभूम्यां प्रतिष्ठिताः।
मुमुक्षवः शरीरं मे स्थूलमल्पशरीरतः॥
सम्पश्यन्तो ममाङ्गेषु स्थूलेष्वेव महर्षयः।
कुर्वन्तः सूक्ष्मशक्तीनामनुभूतिं निरन्तरम्॥
धर्म्माधर्मौ च निर्णीय ह्यधर्मं त्यक्तुमीशते।
ज्ञानभूमिर्द्वितीयाऽत एषा सन्न्यासदोच्यते॥

हे महर्षियों! सन्नासदानाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमिमें स्थित मुमुक्षु ही मेरे स्थूलशरीको कुछ निकटसे देखते हुए मेरे स्थूलअवयवोंमें सूक्ष्मशक्तियोंका निरन्तर अनुभव करते हुए और धर्माधर्मका

सन्न्यासदा॥ १८८॥

निर्णय करके अधर्मके त्याग करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण इस दूसरी ज्ञानभूमिका नाम सन्न्यासदा कहा जाता है। इस द्वितीय ज्ञानभूमिके अनुभवके सम्बन्धमें स्मृतिमें लिखा है :—

"त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः ।"

मुझे त्यागना था सो त्याग दिया है यह दूसरी ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है।

पदार्थविद्याके द्वारा स्थूलप्रकृतिके रहस्योंको समझकर अधर्मके त्याग और धर्मकी प्राप्तिमें यत्नशील होकर तत्त्वज्ञानी इस भूमिमें कार्य्य और कारणका स्वरूप जानकर इन्द्रिय प्रवृत्तिका त्याग कर देता है, यही इसका संक्षेप स्वरूप है। इस भूमिके उपयोगी वैशेषिकदर्शनको मान सकते हैं ॥ १८८ ॥

तीसरीको कह रहे हैं—

योगदा ॥ १८९ ॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्रोंमें ऐसा प्रमाण मिलता है—

योगदायां तृतीयायां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
चित्तवृत्तिनिरोधस्य कुर्वन्तोऽभ्यासमुत्तमम् ॥
मच्छक्तिं संयमेनैतां माम्पुनर्ब्राह्मणोत्तमाः ।
अभ्यासे नैकतत्त्वस्य पृथक्त्वेन निरीक्षितुम् ॥
यस्मिन्काले प्रवर्तन्ते सूक्ष्मदृष्टिस्वरूपकम् ।
साधकेषु तदोदेति प्रत्यक्षं नन्वलौकिकम् ॥

योगदा ॥ १८९ ॥

ज्ञानभूमिमिमां विज्ञा योगदाञ्च वदन्त्यतः।
चित्तवृत्तिनिरोधं यद्योगमेषा ददात्यलम्॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! योगदानाम्नी तीसरी ज्ञानभूमिमें मुमुक्षु चित्तवृत्ति निरोध करनेका उत्तम अभ्यास करते हुए संयमके द्वारा इस मेरी शक्तिको और एकतत्त्वके द्वारा मुझको अलग अलग रूपसे देखनेमें जब प्रवृत्त होते हैं, उस समय साधकोंमें सूक्ष्म-दृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्षका उदय होता है। इसी कारण विज्ञलोग इस ज्ञानभूमिको योगदा कहते हैं। क्योंकि यह चित्त-वृत्ति निरोधरूपी योगको भलीभाँति प्रदान करती है। इस तीसरी भूमिके अनुभवके सम्बन्धमें शास्त्रमें लिखा है कि :—

"प्राप्या शक्तिर्मया लब्ध्वाऽनुभवो हि तृतीयकः।"

मुझे जो शक्ति प्राप्त करती थी सो प्राप्त कर ली है यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। इस भूमिकेलिये योगदर्शन ही पथ-प्रदर्शक है॥ १८९॥

चतुर्थी कही जाती है—

लीलोन्मुक्ति॥ १९०॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें उल्लेख है—

लीलोन्मुक्तिं चतुर्थीं वै ज्ञानभूमिं प्रपद्य च।
अघट्यघटनायां हि पटीयस्या मुमुक्षवः॥
त्रैगुण्यलीलयामय्या तत्त्वं मे प्रकृतेर्विदुः।
तदा लीलामयी स्वस्यां लीलायां प्रकृतिः पुनः॥

लीलोन्मुक्तिः॥ १९०॥

ना सज्जयितुमीष्टे तान् साधकान् विज्ञसत्तमाः ।
लीलोन्मुक्तिं बुधाः प्रोचुर्ज्ञानभूमिमिमामतः ॥

हे विज्ञवरो ! लीलोन्मुक्तिनाम्नी चतुर्थी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर ही मेरी लीलामयी अघटनघटना पटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके तत्त्वको मुमुक्षु निश्चय ही पहचान लेते हैं। वह लीलामयी प्रकृति अपनी लीलामें उन साधकोंको पुनः नहीं फँसा सक्ती, इस कारण इस ज्ञानभूमिको बुधगणने लीलोन्मुक्ति कहा है। इस चतुर्थी भूमिके सम्बन्धमें पुनः स्मृतिमें लिखा है :—

'मायाविलसितञ्चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि ।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥'

यह मायाकी लीला मुझे सब ही दिखायी देती है, मैं उसमें मोहित नहीं होता यह चतुर्थ ज्ञानभूमिका अनुभव है। इस ज्ञान-भूमिका दर्शनशास्त्र सांख्यदर्शन ही है।

जिस दर्शनसे प्राप्त हुये ज्ञाननेत्रद्वारा उस समय तत्त्वज्ञानीके चिदाकाशके दो तट होते हैं। जिसके एक तटमें पुरुष और दूसरे तटमें प्रकृति अनादि अनन्तस्वरूप धारण करके प्रकट रहते हैं ॥ १९० ॥

पाँचवीं कह रहे हैं—

सत्पदा ॥ १९१ ॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्र भी ऐसा कहते हैं—

सत्पदा ॥ १९१ ॥

पञ्चमीं ज्ञानभूमि ते यदा सम्प्राप्य सत्पदाम्।
अभेदज्ञानमाप्तुं वै चित्ते स्वस्मिन्मुमुक्षवः॥
आरभन्ते तदा तेषामनुभूतेर्हि शक्तयः।
विशेषेण विवर्द्धन्ते नात्र कार्य्या विचारणा॥
अस्त्वेकत्वादभेदो यो मन्मत्प्रकृतिगोचरः।
यो वा भेदोऽस्ति मे विप्राः! कार्याकारणरूपयोः॥
तं वैज्ञानिकनेत्रेण विस्पष्ट ज्ञातुमीशते।
ज्ञात्वा सम्यग् रहस्यञ्च विश्वोत्पादककर्मणः॥
जगदेवास्म्यहमिति मां निरीक्ष्य विचारतः।
कार्य्यब्रह्मण एतस्य विबुध्यन्ते स्म सत्यताम्॥
एनां वदन्ति विद्वांसो भूमि वै सत्पदामतः।
सद्भावस्य यतोऽमुष्या ज्ञान लोकैरवाप्यते॥

सत्पदानाम्नी पञ्चमी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर वे मुमुक्षु जब अपने ही अन्तःकरणमे अभेदज्ञानको प्राप्त करने लगते है, उसी समय उनकी अनुभव-शक्तियां विशेष बढ़ने लगती हैं इसमें विचारनेकी बात नहीं है। हे विप्रो! एकत्वके कारण मुझमें और मेरी प्रकृतिमे जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्य-स्वरूपमे जो अभेद है वैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा उसको वे स्पष्टरूपसे समझनेमे समर्थ होते हैं। और जगदुत्पत्तिकारक कर्म्मका रहस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मै हूँ, इस विचारसे मुझको देखकर इस कार्य्यब्रह्मकी सत्यता जान लेते हैं। इसी कारण इस ज्ञानभूमिको ही विद्वान् लोग सत्पदा कहते है। क्योंकि इसके

द्वारा सद्भावका ज्ञान लोगोंको प्राप्त होता है। इस पाँचवीं ज्ञान-भूमिके सम्बन्धमें और भी स्मृतिमें लिखा है :—

जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः ॥

जगत् ही ब्रह्म है यह पञ्चम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शन तथा महर्षि जैमिनीकृत दर्शनके मननद्वारा इस ज्ञानभूमिका अधिकार प्राप्त होता है ॥ १९१ ॥

छठवींका वर्णन कर रहे हैं—

आनन्दपदा ॥ १९२ ॥

इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें यह कहा गया है—

नन्वानन्दपदां षष्ठीं ज्ञानभूमिं प्रपद्य वै।
एकाधारे तु मय्येव मम भक्ताः मुमुक्षवः ॥
कर्मराज्यं जडं विप्राः! दैवराज्यञ्च चेतनम्।
शक्नुवन्ति यदा द्रष्टुं तदा मे रससागरे ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तो जगदित्यहमेव माम्।
समीक्षमाणा अद्वैतमानन्दमुपभुञ्जते ॥
बुधाः सम्प्रोचुरानन्दपदां भूमिमिमामतः।
आनन्दः साधकैर्यस्मादस्यां भूमाववाप्यते ॥

हे विप्रो! आनन्दपदानाम्नी षष्ठी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर ही मेरे भक्त मुमुक्षु मुझमें ही जड़मय कर्मराज्य और चेतनमय-दैवराज्यको एकाधारमें जब देखनेमें समर्थ होते हैं, तब वे मेरे

आनन्दपदा ॥ १९२ ॥

रससागरमे उन्मज्जन निमज्जन करते हुए 'मै ही जगत् हूँ' इस प्रकार मुझको देखकर अद्वैत आनन्दका उपभोग करते हैं। इसी कारण इस ज्ञानभूमिको बुधगण आनन्दपदा कहते हैं। क्योंकि इस भूमिमे साधक आनन्द प्राप्त करते है। इस छठवीं ज्ञानभूमिके सम्बन्धमे स्मृतिमे लिखा है कि :—

"ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते।"

ब्रह्म ही यह जगत् है निश्चय यह षष्ठ ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है।

इस ज्ञानभूमिका विशेष परिचय करानेवाला भक्तिमार्गका भित्तिरूप उपासनाका मीमांसाशास्त्र 'दैवीमीमांसा' नामक दर्शन ही अवलम्बनीय है। अलौकिक बुद्धिगम्य सूक्ष्मदैवराज्यको दिखानेवाला यह दर्शन वेदके उपासनाकाण्डका मीमांसक है॥ १९२॥

सातवीं कह रहे है—

परात्परा ॥ १९३ ॥

इस विषयमे स्मृति यह कहती है—

अन्तिमां ज्ञानभूमि मे सप्तमीञ्च परात्पराम्।
सम्प्राप्य ज्ञानिनो भक्ताः कार्यकारणयोर्द्विजाः॥
भेददृष्टिलयं कृत्वा स्वरूपे यान्ति मे लयम्।
भेदज्ञानलयेनैव तेषा शुद्धान्तरात्मनि॥

परात्परा ॥ १९३ ॥

सर्वेषु प्राणिवृन्देषु किलैकत्वप्रदर्शकम्।
अद्वैतभावजनकाऽविभक्त - ज्ञानमुत्तमम् ॥
उदेति नात्र सन्देहोऽज्ञानध्वान्तापनोदकम्।
तदा मे ज्ञानिभक्तेषु मयि भेदश्च नश्यति ॥
लीयन्ते मत्स्वरूपे ते स्वरूपज्ञानसंश्रयात्।
अतो वदन्ति विद्वांस इमां भूमिं परात्पराम् ॥

हे विप्रो! परात्परानाम्नी सप्तमी और अन्तिम ज्ञानभूमिमें मेरे ज्ञानीभक्त पहुँचकर कार्यकारिणी भेददृष्टिका लय करके मेरे स्वरूपमें लय हो जाते हैं। और भेदज्ञानके लय होनेसे ही उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें सर्वभूतोंमें ऐक्यप्रदर्शक अज्ञानान्धकाराप-नोदक और अद्वैतभाव उत्पादक अविभक्त ज्ञानका उत्तम रीतिसे उदय होता है इसमें सन्देह नहीं है। उस समय मेरे ज्ञानीभक्तोंमें और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है। वे मेरे स्वरूपमें स्वरूप-ज्ञानके अवलम्बनसे विलीन हो जाते हैं। इसी कारण इस भूमिको विद्वान् लोग परात्परा कहते हैं। इस सातवीं ज्ञानभूमिके सम्बन्धमें स्मृतिमें और भी लिखा है कि :—

"अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः ॥

मैं अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ, ऐसी बुद्धि सप्तम ज्ञानभूमिका अनुभव माना गया है। इस भूमिको प्राप्त

करके ही साधक ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। हे मुनि श्रेष्ठो! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ब्रह्ममीमांसादर्शन तथा नाना उपनिषद् इस अन्तिमज्ञान-भूमिके अधिकार प्राप्त करानेकेलिये परम सहायक हैं। जिस प्रकार उच्च प्रासादपर चढ़नेकेलिये सोपान ही एकमात्र सहायक है, उसी प्रकार इन सात सोपान श्रेणीरूपी ज्ञानभूमियोंको अतिक्रम करके परमानन्दमय स्वस्वरूप पारावारमें जीव आनन्दसे विलीन होता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंद्वारा ही इन ज्ञानभूमियोंमें यथाक्रम गति तत्त्वज्ञानीकी होती है। वैदिक सप्तदर्शन इन ज्ञान-भूमियोंमें यथाक्रम पथ-प्रदर्शक बने रहते हैं॥ १९३॥

विचार सविचार भेद निर्णय कर रहे हैं—

उनमें चार विज्ञानशून्य और अन्य वैज्ञानिक हैं॥१९४॥

सात अज्ञानभूमि और सात ज्ञानभूमि इस प्रकारसे चौदह हैं। इन चौदह भूमियोंमेंसे प्रथम चार विज्ञानसे शून्य हैं और बाकी दस विज्ञान समन्वित हैं। समष्टि उद्भिज, समष्टि स्वेदज, समष्टि अण्डज और समष्टि जरायुजके चिदाकाशकी जो चार अज्ञानभूमियाँ हैं, वे जड़राज्यके जीवोंसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण उनमें विज्ञानका विकाश किसी प्रकारसे हो ही नहीं सकता है। इस कारण उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारका दार्शनिक विचार स्थापन करनेका कोई अवसर ही नहीं है। उसके उत्तरकी तीन

तत्र ज्ञानशून्याश्चतस्रो वैज्ञानिका अन्याः॥ १९४॥

अज्ञानभूमि जो मनुष्यशरीरमें प्राप्त होती हैं, और आत्मज्ञानपूर्ण सात ज्ञानभूमि इस प्रकारसे इन दस भूमियोंमें वैज्ञानिक सम्बन्ध यथाधिकार है। और उसके अनुसार यथाधिकार दार्शनिक अधिकार भी पाये जाते हैं। सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार सप्त वैदिकदर्शनोंका होना तो जगत् प्रसिद्ध ही है, अन्य तीन भूमियोंकेलिये अनेक अवैदिक दर्शन भी पाये जाते हैं ॥ १९४ ॥

उनसे कर्मका सम्बन्ध दिखाते हैं—

इस कारण पापबुद्धि और पुण्यबुद्धिका इतना वैचित्र्य है ॥ १९५ ॥

नर-नारीके अधिकार भेद अनेक हैं। प्रथम तो मनुष्यजाति तीन अज्ञानभूमि और सात ज्ञानभूमि इस प्रकारसे दस अधिकारके होते हैं। पुनः वे त्रिगुणके अनुसार त्रिविध होते हैं। पुनः उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति विभिन्न प्रकारकी होती है। इस कारण संसारमें पापवैचित्र्य और पुण्यवैचित्र्य इतना अधिक दिखाई देता है। वस्तुतः मनुष्यलोकमें पापबुद्धि और पुण्यबुद्धि अनेक प्रकारके देखनेमें आती है उसका कारण यही है ॥ १९५ ॥

और भी कह रहे हैं—

सब ग्रहणमें यह असमर्थ है ॥ १९६ ॥

पूर्वोल्लिखित कारणसे ही सबकी बुद्धि सब पदार्थग्रहण नहीं

अतो बुद्धिवैचित्र्यमियत्पापपुण्ययोः ॥ १९५ ॥

न सर्वादानक्षमत्वमस्याः ॥ १९६ ॥

कर सकती है। जिस प्रकार पाप और पुण्यके अधिकार अनेक दिखाई देते हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान और अज्ञानभूमिके भेदके अनुसार मनुष्योंकी बुद्धि नानाप्रकारकी होती है। इस कारण सब बुद्धि सब विषय ग्रहण नहीं कर सकती हैं ॥ १९६ ॥

और भी कहते हैं--

सब विषय सबके द्वारा नहीं जाना जाता है ॥ १९७ ॥

इसी बुद्धि वैचित्र्यके कारण सब नर-नारी सब विषय समानरूपसे ग्रहण करनेमें असमर्थ होते हैं। पूर्व जन्मार्जित तथा पूर्वसंगृहीत संस्कारोंके बलसे मनुष्यको अज्ञान और ज्ञानाधिकार और बुद्धि प्राप्त होती है। इस कारण सब लोग सब विषयको समझ नहीं सकते हैं। कोई कामप्रधान विषय अधिक समझ सकता है, कोई अर्थप्रधान विषय अधिक समझ सकता है, कोई धर्मप्रधान विषय अधिक समझ सकता है और कोई मोक्षप्रधान विषय अधिक समझ सकता है। कोई सूक्ष्म विषय अधिक समझ सकता है, कोई स्थूलविषय केवल समझ सकता है। इस कारण सब लोग सब विषयको नहीं समझ सकते हैं ॥ १९७ ॥

निष्कर्ष कह रहे हैं--

इस कारण अधिकारकी अपेक्षा है॥ १९८ ॥

वेद और शास्त्रोंमें जो वर्णके अधिकारभेद, आश्रमके अधि-

न वा सर्ववेदित्वं सर्वेषाम् ॥ १९७ ॥

अतोऽधिकारोऽपेक्ष्यः ॥ १९८ ॥

कारभेद अध्ययनके अधिकारभेद, आचारके अधिकारभेद और विशेष धर्मके नाना अधिकार भेद पाये जाते हैं; वे सब अधिकार-भेद पूर्वकथित अकाट्य दार्शनिक सिद्धान्तपर ही स्थित हैं। जो मनुष्य श्रेणी, धर्मसम्प्रदाय अथवा धर्ममत आदि धर्म और आचार आदिके अधिकारभेदको नहीं मानते हैं, वे बहुत ही भ्रम और प्रमादमें पतित होते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ १९८ ॥

मुक्तिप्रसङ्गसे पुनः कहते हैं—

त्रिभावके समान जीवन्मुक्तका अनुभव त्रिविध होता है ॥ १९९ ॥

सत्, चित् और आनन्दरूपी त्रिभावके अनुसार जब भगवत्भावका दर्शन त्रिभावात्मक होना सम्भव है, तो उसीके अनुसार जीवन्मुक्त अवस्थामें अन्तःकरणकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र स्थिति-के अनुसार उनके अन्तःकरणकी अलौकिक धारणा भी त्रिविध होती है। इस लोकातीत और बुद्धिसे अगोचर रहस्यके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है—

मनसा मनसि च्छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ॥
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ।
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मका ॥
भ्रष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इति नामिका ।
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ॥

जीवन्मुक्तानुभवस्त्रिविधस्त्रिभाववत् ॥ १९९ ॥

मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शारदाकाशकोशवत्।
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिन्त्यापलं गता॥
समस्तसामान्यवती भवतीर्णं भवार्णवा।
अपुनर्भव सौषुप्तपद पाण्डित्य–पीवरी॥
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे।
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम्॥
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र! शक्तेरस्याः सुपावनम्।
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी॥
सर्वंज्योति स्तमोयुक्ता विततकाशसुन्दरी।
घनसौसुप्त लेखावाच्छिलान्तः सन्निवेशवत्॥
सैववान्तस्थरसवद्वातान्तः स्पन्दशक्तिवत्।
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा॥
शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा।
चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्बिव चापलम्॥
बातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम्।
कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकला कला॥
न जड़ा नाऽजड़ा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम्।
दिक्कालाद्यवनच्छिन्न महासत्ता पदं गताम्॥
तूर्यं तूर्यांश-कलितामकलङ्का-मनामयाम्।
काञ्चिदेव विशालाक्ष साक्षिवत् समवस्थिताम्॥
सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादु तत्पराम्।
एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत॥

तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदांवर।
एषादृक् चेत्यबलनादनामार्थां पदं गता॥
ब्रह्मात्मेत्यादि शब्दार्थाऽतीतोदेति केवला।
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना॥
तूर्यातीतादि नामत्वादपि याति परं पदम्।
सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः॥
चित्त्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः।
चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्वाध्वध्वगदूरगाः॥
सा ममाप्यङ्ग वचसां न समायाति गोचरम्।

अर्थात्—जब शुद्धमनके द्वारा इन्द्रियपरायण मलिन मनछिन्न होता है तथा परमात्माकी सत्यप्रभाके द्वारा जगज्जालप्रछन्न और विलीन हो जाता है, तब कल्पनारूपी संसार कलना आमूल नाशको प्राप्त हो जाती है। उस समय जीवकी सत्ता भर्जित बीजकी तरह हो जाती है। वह सांसारिक विषयोंको उस समय देखनेपर भी आसक्तिशून्य हो जाता है और मनोमोहरूप मेघ-जालसे निर्मुक्त होकर शरत्कालीन आकाशकी तरह अवस्थान करती है। इस प्रकारसे जो सत्ता पूर्वमें प्रकृतिके संगसे विषय-चञ्चल थी वह शुद्ध चिद्भावमें स्थित होकर जीवितदशामें ही संसारसिन्धुसे मुक्त हो जाती है। उस समय जीवन्मुक्त महापुरुष पुनर्जन्म बीजरहित ज्ञानमय परमानन्दपदमें सदा ही विश्रान्ति लाभ करते हैं। हे विप्रेन्द्रगण! मनोनाशके बाद योगारूढ़ पुरुषको जो प्रथम पद प्राप्त होता है सो मैंने आपके निकट वर्णन किया

है। अब उसका द्वितीयपद सुनिये। द्वितीयदशामें मनसे उन्मुक्त शान्तिशालिनी वह चित्सत्ता समस्त ज्योति तथा तमसे मुक्त विशाल आकाशकी तरह विराजमान रहती है। तदनन्तर कालक्रमसे गाढ़ सुषुप्तिदशाके अनुभवकी तरह प्रस्तरके अन्तर्गत कठिनताकी तरह, सैन्धवके अन्तर्गत रसकी तरह या वायुके अन्तर्गत स्पन्दशक्तिकी तरह जब समस्त स्थितिके साररूपसे अवस्थित होती है, तब वह चित्सत्ता आकाशकी शून्यशक्तिकी तरह परमाकाशगत होकर बाह्यविषयके प्रति उन्मुखताको एक बार ही त्याग करके स्थिर समुद्रकी तरह निश्चलरूपसे अवस्थान करती है। इसके अनन्तर सूक्ष्मपवनके स्पन्द त्यागकी तरह, कुसुमलेखाके सौरभ त्यागकी तरह, कालत्व और आकाशत्वको भी परित्याग करके इन जीवन्मुक्त योगियोंकी सत्ता समस्त दृश्य वस्तुओंके सम्पर्कसे सकल प्रकारसे मुक्ति लाभ करती है। उस समय उनकी सत्ता जड़-अजड़ दोनों भावोंसे मुक्त होकर एक अपरिछिन्न अनिर्वचनीय भावको धारण करती है। देशकालके द्वारा उस महासत्ताका परिच्छेद नहीं होता। निष्कलंक, अनामय और प्रकाशमानरूपसे निखिल वस्तुका प्रकाश और आनन्दसत्तासे भी उत्कृष्टतर प्रकाश और आनन्दरूपमें अनिर्वचनीय विशालात्म होकर वह साक्षीकी तरह अवस्थान करती है। हे सुव्रतमुनिगण! चित् सत्ताकी यह द्वितीय अवस्था मैंने कही। अब तृतीय अवस्था सुनिये। इस अवस्थामें वह चित्सत्ता ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति और क्षीर-नीरकी तरह ब्रह्मके साथ एक ही भाव-

प्राप्त होनेसे नामरूपसे अतीत होनेके कारण ब्रह्म आत्मा इत्यादि संज्ञासे भी अतीत होकर केवल रूपसे अवस्थान करती है। उस समय जीवन्मुक्तकी सत्तामें किसी प्रकारका विकार न रहनेसे वे कालसे भी स्थिर तमसे अतीत, स्वस्वरूपमें निष्कलंक होकर तुरीयातीतादि नामसे अतीत हो परम्भावमें अवस्थान करते हैं। उनकी चित्सत्ता अपने मंगलभावमें सर्वप्रधान पराकाष्ठाप्राप्त केवल चिद्रूपा देशकाल वस्तुतः अपरिच्छिन्ना और परमपवित्रा होनेसे तृतीय स्थानी है। चित्सत्ताकी यह अवस्था समस्त पथ और समस्थ पथिकके पुरुषार्थसे दूरवर्ती होनेके कारण मेरे भी वाक्यके गोचर नहीं होती ॥ १९९ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

उसकी गति स्वाभाविक होनेसे ॥ २०० ॥

जीवन्मुक्त जब सहजकर्मके प्रभावमें पुनः सर्वथा पड़ जाता है और जैव आदि कोई कर्म उसको बाधा देनेमें समर्थ नहीं होते, तो सरल प्रवाहमें पतित वस्तुकी तरह उसका अन्तःकरण क्रम-प्राप्त अवस्थाओंमें होकर दृढ़ताके साथ स्वस्वरूपमें मग्न होनेकेलिये अग्रसर होता है। जैसे नदी समुद्रसे मिलते समय और समुद्रके साथ तादात्मभावको धारण करते समय समुद्रगर्भमें पहुँचकर भी कुछ रूपान्तरको धारण करती हुई अन्तमें अद्वैतसत्तामें परिणत होती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषका अन्तः-

---

तद्गतेः स्वाभाविकत्वात् ॥ २०० ॥

करण सहजकर्मके स्वाभाविक तथा अन्तिम वेगको धारण करते हुये पूर्वकथित अनुभवोंको प्राप्त करते हैं, नहीं तो स्वस्वरूपका अनुभव एकरस और अद्वैतभावापन्न ही है। इस गम्भीर विज्ञान-को अनुभव करनेमें जिज्ञासुको यह शंका हो सकती है कि क्या इस अवस्थामें कुछ कमी रहती है जो ऐसा विभिन्न भावका अनुभव सम्भव हो? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि सहजकर्मका अन्तिम वेग होनेके कारण ऐसा होना सम्भव नहीं, परन्तु जब पुरुषसे प्रकृतिका व्यक्त होना और त्रिगुणमयी प्रकृतिके स्पन्दनके साथ कर्मका सम्बन्ध रहना अलग-अलग अवस्थाओंको धारण करता है, तो सहजकर्मका अन्तिम वेग होने-पर भी कुछ अचिन्त्य भेदाभेदकी यह दशा है, इसको मानना ही पड़ेगा। उस समय स्वरूपकी उपलब्धि अवश्य हो जाती है, और इन दशाओंका स्वतः उत्तरोत्तर परिणाम होकर अन्तमें स्वस्वरूपकी प्रतिष्ठा भी निश्चित है; यही इस शंकाका समाधान है॥ २००॥

प्रसङ्गसे कर्मका महत्त्व कह रहे हैं--

ज्ञानीको भी कर्म करना पड़ता है॥ २०१॥

कर्मकी सर्वोपरि महिमा यह है कि चाहे किसी अवस्थाका तत्त्वज्ञानी हो, चाहे जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी हो, उसको कर्म करना अवश्य ही पड़ेगा। शारीरिककर्मके विना शरीर ही नहीं रह

कर्मनिष्पादकत्वं ज्ञानिनामपि॥ २०१॥

सकता। अतः उन्नतसे उन्नत ज्ञानका अधिकारी जब पक्षान्तरसे कर्मके अधीन है, तो कर्मका अधिकार सर्वोपरि है इसमें सन्देह नहीं ॥ २०१ ॥

और भी कह रहे हैं—

भक्तोंको भी ॥ २०२ ॥

जिस प्रकार आरुरूक्षु मुनि ज्ञानार्जनकी अवस्थामें श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूपी कर्मको तो अवश्य करता है और योगारूढ़ जीवन्मुक्तदशामें भी सहजकर्मका अधिकारी बना रहता है जैसा पहले कई बार अच्छी तरह कहा गया है। उसी प्रकार भक्तको भी उन्नतसे उन्नत अवस्थामें कर्म करना पड़ता है। भक्ति-शास्त्रके किसी किसी आचार्य्यके मत सम्बन्धीय शंका समाधानमें पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। भक्तिशास्त्रके किसी किसी आचार्य्यकी सम्मति यह है कि केवल आत्मनिवेदनसे ही भक्तिकी पराकाष्ठा होती है। यद्यपि भक्ति-प्राप्तिके और भी अनेक उपाय विभिन्न आचार्य्योंने वर्णन किये हैं परन्तु यह मत प्रशस्त है। आत्मनिवेदन मानसकर्म है, और दूसरी ओर भक्तका शारीरिककर्म जो सहजात है, वह रहता ही है इस कारण चाहे कैसा ही भक्त हो उसका कर्मत्याग करना असम्भव है ॥ २०२ ॥

भक्तानामपि ॥ २०२ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

शरीर रहने तक उसका ज्ञान असम्भव होनेसे ॥२०३॥

जबतक शरीर है, तबतक कर्म है। जब प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति है, और शरीर प्राकृतिक है, तो शरीर रहते कर्मका अभाव होना असम्भव है। इसी कारण कर्मगतिवेत्ता आचार्य्योंने कर्मकी सर्वोपरि महिमा कही है ॥ २०३ ॥

अब निःश्रेयस प्रसङ्गसे कह रहे हैं—

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना कर्मयोगका विज्ञान है ॥ २०४ ॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, शरीर रहते कर्मका अभाव असम्भव है। अतः यदि कर्मके न करनेका प्रयत्न किया जाय, तो भी शारीरिक कर्मका होना अनिवार्य्य है। इन्द्रियादियोंको यदि बलपूर्वक रोक भी दिया जाय, तो भी मनसे काम होता रहेगा। क्योंकि मन दुर्निग्रह और चञ्चल स्वभाव है और विना संकल्प-विकल्पसे उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता है। अतएव बलपूर्वक कर्मको रोकनेकी अवस्थामे कर्मका होना जो लोग अनुभव करते हैं, और जो कामनारहित होकर कर्म करनेमें

आशरीरं तद्ज्ञानासम्भावात् ॥ २०३ ॥

मिथः कर्माकर्मेक्षणं कर्मयोगविज्ञानम् ॥ २०४ ॥

वास्तवमें कमका न होना समझते हैं, वे ही कर्मयोगी है। क्योंकि निष्काम कर्म भर्जित बीजवत् होता है ॥ २०४ ॥

उसका फल कह रहे हैं—

मुक्तिका कारण है ॥ २०५ ॥

जब विना कर्म किये मनुष्य रह नहीं सकता, और कर्मयोगके द्वारा वस्तुतः कर्म भ्रष्टबीज होकर ज्ञान प्राप्त होता है, तो कर्मयोग ही मुक्तिका कारण है। कर्मकाण्डका अन्तिम सिद्धान्त कर्मयोग ही है और वह निःश्रेयसप्रद है ॥ २०५ ॥

कर्मयोगीको सावधान करनेकेलिये कहते हैं—

अभिनिवेश तक कर्म दुःखद नहीं होता ॥ २०६ ॥

कर्म करते करते अभिनिवेश हो सकता है। यद्यपि बिना अभिनिवेशके उच्च अधिकारके कर्मयोगी स्वभाव सिद्धरूपसे कर्म कर सकते हैं; परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक नियमके अनुसार कर्म करते करते अभिनिवेश होना सम्भव है। दीर्घकाल तक निरन्तर कर्म करते रहनेपर अभिनिवेश हो सकता है, दूसरी ओर अभिनिवेशसे कर्म भी अच्छा बनता है। सुतरां कर्मयोगके पथिककेलिये कहा जाता है कि अभिनिवेश हो जानेपर भी तत्त्वज्ञानी कर्मयोगपरायण व्यक्तिकेलिये वह कर्म दुःखप्रद नहीं होता है ॥ २०६ ॥

मुक्तिहेतु ॥ २०५ ॥

अभिनिवेशादा कर्म न दुःखदम् ॥ २०६ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

क्षणिक होनेके कारण उससे बन्धन नहीं होता है ॥ २०७ ॥

किसी कर्मको यदि अभिनिवेशके साथ किया जाय, तो कर्म अच्छा बनता है। इस कारण कर्मयोगियोमें अभिनिवेशका होना अनेक स्थलोमे सम्भव होता है; परन्तु उनका अन्तःकरण यदि तत्त्वज्ञानज्योतिसे पूर्ण रहे और वासनाकल्मषसे रहित रहे, तो उनका वह अभिनिवेश क्षणिक होता है इसमें सन्देह नहीं। जब वह अभिनिवेश क्षणिक होता है, तो दूसरे क्षणमे उसका अभाव भी हो जाता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान और निष्कामभाव अभिनिवेशका हान करता है। अतः अभिनिवेश क्षणिक होनेसे उसकेद्वारा विशेष क्षति नहीं होती ॥ २०७ ॥

और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

चित्तभूमिके परिवर्त्तन न होनेसे भी ॥ २०८ ॥

यदि योगिराज महापुरुष आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके हों और उनका चित्त कामनाविरहित हो, तो उनके चित्तका व्युत्थान भी क्षणिक होगा। उनके चित्तकी भूमि स्वरूपकी धारणासे सदा एकरस रहेगी। कर्मको भलीभांति करते समय चाहे कितने ही

तस्मान्न बन्धन क्षणिकत्वात् ॥ २०७ ॥

चित्तभूमिपरिवृत्त्यभावाच्च ॥ २०८ ॥

अभिनिवेश युक्त हों अथवा कितनी उत्तमतासे उस कार्य्यको सुसिद्ध करें, कर्म आदि अन्तवन्त होनेके कारण कर्मके अन्तमें उनका अभिनिवेश भी जाता रहता है और उनके चित्तकी स्वाभाविक स्थिति बनी रहती है। इस कारणसे भी अभिनिवेश-की दशामें योगिराज कितने ही कर्ममें तन्मय प्रतीत हों, उनकी वह स्थिति हानिकारक नहीं होगी ॥ २०८ ॥

कर्मयोगीको सावधान करनेकेलिये पुनः कहते हैं—

वह राग-द्वेष तक जाय तो दुःखदायी है ॥ २०९ ॥

जब कर्म, राग अथवा द्वेषके वशीभूत होकर किया जाय, तो उसका परिणाम अवश्य ही दुःखप्रद होता है। आसक्तिसे राग और अनासक्तिसे द्वेष उत्पन्न होता है। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष भी है और जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है। और यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, ये रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं। इस कारण ये सत्त्वविरोधी हैं। आनन्दकी प्रतिष्ठा सत्त्वमें ही होती है। सुतरां सत्त्वविरोधी वृत्तियोंमें आनन्द-का अभाव होनेसे दुःख अवश्य होता है। यदि ऐसी शंका हो कि रागके कार्य्योंमें आनन्द क्यों प्रतीत होता है? इसका समाधान यह है कि वह आनन्द क्षणस्थायी होनेसे ज्ञानवान्के निकट दुःखप्रद ही है। दूसरी ओर जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ वासना अवश्य उत्पन्न हो सकती है। अतः राग-द्वेषसे युक्त कर्ममें

दुःखदमारागद्वेषं तत् ॥ २०९ ॥

दुःख होना भी स्वाभाविक है। यद्यपि राग-द्वेषका कर्म दुःख-प्रद होता है, परन्तु कर्मयोगीमें अविद्या अस्मिताका अभाव रहनेसे न वह वासना उत्पन्न कर सकता है न बन्धन कर सकता है ॥ २०९ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

बन्धनवत् प्रतीत होता है ॥ २१० ॥

निष्कामव्रतपरायण महापुरुष जब धर्मकार्य्यमें प्रवृत्त होकर वासनारहित होनेपर भी कर्मकी स्वाभाविक गतिके अनुसार किसी कार्य्य विशेषमें राग-प्रदर्शन करते हैं, अथवा धार्मिक व्यक्तिमें राग, अधार्मिक व्यक्तिमें उपेक्षा दिखाते हैं, तो लौकिकदृष्टिसे वे बन्धनदशा प्राप्तकी नाई दिखाई देने लगते हैं। क्योंकि भीतरसे वे अविद्या और अस्मिता और वासना-जनित संकल्पशून्य होने-पर भी धर्मकार्य्यको सुसिद्ध करनेके अभिप्रायसे उस कार्य्यमें अभिनिवेश रखते हैं और राग-द्वेषके वर्त्तावके समान वर्त्ताव करने लगते हैं। इस दशामें उनकी बहिःचेष्टाको देखकर विषयासक्त तत्त्वज्ञानविहीन जनगण उनके लोकातीतदशाको अनुभव करनेमें असमर्थ होकर उनको बद्धजीवके समान समझने लगते हैं। यही कारण है कि जीवन्मुक्त इस संसारमें विरले ही होनेपर भी सर्वसाधारणजनोंकी दृष्टिसे अतीत रहते हैं ॥ २१० ॥

बन्धनवत् ॥ २१० ॥

सावधान करनेकेलिये और भी कह रहे हैं—

अस्मिता प्राप्त हो तो क्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न होकर बद्धवत् प्रतीत होता है॥ २११॥

यदि तत्त्वज्ञानी महापुरुषके कर्मयोगकी दशामें घटनाचक्रसे अस्मिता प्रकट हो, तो वे बद्धजीवकी नाईं प्रतीत होते ही हैं, अधिकन्तु उनके अन्तःकरणमें क्लिष्टवृत्तिका उदय भी होने लगता है। जब राग-द्वेषयुक्त कार्य्यमें ही बद्धवत् प्रतीत होते हैं, तो अस्मिताकी दशामें भी बद्धवत् प्रतीत ही होंगे इसमें सन्देह ही क्या है। जब कर्मयोगी होनेपर भी अस्मिता और राग-द्वेषका कुछ सम्बन्ध रहा, और साथ ही साथ मनोवृत्ति घटनाचक्रसे अस्मिता तक पहुँच गई तो वे अवश्य ही बद्धजीववत् प्रतीत होंगे। और अस्मिताके प्रभावके कारण क्लिष्टवृत्ति भी उत्पन्न हो सकती है। यद्यपि वे वृत्तियाँ क्षणिक होंगी परन्तु थोड़े समयकेलिये भी अक्लिष्ट वृत्तियोंको दबाकर क्लिष्टवृत्तिका उदय होना सम्भव है। इस कारण कर्मयोगीको सदा सावधान रहना चाहिये। जिससे अस्मिता उत्पन्नकारी अहंभाव अन्तरमें प्रकट न हो और सत्त्व-विरुद्ध क्लिष्टवृत्तियाँ किसी प्रकारसे उसके अन्तःकरणमें आधिपत्य न जमाने पावें॥ २११॥

क्लिष्टमस्मितागं बद्धवत्॥ २११॥

ऐसा होनेसे क्या भय होता है सो कहते हैं—

अपूर्णता रहे तो जन्मान्तर होता है ॥ २१२ ॥

यदि पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार धृतिमें कुछ अपूर्णता रहे, तो जन्मान्तर होनेका भी भय रहता है। जबतक तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके साथ ही साथ वासनानाशकी पूर्णता और सात्त्विक धृतिकी पूर्णता योगिराजमें न हो, तबतक जन्मान्तर होनेका भय रहता है। ऐसा उदाहरण भी जड़भरत आदिकी जीवनीसे पुराणशास्त्रोंमें पाया जाता है। अभिनिवेश तक वृत्ति रहती है नहीं तो कार्य्य सुसिद्ध नहीं हो सकता। राग-द्वेष क्षणिकरूपसे प्रकट होने में भी सिद्धान्तरूपसे विशेष हानि नहीं है, केवल लोक-दृष्टिसे वे बद्धवत् प्रतीत होते हैं, परन्तु यदि अस्मिता अन्तःकरणमें बद्धमूल होने लगे तो, समझना उचित है कि उक्त योगीमें सात्त्विक धृतिका अभाव है। और ऐसी असम्पूर्णदशामें यदि उसका शरीरपात हो, तो जन्मान्तर भी हो सकता है। यद्यपि वह भविष्यत् जन्म साधारण नहीं होगा, परन्तु हो सकता है। इस कारण सदा कर्मयोगीको अतिसावधान रहना उचित है ॥ २१२ ॥

विज्ञानको और स्पष्ट कर रहे हैं—

अविद्याके अभाव होनेसे ज्ञानका हान नहीं होता है ॥ २१३ ॥

जीवकी बन्धनदशाप्राप्तिका प्रधान कारण अविद्या है।

जन्मान्तरमपूर्णत्वे ॥ २१२ ॥

न ज्ञानहानमविद्याऽभावात् ॥ २१३ ॥

यदि तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और वासना-क्षयके द्वारा योगिराज अपने हृदयमेंसे अविद्या निलयको तोड़कर उसको विद्याका प्रतिष्ठामन्दिर बना लेवे और कदाचित् सात्त्विक धृतिकी असम्पूर्णता रह जानेके कारण पूर्वकथित दशाएँ उत्पन्न हो जाय, और असावधानतासे जन्म हो जाय, तो भी मूलोच्छेद होनेके कारण उसके हृदयमेंसे तत्त्वज्ञानका अभाव नहीं होगा। वे उस शेषसंस्कारका छेदन करके सात्त्विक धृति लाभ करते हुये कर्मयोगकी सहायतासे अवश्य ही निःश्रेयसको प्राप्त करेंगे ॥ २१३ ॥

विज्ञानको और स्पष्ट कर रहे हैं—

बलाभावसे ऐसा होता है ॥ २१४ ॥

श्रीगीतोपनिषद्में सात्त्विक कर्त्ता, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक धृतिके ये लक्षण कहे गये हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विमुच्यते॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी॥

अर्थात्—आसक्तिशून्य, अहंकाररहित, धैर्य्य और उत्साह-

तथा भावे बलाभावो हेतुः ॥ २१४ ॥

युक्त तथा सिद्धि असिद्धिमें निर्विकार कर्त्ता सात्त्विक है। नियमित, सङ्गरहित, राग-द्वेषरहितभावसे निष्काम होकर जो किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक है। जिस धृतिद्वारा योगयुक्त होकर अव्यभिचारीरूपसे मन और प्राणकी क्रिया धारण की जाय, हे पार्थ ! वह सात्त्विक धृति है।

ये तीनों जिस कर्मयोगीमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहते हैं, उसीमें पूर्णरीत्या आत्मबलका विकाश होता है। यदि इनमेंसे किसीका भी अभाव हो, तो आत्मबलकी न्यूनता हो जाती है। इस प्रकारसे आत्मबलका अभाव होनेसे ही योगिराजको इस प्रकारकी विपत्तिमें पड़ना पड़ता है ॥ २१४ ॥

निष्कर्ष कह रहे हैं—

इस कारण ज्ञानीको सावधान होना चाहिये ॥ २१५ ॥

उच्चसे उच्चकर्मयोगकी अवस्थामें जिन जिन भयोंकी सम्भावना है, उनको स्पष्टरूपसे दार्शनिकयुक्तिद्वारा सिद्ध करके यह निष्कर्ष कहा जाता है कि, तत्त्वज्ञानी महापुरुषको अन्तिम दशा तक सावधान रहना चाहिये। दैवीमीमांसादर्शनका यह सिद्धान्त है कि असावधानतासे बन्धन और सावधानतासे मुक्ति होती है। अतः अघटनघटनापटीयसी महाशक्तिके सम्मुख सदा सिर झुकाकर ज्ञानीको सदा अतिसावधानतासे निःश्रेयसपथमें अग्रसर होना चाहिये ॥ २१५ ॥

अतो ज्ञानिनामवधेयम् ॥ २१५ ॥

और भी कह रहे हैं—

कर्मयोगीको भी ॥ २१६ ॥

जब तत्त्वज्ञानी होनेपर भी कर्म करना पड़ता है, तो तत्त्व-ज्ञानीके उद्देश्यसे पूर्वसूत्रकी प्रवृत्ति है। और कर्मयोगीके उद्देश्यसे इस सूत्रकी प्रवृत्ति है। श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदन्ते फलम् ॥
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

तात्पर्य्य यह है कि सांख्य और योगको अज्ञानीगण पृथक् पृथक् देखते हैं पण्डितगण नहीं। एक सम्यक्‌रूपसे अनुष्ठित होनेपर दोनोंका फल प्राप्त होता है। सांख्यके द्वारा जिस स्थानकी प्राप्ति होती है, योगके द्वारा भी उसीकी प्राप्ति होती है। अतएव सांख्य और योगको जो एक देखता है, वही देखता है।

चित् और सत् इन दोनों भावोंके पृथक् पृथक् अवलम्बनसे परमानन्दपारावारमें निमग्न होने योग्य निःश्रेयस प्राप्तिके दो उपाय हैं एक सांख्यप्रधान उपाय, एक योगप्रधान उपाय। अर्थात् एकमें ज्ञानयोगका प्रधान अवलम्बन रहता है, दूसरेमें कर्मयोगका प्रधान अवलम्बन रहता है। ज्ञान और कर्म दोनों ही दोनों-में रहता है। प्रथममें ज्ञानकी प्रधानता और दूसरेमें कर्मकी

कर्मयोगिनाञ्च ॥ २१६ ॥

प्रधानता रहती है। इस कारण पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने पूर्वसूत्रद्वारा ज्ञानयोगीको सावधान करके अब इस सूत्रद्वारा कर्मयोगीको सावधान कर रहे हैं। कर्मयोगीको कर्म करते करते पूर्वकथित विपत्ति अवश्य ही आ सकती है। अतः कर्मयोगीको सात्त्विक धृति, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्त्ताके वैज्ञानिक रहस्यको सदा हृदयंगम करके अतिसावधान हो जीवनयात्रा निर्वाह करना उचित है ॥ २१६ ॥

अब प्रकृतविषयको पुनः कह रहे हैं—

प्रथम तत्त्वज्ञान होता है ॥ २१७ ॥

जीव प्रथम अज्ञानभूमियोंको अतिक्रम करके ज्ञानभूमिका अधिकारी बनता है, तदनन्तर ज्ञानभूमियोंमें प्रवेश करके उत्तरोत्तर अग्रसर होता हुआ आत्मोन्मुख होता जाता है। इन ज्ञानभूमियोंमें किस प्रकारकी धारणा, किस प्रकारकी योग्यता और किस प्रकारका ज्ञानाधिकार प्राप्त करता हुआ तत्त्वज्ञानी व्यक्ति मुक्तिपथमें अग्रसर हो सकता है, उसका दिग्दर्शन पहले सूत्रोंमें हो चुका है ॥ २१७ ॥

तदनन्तरका क्रम कहा जाता है—

तदनन्तर असद्वासनाका क्षय होता है ॥ २१८ ॥

तत्त्वज्ञानकी क्रमोन्नतिके साथ ही साथ जब ज्ञानीको जगत्-

तत्त्वधीरादौ ॥ २१७ ॥

क्षयस्ततोऽसद्वासनायाः ॥ २१८ ॥

का स्वरूप ठीक ठीक प्रतीत होने लगता है और साथ ही साथ सत् और असत्का बोध होकर बन्धन और मुक्तावस्था अधर्म और धर्मका विचार होकर जीवका यथार्थ अभ्युदय क्या है इसको वह भाग्यवान् साधक समझने लगता है तब स्वतः ही उसकी असत्कर्मसे अरुचि होने लगती है। इस कारण उस समय उसमें सद्वासना प्रतिष्ठित होकर असत्वासनाका हान हो जाता है ॥ २१८ ॥

तत्पश्चात्का क्रम कहा जाता है—

तदनन्तर सद्वासनाका लय हो जाता है ॥ २१६ ॥

क्रमशः तत्त्वज्ञानकी और भी उन्नति होनेपर जब अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनोंकी पृथक्ताका बोध तत्त्वज्ञानीको हो जाता है, उस समय वह वासनामात्रको बन्धनका कारण तथा जन्ममृत्युरूपी आवागमनचक्रका कारणरूपसे जब समझने लगता है, उस तत्वज्ञानकी उन्नत अवस्थामें उस महापुरुषको संकल्पमात्रसे अरुचि हो जाती है तब वह सत्संकल्पद्वारा उत्पन्न संकल्पित यावत् कर्मोंका त्याग कर देता है। और संकल्पके साथ कोई पुण्यकर्म करना भी वह मंगलकर नहीं समझता ॥ २१९ ॥

लयस्ततः सद्वासनायाः ॥ २१६ ॥

इस क्रमका रूपान्तर कहा जाता है—

अथवा क्षीण हो जाती है ॥ २२० ॥

अघनघटनापटीयसी मायाविलासकी विचित्रताके कारण तत्त्वज्ञानीकी इस अवस्थामें सद्वासनाका सम्पूर्ण लय हो जाता है, अथवा वह क्षीण होकर नाममात्रको रह जाती है। पहले यह सिद्ध हो चुका है कि मुक्तिमार्गके पथिककी दो अवस्थाएँ होती हैं; या तो वे ज्ञानयोगी होते हैं या कर्मयोगी होते हैं। जैसा कि गीतोपनिषद्कथित विज्ञानसे उपर सिद्ध किया गया है। ज्ञानयोगकी अवस्थामें सद्वासना तकका एक बार ही हान होना सम्भव है; परन्तु परोपकारव्रतधारी कर्मयोगीमें सद्-वासनाका एक बार ही विलय नहीं हो सकता है। जगत्को ब्रह्म-स्वरूप समझकर उसकी सेवारूपसे जगत् कल्याण-बुद्धिकी वासना उनमें अवश्य रहती है। जिस वासनाके द्वारा वासनाका नाश हो वह वासना अवश्य वासना नहीं कहा सकती, परन्तु जगत्सेवाबुद्धिसे जो छायारूपसे वासना रहती है, उसको महर्षि-सूत्रकारने क्षीण शुभवासना नामसे अभिहित किया है ॥२२०॥

तदनन्तरका क्रम कह रहे हैं—

तदनन्तर मनका लय होता है ॥ २२१ ॥

वासना मनोधर्म है। पहले असद्वासना लय होकर जब

क्षीणत्वं वा ॥ २२० ॥

ततो मनसोलयः ॥ २२१ ॥

सद्वासना तकका भी लय हो जाता है, तो मनोधर्मके लय होनेसे मनका मनस्त्व नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार चणक जब भर्जित हो जाता है, तब वह स्वरूपतः पहचाने जानेपर भी वृक्षोत्पादनकी शक्ति उससे नष्ट हो जाती है, ठीक इसी उदाहरणके अनुसार तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी इस अवस्थामें वासनानाशके साथ ही साथ मनोनाश हो जाता है। सहज-कर्मके साधनकेलिये शरीरयात्रा निर्वाहकेलिये मनका स्वरूप दिखाई देनेपर भी वस्तुतः उक्त महापुरुषके मनका मनस्त्व नष्ट हो जाता है ॥ २२१ ॥

इस क्रमका रूपान्तर कहा जाता है—

अथवा क्षीणत्व होता है ॥ २२२ ॥

जिस प्रकार पहले असद्वासनाका नाश और सद्वासनाका क्षीण होना, इस प्रकारसे दो भेद वर्णन किये गये हैं, उसी प्रकार मनोनाशका भी यह दूसरा भेद वर्णन किया जाता है। सांख्य-योग और कर्मयोग इन दोनों अवस्थाओंके अनुसार ये अवस्थाएँ निर्णीत हुई हैं। पहले सूत्रमें वर्णित अवस्था सांख्ययोगकी है, और यह दूसरी अवस्था कर्मयोगकी है। कर्मयोगीकी यह विशेषता है कि कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। इस कारण जब कर्मयोगीमें कर्मावस्थाकी विशेषता है, तो उनमें मनका भी क्षीणरूपमें रहना माना जा सकता है। परन्तु मन

क्षीणत्वं वा ॥ २२२ ॥

भर्जित बीजवत् हो जानेके कारण वह बन्धन उत्पन्न करनेमें असमर्थ होता है यह मानना ही पड़ेगा॥ २२२॥

तत्पश्चात्का क्रम कहा जाता है—

सबके अन्तमें कर्मका लय होता है॥ २२३॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि सहजकर्मके बलसे जीव क्रमोन्नति करता हुआ मनुष्ययोनिमें पहुँचता है। यह क्रमोन्नतिकी गति स्वाभाविक और बाधारहित है। मनुष्ययोनिमें पहुँचकर जीव जैवकर्मका अधिकारी होकर आवागमनचक्रमें फँस जाता है, यही जीवके बन्धनका स्वरूप है। पुनः मनोनाशके साथ उसको जैवकर्मका सम्बन्ध त्याग करना होता है। मनुष्ययोनिमें पहुँचकर उसका मन जैवकर्मके द्वारा रंजित था, वह रंजित मन जब विलय हुआ तो, भर्जित बीजके समान उसमेंसे पूर्वशक्तिके हान हो जानेसे जैवकर्मका अधिकार नाश हो जाता है। और उसका शरीर रहने तक कुलालचक्रवत् केवल सहजकर्मके द्वारा चालित होता है। यही कर्मलयकी अवस्था है। वस्तुतः जैवकर्मके लयसे ही जब बन्धनका हान हो गया, तो इस अवस्थाको कर्मलयकी अवस्था कहेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है॥ २२३॥

अन्तिम क्रमको कहते हैं—

कर्मके अवसानमें मुक्ति होती है॥ २२४॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, कर्मके तीन भेदके

सर्वान्ते कर्मणो लयः॥ २२३॥

कर्मावसाने मुक्तिः॥ २२४॥

अनुसार मुक्तिपदके भी तीन भेद हैं। जैवकर्मके अनुसार भाग्यवान् महापुरुष उग्र सत्कर्मके फलसे शुक्लगतिको आश्रय करके सप्तम ऊर्ध्वलोकमें पहुँचते हैं, और कर्मके अवसानमें वहाँ ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उसी प्रकार ऐशकर्मके फलसे देवतागण क्रमोन्नति करते हुये त्रिमूर्त्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। और कर्म-वेगके अवसानमें ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उसी प्रकार जीव इसी मृत्युलोकमें रहकर जब पुनः सहजकर्मको आश्रय करता है, तो जीवित अवस्थामें कुलालचक्रवत् शरीरधारण करता हुआ जीवन्मुक्तपदवीको प्राप्त करता हुआ शरीरान्तमें ब्रह्मीभूत हो जाता है। यही कर्मके अवसानमें निःश्रेयसका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनों अवस्थाओंमें स्वतन्त्र पिण्ड रहते हुये भी वे मुक्त ही हैं और उनको कर्मका बन्धन न होनेसे उनमें कर्मका अवसान ही है ऐसा मानना ही पड़ेगा। त्रिमूर्त्तिमें कर्मपर आधिपत्य करनेकी लोकातीतशक्ति रहनेके कारण वे ईश्वर ही है ॥ २२४ ॥

प्रसङ्गसे जीवन्मुक्तके लक्षण कह रहे हैं—

इस दशामें राग-द्वेष अभिनिवेश नहीं होता है ॥२२५॥

जब पूर्णरूपसे कर्मका अवसान हो जाता है, तब उस महा-पुरुषका अन्तःकरण राग, द्वेष और अभिनिवेशशून्य हो जाता है। यदि जीवन्मुक्तकी व्युत्थानदशामें राग, द्वेष और अभि-

नात्र रागद्वेषाभिनिवेशाः ॥ २२५ ॥

निवेशके चिन्ह भी प्रकाशित होते हों, तौ भी उनको विश्रान्ति सदा स्वस्वरूपमें रहनेके कारण और उनमें अविद्याका अभाव हो जानेसे सब वृत्तियाँ भर्जित बीजवत् हो जानेके कारण वस्तुतः उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष और अभिनिवेशका मूल नष्ट हो जाता है। तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके कारण मिथ्याज्ञानके हानके साथ ही साथ अविद्याका विलय हो जाता है। जहाँ अविद्याका विलय हो जाय, वहाँ राग-द्वेषादिका रहना सम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ मूल नहीं है, वहाँ शाखाके रहनेकी सम्भावना नहीं है॥ २२५॥

और भी कह रहे हैं—

स्तुति निन्दामें समान होता है॥ २२६॥

जब जीवन्मुक्तमें अविद्याका अभाव होनेसे अस्मिताका अभाव हो जाता है, तो अस्मितासे उत्पन्न स्तुति-निन्दामें समता हो जाना स्वतः सिद्ध है। जब अस्मिता नहीं है तो पिण्डका अहंकार नहीं है। जब पिण्डके अहंकारका लोप हो जाता है, तो पिण्डके सम्बन्धसे स्तुति अथवा निन्दाका सुख और दुःख ऐसे महापुरुषको स्पर्श नहीं कर सकता है॥ २२६॥

और भी कह रहे हैं—

सुख-दुःखमें भी॥ २२७॥

जीवन्मुक्त महापुरुषका अन्तःकरण सुख और दुःख इन दोनों

स्तुतिनिन्दे समे॥ २२६॥

सुखदुःखे च॥ २२७॥

विरुद्ध अवस्थाओंमें अविचलित और समान रहता है। मनुष्यको अनुकूल विषयोंमें सुख और प्रतिकूल विषयोंमें दुःख जो होता है, उसका मौलिक कारण वासना है और साधारण कारण राग-द्वेष है। जब जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी योगिराजमें वासनाका नाश और राग-द्वेषका अभाव हो जाता है, तो उनमें पुनः सुख-दुःखका वेग स्थान नहीं पा सकता है। जबतक शरीर है, तबतक लौकिक बुद्धिसे विषयी व्यक्तिकी दृष्टिमें सुख और दुःखका सम्बन्ध उनमें दिखाई पड़नेपर भी वस्तुतः उनका अन्तःकरण सुखदुःखसे अतीत रहता है, इसमें सन्देह नहीं। वे दोनों दशाओंमें अविचलित एकरस और सात्त्विक धृतिसे युक्त रहते हैं। यह ही जीवन्मुक्तका लक्षण है ॥ २२७ ॥

निष्कर्ष कह रहे हैं—

निर्द्वन्द्व भावसे निःश्रेयस होता है ॥ २२८ ॥

द्वन्द्व ही सृष्टिका कारण है और द्वन्द्व ही बन्धनका कारण है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति माया दोनोंका अलग अलग अस्तित्व अनुभव होना द्रष्टा और दृश्य दोनोंका अलग अलग अस्तित्व होना, चित् और जड़ दोनोंका अलग अलग अधिकार स्थापन होना, इत्यादि भाव-समूह सृष्टिके आदिकारण हैं। उसी प्रकार आत्म और परभावका अनुभव, राग और द्वेषका अनुभव, दुःख और सुखका अनुभव इत्यादि भाव-समूह बन्धनदशाके आदिकारण हैं। अतः

निर्द्वन्द्वभावान्निःश्रेयसम् ॥ २२८ ॥

यह स्वतः सिद्ध है कि, द्वन्द्वभावके स्थापनासे ही सृष्टि होती है और जबतक द्वन्द्वभाव बना रहता है, तबतक जीव बन्धनदशासे मुक्त नहीं हो सकता है। द्वन्द्वका कारण अविद्या है। निष्काम कर्मयोगमें सफलता लाभ करनेपर तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके साथ ही साथ अविद्याका विलय होता है। तदनन्तर आवरणनाश होकर द्वन्द्वभावका अभाव हो जाता है। द्वन्द्वका विलय ही निःश्रेयस प्राप्तिका कारण है ॥ २२८ ॥

तत्त्वज्ञान प्रसङ्गसे कहते हैं—

पुरुष प्रकृति और काल, कर्मके हेतु हैं ॥ २२९ ॥

द्वन्द्वरहित अवस्थाकी प्राप्तिकेलिये जिन जिन विषयोंको जानकर तत्त्वज्ञानकी उन्नति प्रयोजनीय है, उनके निर्देशके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। कर्म ही जीवको जीवत्वप्रदान करता है, कर्म ही जीवको बन्धनदशा प्राप्त कराकर आवागमनचक्रमें प्रवेश कराता है, पुनः कर्म ही जीवको आवागमनचक्रसे मुक्त कराकर स्वस्वरूपकी प्राप्तिका सहायक बनता है। कर्मकी सर्वोपरि प्रधानता इससे पूर्व बार बार सिद्ध हो चुकी है। अतः कर्मकी गति, कर्मकी स्थिति और कर्मका अध्यात्म स्वरूप तत्त्वज्ञानीको विदित करनेके अर्थ यह सिद्धान्त करके दिखाया गया है कि, कर्मकी उत्पत्ति, और उसकी स्थितिका

कर्महेतुः पुरुषप्रकृतिकालाः ॥ २२९ ॥

कारण अन्वेषण करनेपर पुरुषको, प्रकृतिको और कालको मान सकते हैं ॥ २२९ ॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेकेलिये कह रहे हैं—

पुरुष द्रष्टा है ॥ २३० ॥

जब पुरुष प्रकृतिका द्रष्टा है, सृष्टि-स्थिति-लयका द्रष्टा है, प्राकृतिक गुणके द्रष्टा है, तो वह पुरुष प्रकृतिस्पन्दनरूप कर्मका द्रष्टा होगा इसमें सन्देह ही क्या है? कर्म जड़ है, विना चेतनरूपी संचालकके जड़पदार्थ कार्य्य नहीं कर सकता है; इस कारण चेतनरूपी पुरुष द्रष्टाके स्वरूपमें कर्मके सम्पादनमें, कर्मकी फलोत्पत्तिमें और यहाँ तक कि कर्मके अस्तित्वमें भी प्रधान सहायक है ॥ २३० ॥

और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

प्रकृति उपादान है ॥ २३१ ॥

कर्मका स्वरूप प्रकट होनेमें प्रकृति ही उपादान है। प्रकृतिमें ही कर्मका विकाश होता है, क्योंकि प्राकृतिक स्पन्दन ही कर्म है, यह पहले भलीभांति सिद्ध हो चुका है। जैसे जलसे ही तरङ्ग उत्पन्न होता है और जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है प्रकृतिसे भिन्न नहीं है ॥ २३२ ॥

द्रष्टृत्वं पुरुषस्य ॥ २३० ॥

प्रकृतेरुपादानत्वम् ॥ २३१ ॥

और भी कह रहे हैं—

काल सहकारी है ॥ २३२ ॥

कर्मका द्रष्टा पुरुष कैसे है, और कर्मका उपादान प्रकृति कैसे है सो पहले सिद्ध हो चुका है। अब इस सूत्रद्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि कालकी सहयोगितासे कर्मकी प्रतिक्रियाकी सिद्धि होती है। जैसे चेतनकी सहायताके विना कर्मके होनेकी ही सम्भावना नहीं है, जैसे प्रकृतिके अस्तित्वके विना कर्मका अस्तित्व असम्भव है, उसी प्रकार विना कालकी सहायतासे कर्मकी बीजावस्था, कर्मकी अङ्कुरावस्था और कर्मकी फलावस्था बन नहीं सकती है। संस्कारसे क्रियाका होना, क्रियासे फलका होना और उसी प्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होना ये सब परिणाम कालकी अपेक्षा रखता है इसमें कोई सन्देह ही नहीं हो सकता है ॥ २३२ ॥

अब उसके लयका क्रम कह रहे हैं—

वासनाके लयसे कालका लय होता है ॥ २३३ ॥

जैसे कर्मकी उत्पत्ति और स्थितिमें प्रथम पुरुष, तदनन्तर प्रकृति, तदनन्तर कालकी उपयोगिता पहले कही गई है, उसी प्रकार कर्मके लय होनेमें कालकी अपेक्षा सर्वोपरि होनेसे उसका वर्णन पहले किया जाता है। कर्म जब लय होता है, तो प्रथम

सहकारित्वं कालस्य ॥ २३२ ॥

वासनालयात् काललयः ॥ २३३ ॥

वासनाक्षयकी आवश्यकता है। जैसे वृक्षका प्राणदाता और पोषक जल है, जलके अभावसे वृक्ष जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार वासना-नाश हो जानेसे कर्मका अस्तित्व नहीं रह सकता है। वासनाके द्वारा ही कर्मकी प्रवृत्ति होती है और वासनाके द्वारा ही उसके अस्तित्वकी रक्षा होती है। जीवमें विना वासनाके कर्मकी इच्छा हो ही नहीं सकती यह तो सुगम बोध्य तथा सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। यहाँ तक कि प्रथम सृष्टिकर्त्ता प्रजापति-से भी जो सृष्टिक्रिया उत्पन्न होती है, सो 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस सिद्धान्तके अनुसार वासनारहित वासनासे उत्पन्न होती है। और जीवन्मुक्तोंमें जो परोपकारक तथा जगदुपकारक कर्मका अस्तित्व देखनेमें आता है, अथवा अवतारोंमें जो गुरुतर कर्मोंका स्वरूप विद्यमान रहता है, अनिच्छारूपी इच्छा अथवा भगव-दिच्छा ही उसका कारण है। अतः यह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि वासना ही कर्ममें प्रधान है। यदि कर्मयोग और तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाका ह्रास कर दिया जाय, तो उसके लिये कालका लय हो जाएगा। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे समझ सकते हैं कि वर्णाश्रमधर्मकी सुरक्षा और उसके यथाविधि साधनद्वारा जब जीव अध्यात्मराज्यमें अग्रसर होता है, तो देखनेमें आता है कि जीवमें जितनी जितनी वासना घटती जाती है, उतना उतना ही वह महापुरुष कालको लय करता जाता है। वर्णधर्ममें और आश्रमधर्ममें उत्तरोत्तर वासनाका संकोच होता हुआ पूर्ण निवृत्ति-का उदय होता है और उससे फल यह होता है कि कोटि-कोटि

जन्ममें जिस आवागमनचक्रका भेदन होना कठिन है, उस आवागमनचक्रका चार वर्णके चार जन्ममें ही भेदन हो सकता है। क्रमशः वासनाका ह्रास हो जानेसे उसकेलिये कालका विलय होकर थोड़े ही समयमें बहुत काम हो सकता है। शक्तिके ह्रासे ही पदार्थका ह्रास होता है। इस कारण जब कालकी शक्ति निष्काम व्यक्तिके निकट नष्ट हो जाती है तो वासनाके ह्राससे उस व्यक्तिमें कालकी शक्तिका ह्रास होना प्रमाणित हुआ। समष्टिरूपसे कालका अस्तित्व रहनेपर भी व्यक्तिरूपसे कालका विलय हो जाएगा यह मानना ही पड़ेगा॥ २३३॥

अब दूसरा क्रम कह रहे हैं—

सहकारीके अभावसे तब कर्मनिवृत्ति हो जाती है॥ २३४॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि कालकी सहकारितासे ही कर्मकी सिद्धि होती है। अतः जिस केन्द्रमें कालकी सहयोगिता नष्ट हो जाती है, वहाँ कर्मका लय होना भी स्वतः सिद्ध है। प्रवृत्तिका नाश और निवृत्तिकी उत्पत्तिके साथ ही साथ वासनाका नाश होते होते जब अन्तमें वासनाका विलय हो जाता है, तब निष्काम अन्तःकरणमें कालका प्रभाव नहीं पड़ सकता है। वासनाके नाशसे निष्काम अन्तःकरण किस प्रकारसे संचित और क्रियमाण कर्मसे मुक्त हो जाता है, सो भलीभाँति कहा जा

तदा कर्मनिवृत्तिः सहकार्यभावात्॥ २३४॥

चुका है। सुतरां वासनाके नाशसे कालशक्तिकी हानिद्वारा उस महापुरुषके केन्द्रमें उन दोनों श्रेणीके कर्मोंका विलय हो ही जाता है। दूसरी ओर कुलालचक्रवत् प्रारब्ध-वेगसे शरीरकी क्रिया बनी रहनेपर भी वासनानाशके साथ साथ मनोनाश हो जानेसे कालका अनुभव भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि उस तत्त्वज्ञानीके लिये शरीर रहना और न रहना दोनों समान हो जाता है। अतः उस समय प्रारब्ध कर्म भी प्रकारान्तरसे शक्तिहीन हो जाता है। इस प्रकारसे यह सिद्ध हुआ कि, वासनाके नाशसे कालका नाश और कालके नाशसे कर्मका नाश होकर स्वरूपोपलब्धिमें सफलता मिलती है ॥ २३४ ॥

मुक्तिप्रसंगसे कर्मयोगका महत्त्व प्रतिपादन कर रहे हैं—

कर्मयोगसे वासनालय होता है ॥ २३५ ॥

कर्मके प्रसंगसे निःश्रेयसप्राप्तिका क्रम बताकर अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कर्मके महिमा-प्रतिपादनार्थ तथा निःश्रेयस-प्राप्तिमें कर्मकी विशेष उपयोगिता दिखानेके अर्थ कह रहे हैं कि जैसे वासनाके लयसे कालका लय और कालके लयसे क्रियाका लय हो जाता है और कर्म अपने लयके साथ ही साथ मुक्तिपदका उदय करा देता है, उसी प्रकार कर्मकी विशेष सुकौशलपूर्ण क्रिया-से उत्पन्न कर्मयोग ही वासनाका नाश कर देता है। यद्यपि मतान्तरसे वासनाक्षयका कारण तत्त्वज्ञान माना जाता है,

---

वासनालयः कर्मयोगात् ॥ २३५ ॥

परन्तु इस दर्शनसिद्धान्तके मतमें मूलकारण कर्मयोग ही माना गया है। वस्तुतः ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है, क्योंकि उजेला ही अन्धकारको दूर कर सकता है, परन्तु विना कर्मयोगके तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि कर्मके विना जीव रह नहीं सकता है ; कर्मका अभाव अर्थात् अकर्मकी अवस्था कर्मयोगकी अवस्था सिद्ध होनेपर भी कर्मके अभावमें सिद्ध नहीं होता है। इस कारण सुकौशलपूर्ण कर्म तत्त्वज्ञानको उत्पन्न करता है और अकौशलपूर्ण कर्म तत्त्वज्ञानके आविर्भावमें बाधक होता है, यह मानना ही पड़ेगा। अतः इस विज्ञानके अनुसार वासनाजालनिवारक सुकौशलपूर्ण कर्मयोग ही वासनाके विलयमें कारण है। जितना जितना कर्मयोगी अपने कर्मयोगमें सिद्धिलाभ करता जाता है, उतना उतना उसमें मल-विक्षेप और आवरणका हास होता हुआ, तत्त्वज्ञानरूपी ज्योतिका उदय होता जाता है। अतः कर्मयोग ही तत्त्वज्ञानके क्रमविकाशका कारण है और कर्मयोग ही वासना-विलयका भी कारण है ॥ २३५ ॥

अब उसका और भी विशेषत्व कह रहे हैं—

प्रथम अवस्थामें वह सुकर है ॥ २३६ ॥

कर्मयोगका एक यह विशेषत्व है कि अन्य प्रकारके साधनोंसे

आद्यायां सुकरः ॥ २३६ ॥

प्रथम अवस्थामें वह सुसाध्य है। कर्म जीवको करना ही पड़ता है, चाहे आर्य्य हो चाहे अनार्य्य, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, चाहे चतुर्वर्णमेंसे कोई हो, चाहे चतुराश्रममेंसे कोई हो अपने अपने प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारके अनुसार सबको ही कर्म करना पड़ता है। भक्ति-साधन, योग-साधन अथवा ज्ञान-साधनमें वह स्वाभाविकता नहीं है क्योंकि उसको आग्रहसे करना पड़ता है। अतः स्वभावसिद्ध साधन सर्वथा सुकर ही होता है। दूसरी ओर स्वभावसिद्ध कर्म करते करते क्रमशः कामनारहित होनेकी चेष्टा भी सुकर है। इस कारण वर्णधर्मी नर-नारीमात्र ही पहले ही से इष्टार्पणपूर्वक संकल्प करते हुए साधनकी पूर्वावस्थासे ही कर्मयोगका अभ्यास करनेमें अनुभव नहीं करते हैं। विशेषतः इसमें सबका समानरूपसे अधिकार होनेसे और भी सुकर है ॥ २३६ ॥

पुनः कह रहे हैं—

अन्तिम अवस्थामें वह ज्ञानको स्थिर रखनेवाला होता है ॥ २३७ ॥

कर्मबीज संस्कार और कर्म ये दोनों ही जीवमें परिवर्त्तन उत्पन्न करनेवाले हैं। विशेषतः संस्काररूपी अदमनीय वायुके वेगसे ही जीवका अन्तःकरणरूपी जलाशयमें अनन्त वृत्तिरूपी वीचीमाला उठा करती है, जो अन्तःकरणके चांचल्यका कारण

ज्ञानावस्थापकोऽन्तिमायाम् ॥ २३७ ॥

है। कर्मयोगके द्वारा दुर्निग्रह कर्मराज्यमें समता उत्पन्न होनेके कारण निर्विकल्प समाधिकी दशा बनी रहती है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि कर्मयोग ही पूर्णताको प्राप्त करके जब अन्तिम अवस्थामें पहुँच जाता है, तब तत्त्वज्ञानकी पूर्णता सम्पादन करके आत्मज्ञानको स्थायी रखता है। योगिराज अपनी निर्विकल्प समाधिदशामें जब स्वरूपस्थ रहते हैं, तब तो ज्ञानस्वरूप ही बने रहते हैं, और उनकी व्युत्थानदशामें कर्मयोग ही उनके आत्मज्ञानको स्थायी रखनेमें एकमात्र सहायक होता है ॥ २३७ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

विषय समता उसका प्रसाद है ॥ २३८ ॥

जबतक शरीर है, जबतक मन है और जबतक इन्द्रिय हैं, मन भर्जित बीजके समान शक्तिहीन हो जानेपर भी विषयानुभव रहता ही है। जैसे चणक भर्जित होनेपर यद्यपि अंकुरोत्पत्तिकी शक्ति उससे नष्ट हो जाती है; परन्तु उसमेंसे अन्नत्व नहीं जाता है। और उससे क्षुधाकी तृप्ति होती ही रहती है; उसी प्रकार जीवन्मुक्तका मन शक्तिहीन हो जानेपर भी उसमें विषयानुभव बना रहता है। विशेषता यह होती है कि विषयकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें साधारण जीवोंको जो चञ्चलता होती है, जीवन्मुक्तको वह चंचलता नहीं होती है। विषयभोग भी होता

विषयसमतातत्प्रसादः ॥ २३८ ॥

है और साथ ही साथ जीवन्मुक्तके अन्तःकरणकी समता बनी रहती है ॥ २३८ ॥

मोक्षप्रसंगसे कहते हैं—

स्वाभाविक क्रियाका वेगदर्शन ज्ञानतत्त्व है ॥ २३९ ॥

कर्मयोगमें दृढ़ता सम्पादनके अर्थ और कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें कर्म दर्शानेके अर्थ तथा तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके सम्पादनके निमित्त कहा जाता है कि, कर्म-प्रवाहकी जो स्वाभाविक अवस्था है, उसके वेगका यथार्थ स्वरूप तृतीय नेत्र अर्थात् ज्ञाननेत्रके द्वारा देखते रहना ही ज्ञानका रहस्य है। जीवन्मुक्त जब संचित और क्रियमाण अर्थात् प्राचीन संगृहीत कर्म और नवीन कर्म इन दोनोंके बन्धनसे बच जाता है, उस समय केवल प्रारब्धका वेग रहता है, जिससे शरीर बना रहता है। उस समय प्रारब्धका वेग रहना और उसके द्वारा शरीर रहना प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियासे ही होता है। उस समय जीवन्मुक्तका अन्तःकरण संकल्परहित और वासनारहित होकर स्वच्छ हो जाता है। ऐसी दशामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटि तो रहती ही है, क्योंकि वह भी स्वाभाविक है। अतः इस उन्नततम स्थितिमें कर्मविशेषता अथवा कर्मके फलकी विशेषतापर दृष्टि न जाकर केवल कर्मकी स्वाभाविक गतिपर दृष्टि रहती है ॥ २३९ ॥

स्वाभाविकक्रियावेगदर्शनं ज्ञानतत्त्वम् ॥ २३९ ॥

विज्ञानको और स्पष्ट कर रहे हैं—

कुलालचक्रके समान वेग होता है ॥ २४० ॥

स्वाभाविक क्रियाके वेगका स्वरूप कैसा है, उसको स्पष्ट करनेकेलिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। कुलालचक्रको कुम्हार एक लकड़ीसे घूमाकर छोड़ देता है और लकड़ीको हटा लेता है। घुमाना छोड़कर लकड़ीको हटा लेनेपर भी कुम्हारके हाथकी शक्ति लकड़ीद्वारा जितनी उस चक्रमें प्रयुक्त थी, उस शक्तिके समाप्त होने तक वह चक्र स्वतः ही घूमता रहता है और पीछे शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्तमें संचित और क्रियमाण कर्म पहले ही उस केन्द्रकेलिये शक्तिहीन हो शान्त हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रारब्ध कर्मके वेगसे इस जन्मका शरीर उत्पन्न होता है, वह वेग समाप्त होने तक कुलालचक्रके समान जीवन्मुक्तका शरीर बना रहता है और शरीरका भोग उनको भोगना पड़ता है। योगिराज अपने कर्मयोगके प्रभावसे समभावापन्न अन्तःकरणके द्वारा आत्मज्ञानका अनुभव करते हुए कर्मकी स्वाभाविक गतिको सदा दर्शन करते हुये स्वस्वरूपमें अधिष्ठान करते हैं ॥ २४० ॥

उस अवस्थाका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

कार्य्यकारणका ऐक्य उसका स्वरूप है ॥ २४१ ॥

जब तत्त्वज्ञानी महापुरुष तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके प्रभावसे

कुलालचक्रवद् वेगः ॥ २४० ॥

कार्य्यकारणयोरैक्यं तद्भावरूपम् ॥ २४१ ॥

कारणब्रह्म और कार्य्यब्रह्म इन दोनोंको एक अद्वितीयरूपमें देखनेमें समर्थ होते हैं, उसी अवस्थामें तृतीय नेत्रका उन्मिलन होकर वह योगिराज अपने शरीर और शरीरसे सम्बन्धयुक्त भोगोंको कुलालचक्रवत् अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २४१ ॥

प्रसंगसे शंका-समाधान कर रहे हैं—

भेदभावसे उसका कार्य्य भगवत्कार्य्य है ॥ २४२ ॥

अब यह शंका हो सकती है कि, जीवन्मुक्त कर्मयोगीके द्वारा लौकिक दृष्टिके अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कार्य्य होता हुआ देखा जाता है, इसका कारण क्या है? लौकिक दृष्टिसे वे भक्तोंपर राग और अभक्तोंपर द्वेष तथा कर्त्तव्य कार्य्योंपर अभिनिवेश करते हुये प्रतीत होते हैं, इसका क्या कारण है? ज्ञानकी पूर्णता होनेपर भी जीवन्मुक्तोंमें भ्रम, प्रमादके सदृश कार्य्य भी क्यों दिखाई देते हैं? इन श्रेणियोंकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अविद्या उपहित चेतन जीव है और ईश्वरका ईश्वरत्व इस कारण है कि माया उनके अधीन है। अविद्या जीवको अपने अधीन करती है और विद्या ईश्वरके अधीन रहती है। एक मायाके ही ये दोनों अवस्था भेद होनेपर भी दोनोंके अधिष्ठाताके स्वरूपमें रात और दिनका-सा अन्तर है। जीव स्वार्थी, ईश्वर-परार्थी, जीव अज्ञानाच्छन्न और ईश्वर ज्ञानपरिपूर्ण, जीव अहंकृत

तत्कार्य्यं भगवतो भेदाभावात् ॥ २४२ ॥

होनेसे देश-काल परिच्छिन्न और ईश्वर अहंतत्त्वसे अतीत होनेके कारण सर्वव्यापक और देश-कालसे अतीत हैं। वस्तुतः अविद्या-जनित अज्ञान ही जीवमें भेदबुद्धि उत्पन्न करता है, नहीं तो चित् स्वरूपके विचारसे दोनों अवस्थाओंमें अभेदत्व है ; समुद्रका विप्लुत समुद्र ही है। अहंतत्त्वके नाश होनेपर अविद्याका प्रभाव विलय हो जानेपर और अद्वैतस्थितिके उदय होनेपर भेद बुद्धिका अभाव हो जाता है। तब कुलालचक्रवत् भ्रमणशील पिण्डधारी जीवन्मुक्त महापुरुष जो कुछ कार्य्य करता है, सो भगवत् केन्द्रके इङ्गितसे ही करता है। यही कारण है कि भगवत् और भागवतमें भेद नहीं है। इस कारण जीवन्मुक्तके द्वारा जो कुछ कार्य्य होता है, वह लौकिक दृष्टिसे सत् असत्, शुभ अशुभ प्रतीत होनेपर भी देश-कालपात्रानुकूल एवं हितकर होते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ २४२ ॥

प्रसंगसे कर्मयोगकी महिमा कह रहे हैं—

इस कारण कर्मयोग अविरुद्ध है ॥ २४३ ॥

कर्मयोगपरायण जीवन्मुक्तका कार्य्य भगवत्कार्य्य होनेके कारण कर्मयोग अविरुद्ध है यह विज्ञान सम्मत है। ऐसे कर्मयोग-परायण जीवन्मुक्तका कार्य्य देशसे अविरुद्ध, कालसे अविरुद्ध, पात्रसे अविरुद्ध और प्रकृतिसे अविरुद्ध है, इस कारण पूर्वकथित शंकाओंका अवसर ही नहीं हो सकता और न उसकी पूर्णता

तस्मादविरुद्धः कर्मयोगः ॥ २४३ ॥

और उपकारितामें ही कोई शंका हो सकती है। देश और काल ये दोनों समष्टिकर्मसे अधिक सम्बन्ध रखते हैं और पात्र व्यष्टि-कर्मसे अधिक सम्बन्ध रखता है। जीवन्मुक्त कर्मयोगीका कार्य्य जब उसके अहंकारसे नहीं किया जाता, क्योंकि उसका अन्तःकरण उदारताको प्राप्त करके व्यापक होता हुआ भगवत्भावको प्राप्त होता है; उस समय भगवत् इङ्गितके द्वारा सृष्टिके अनुकूल और धर्मके संस्थापनके अर्थ ही उनमें सब चेष्टाएँ होती रहनेके कारण उनकी सब क्रियाएँ देश-कालसे अविरुद्ध होंगी इसमें सन्देह नहीं। जीवन्मुक्तका अन्तःकरण आत्म-परभावसे शून्य और वसुधाके जीवमात्रको स्वकुटुम्ब समझनेके कारण उनमें न पक्षपातकी सम्भावना है और न तत्त्वतः राग-द्वेषकी सम्भावना है; दूसरी ओर उनमें भगवत् इङ्गितसे ही कार्य्य होनेके कारण उनके सब कार्य्य पात्रसे अविरुद्ध अवश्य ही होंगे। इस स्थलपर जिज्ञासुको यह शंका हो सकती है कि, श्रीभगवान् तो केवल द्रष्टा, निर्लिप्त और इच्छासे रहित हैं तो उनके द्वारा भागवतके चित्तमें इङ्गित होनेकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, यद्यपि श्रीभगवान् केवल स्वप्रकृतिके द्रष्टा हैं, और क्लेश-कर्मविपाक आदिसे अतीत हैं इसमें सन्देह नहीं; परन्तु कर्म प्रकृतिसम्भूत होनेके कारण स्वाभाविक कर्म सब उनके ही अधीन हैं। और दूसरी ओर अध्यात्म, अधिदैव और अधि-भूत प्राकृतिक चेष्टाके संचालक ऋषि, देवता और पितृगण उन्हींकी विभूति हैं। अतः यदि स्वाभाविक प्राकृतिक कर्म हो, तो उनका

ही इङ्गित माना जाएगा और यदि ऐसा न हो, तो धर्मसंस्थापनार्थ उनके विभूतियोंका इंगित माना जाएगा और ऐसा माननेपर किसी प्रकारकी शंका रह ही नहीं सकती है। जीवन्मुक्तका कर्म प्रकृतिके अनुकूल होगा, यह तो स्पष्ट है ; क्योंकि जब वे स्वस्वरूप-स्थित होकर सहजकर्मके अधीन हो जाते हैं, तो उनकी सब चेष्टाएँ प्राकृतिक ही होंगी। यदि यह शंका हो कि जीवन्मुक्त यह अविरुद्धदशाकी सम्भावना है अथवा सब कर्मयोगियोंमें यह सम्भव हो ? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि चाहे आरुरुक्षु कर्मयोगी हो या योगारूढ़ कर्मयोगी हो, चाहे जीवन्मुक्त-दशाको प्राप्त किये हुये कर्मयोगी या साधक कर्मयोगी हो, उनमें कर्मयोगका जितना अधिकार है, वह सब बाधारहित होगा। आरुरुक्षुयोगी जितनी देर तक युक्त रहेगा, उतनी देर तक उसके कर्मकामना और अहंकाररहित होनेके कारण उतने समयका कर्म मुक्तात्माके समान ही होगा। तात्पर्य्य यह है कि यह अविरुद्ध करनेवाली शक्ति व्यक्तिकी नहीं है, कर्मयोगके सुकौशलपूर्ण अधिकार की है॥ २४३॥

और विशेषत्व कह रहे हैं—

इसमें प्रत्यवायका अभाव है॥ २४४॥

ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्तकी तो बात ही क्या है, अन्य साधारण

तत्र प्रत्यवायाभावः॥ २४४॥

कर्मयोगीकेलिये भी कर्मयोग सब प्रकारके प्रत्यवायसे रहित है। सकाम कर्ममें नानाप्रकारके प्रत्यवाय होनेकी सदा सम्भावना रहती है। क्योंकि कर्ममें कामनासंकल्पका सम्बन्ध रहनेसे देश और कालका समष्टिकर्म उसको बाधा दे सकता है, कर्त्ताका प्रारब्ध उसको बाधा दे सकता है, सत्, असत् कर्मके नियन्ता देवता अथवा असुरगण अपने अपने ढंगपर उसको बाधा दे सकते हैं, द्वेषी और निन्दक मनुष्य उसको बाधा दे सकते हैं, इस प्रकारसे नानाप्रकारकी बाधाएँ सकाम कर्ममें प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु निष्काम कर्मयोग यदि अपरिपक्वदशाका भी हो, तो उसमें किसी प्रकारकी बाधा प्राप्तिकी सम्भावना नहीं रहती है। चाहे योगी आरुरुक्षुदशाका हो चाहे आरूढ़दशाका हो, वह धृति-शाली हो, और अपने कर्त्तव्य कर्ममें दृढ़व्रत हो, तो उसको कोई भी बाधा उसकी गतिको रोध करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि सब बाधाएँ कामनाके आश्रयसे ही प्रतिद्वन्द्वी होकर सफलताको प्राप्त हो सकती हैं। दूसरी ओर जब मूलमें वासना नहीं रहती, तब कार्य्यकी फलसिद्धि या असिद्धि जनित चित्तचाञ्चल्यका अभाव रहनेसे ऐसे योगयुक्त अवस्थामें दैवीसहायता मिलनेकी भी सम्भावना रहती है। निष्काम कर्मयोगमें केवल कर्त्तव्यबुद्धि रहनेसे न तो कर्त्ताके उत्साहका अवरोध होता है और न दैवीसहायताप्राप्तिमें कोई असुविधा होती है। इस कारणसे भी उसका मार्ग प्रत्यवायरहित रहता है ॥ २४४ ॥

दूसरा विशेषत्व कह रहे हैं—

पतनकी संभावना नहीं है ॥ २४५ ॥

जबतक मुमुक्षु कर्मयोगकी पूर्णताको प्राप्त न करे, जबतक वह आरुरुक्षु अवस्थामें रहे, तबतक पतनकी सम्भावना रहती है; क्योंकि उस समयतक मल, विक्षेप और आवरणकी न्यूनता तो हो जाती है, पर पूर्णरूपसे उनका नाश नहीं होता है। परन्तु यदि धैर्य्यके साथ कर्मयोगका अनुसरण वह करता रहे, तो उसकी पतनकी सम्भावना नहीं रहती और उत्तरोत्तर क्रमोन्नति होती ही रहती है। सुकौशलपूर्ण कर्म मलको अपने आप दूर करता है, वासनारहित होकर भगवत्प्रीत्यर्थ जो कर्म किया जाता है, वह कर्म उपासनामें परिणत होकर विक्षेपको दूर करता है और कर्त्तव्यबुद्धिसे कर्म करते रहनेपर प्रकृति समताको प्राप्त होकर आवरण दूर हो जाता है। इस प्रकारसे एकमात्र कर्मयोगका यदि धैर्य और नियमपूर्वक अनुसरण किया जाय, तो मुक्तिपदगामी पथिकके पतनकी सम्भावना रहती ही नहीं है ॥ २४५ ॥

तीसरा विशेषत्व कह रहे हैं—

स्वार्थका हान होता है ॥ २४६ ॥

यह पहले ही कह चुके हैं कि, जीव और ईश्वरमें जो रात और दिनका-सा अन्तर है, वे क्या क्या हैं। ईश्वर जिस प्रकार

अनवपातः ॥ २४५ ॥

स्वार्थहानम् ॥ २४६ ॥

सर्वज्ञ है, जीव उसी प्रकार अल्पज्ञ है, ईश्वरका महत्त्व जीवके सम्मुख उसके सर्वजीवहितकारी और परार्थी होनेसे है, उसी प्रकार जीवका जीवत्व उसके स्वार्थी होनेपर प्रतिष्ठित है। जीवमें जितना स्वार्थका हान होता जाता है, उतना ही वह ईश्वरराज्यमें अग्रसर होता जाता है। वस्तुतः स्वार्थकी सम्पूर्ण हानि ही मुक्ति-पद प्राप्तिका कारण होता है। जिस प्रकार उपासनाकाण्डका सिद्धान्त यह है कि, अहंकारके हानसे मुक्ति होती है, उसी प्रकार कर्मकाण्डका सिद्धान्त यह है कि, स्वार्थके हानसे मुक्ति होती है। कर्मयोगकी क्रमोन्नतिद्वारा जितना जितना वासना-क्षय होता जाता है, उतना उतना उस आरुरुक्षु मुनिमें स्वार्थका हान होता जाएगा इसमें सन्देह ही नहीं॥ २४६॥

चौथा विशेषत्व कह रहे हैं—

भगवत्कार्यकी सिद्धि होती है॥ २४७॥

जब यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि, कर्मयोगनिष्णात जीवन्मुक्त महापुरुषमें व्यक्तिगत जीवकेन्द्र नष्ट हो जाता है और ईश्वर-केन्द्रके इंगितसे वह कुलालचक्रवत् भ्रमणशील रहकर कार्य्य करता है; तब यह भी मानना ही पड़ेगा कि, ऐसे महापुरुषके केन्द्रद्वारा भगवत्कार्य्यकी सिद्धि हुआ करती है। भगवत् और भागवतमें भेद न होनेसे भागवतका कार्य्य भगवत्कार्य्य है। यह सिद्धान्त निश्चय हो चुका है कि, प्रकृतिके स्पन्दनसे ही कर्मकी

भगवत्कार्य्यसिद्धिः॥ २४७॥

उत्पत्ति है; कर्म ब्रह्मप्रकृति-संजात है। प्रकृति बिना परमपुरुष ईश्वरके ईक्षणके कार्य्यकारिणी नहीं हो सकती है। अप्राकृतिक कर्म जीवकेन्द्रसे प्रकट होता है और प्राकृतिक कर्म ईश्वर-केन्द्रसे प्रकट होता है। इस कारण जीवन्मुक्त महापुरुषमें जो क्रिया होगी, वह ब्रह्म-प्रकृति-संजात होगी, जीवप्रकृति-संजात नहीं होगी ॥ २४७ ॥

मोक्षप्रसंगसे कह रहे हैं—

सत्, असत्का नाश हो जाता है ॥ २४८ ॥

जैसे ईश्वर इच्छाधीन सत् और असत् दोनों हैं, वैसे ही सद्सत्के भेदका अभाव कर्मयोगकी पूर्णावस्थामें हो जाता है। अविद्या और विद्या ये दोनों ही ब्रह्मप्रकृतिके भेद हैं। परिणामी असद्भाव और अपरिणामी सद्भाव दोनों ही ब्रह्ममें स्थित हैं। क्योंकि जगत् उन्हींमें स्थित है; उनके विराट्रूपका यही विशेषत्व है। ठीक इसी प्रकार भगवद्भावापन्न भागवत जीवन्मुक्त महा-पुरुषके कर्मयोगरूपी क्रिया-कलाप सद्सद्भावभेदरहित होते हैं, यही वैज्ञानिक रहस्य है ॥ २४८ ॥

और भी कह रहे हैं—

वह सहज है ॥ २४९ ॥

पूर्वसूत्रोंमें कर्मयोगकी महिमा और विशेषत्व सार्वभौमरूपसे

सदसन्नाशः ॥ २४८ ॥

साहजिकोऽसौ ॥ २४९ ॥

दिखाया गया है। चाहे आरुरुक्षु कर्मयोगी हो, चाहे योगारूढ़ कर्मयोगी हो, कर्मयोगकी अलौकिक और अपरिमेय शक्ति यथाधिकार सब जगह कार्य्य करती है। योगिराजकी आरुरुक्षुदशामें बाधारहित होकर प्रत्यवायरहित होकर, पतनभयसे शून्य होकर, जीवका सहजात स्वार्थका हान करता हुआ वह भाग्यवान् तत्त्वज्ञानी अन्तमें जीवन्मुक्तपदवीको निश्चय ही प्राप्त करता है। तब योगिराजकी योगारूढ़दशामें उसको लोकातीत जीवन्मुक्तिपदकी प्राप्ति होती है और इस ब्रह्मभूतदशामें वह भगवत्कार्य्यकी सिद्धि करता हुआ जीवकोटिसे उन्मुक्त होकर भेदभावरहित होते हुए प्रकृति सहजात कर्मयोगका अन्तिम फलप्राप्तिसे सहजकर्मके अधिकारी बनकर प्रवाह-पतित तृणके समान कर्म-प्रवाहमें बहते हुए प्रकृतिके क्रोड़शायी हो जाते हैं। जैसे सद्यःप्रसूत बालक सब प्रकारकी शक्तियोंसे रहित होकर एकमात्र माताकी शक्तिसे जीवित रहता है, जिस प्रकार सर्वथा वह माताके स्नेहका आश्रय करता हुआ अपनी असमर्थताके कारण कुछ भी करनेमें असमर्थ होनेपर माताके द्वारा उत्तमरूपसे जीवनयात्रा-निर्वाह करता है, और जिस प्रकार वह बालक अपने अस्तित्वको भूलकर मातामें ही अनन्य लक्ष्य होकर रहता है, उसी प्रकार सर्वकर्मविमुक्त मुक्तात्मा सहजकर्मका आश्रय लेकर कुलालचक्रवत् शरीर धारण करता हुआ प्रारब्ध वेगके क्षय होनेतक शरीरधारीरूपसे लौकिक दृष्टिमें प्रतीत होता है॥ २४९॥

सर्वोपरि महिमा कह रहे हैं—

इसमें सकामका फल होता है और निःश्रेयस भी होता है ॥ २५० ॥

इस लोकातीतदशामें जब कर्मयोगकी पूर्णताके फलरूपसे जीवन्मुक्तिपदका उदय होता है, तब उस समय उस महापुरुषको निःश्रेयसकी प्राप्ति तो हो ही जाती है और साथ ही साथ काम्य फलके सदृश भोगादि भी अप्राप्य नहीं रहते हैं। साधनदशामें वैराग्यकी पुष्टिकेलिये योगीसाधक यद्यपि विषयोंका त्याग करता हुआ मोक्षमार्गमें अग्रसर होता है; और उस समय उसको त्याग और ग्रहणका भेदज्ञान रखना अवश्यसम्भावी होता है, वह बात इस योगारूढ़दशामें भेदाभेदरहित समदशा प्राप्त होनेके कारण नहीं रहती है। इस अलौकिक पदमें मुक्तात्मा सिद्धि-असिद्धिमें समानबुद्धि होता है। इस योगयुक्त अवस्थामें वह मुक्तात्मा इन्द्रियार्थ ही इन्द्रिय कर्म करते हुये जलमें पद्मपत्रके समान उससे लिप्त नहीं होता है। और कर्म करता हुआ भी वह ब्रह्मस्वरूप महापुरुष ईश्वरके सदृश कर्मसे अतीत होकर केवल कर्मका द्रष्टा होता है। परन्तु शरीर रहनेके कारण और शरीरके साथ प्रारब्ध-का सम्बन्ध रहनेके कारण, भोगका सम्बन्ध बना ही रहता है। अतः प्रकारान्तरसे वह निःश्रेयस प्राप्त योगिराज कामनारहित होनेपर भी कामना-संजात भोगादि प्राप्त किया करते हैं। विशेषत

अत्र काम्यफलं निःश्रेयसञ्च अत्र काम्यफलं निःश्रेयसञ्च ॥ २५० ॥

भगवत् और भागवतमें अभेद होनेसे और वे भगवत्कार्य्यमें रत होनेसे आत्मप्रसाद और पूजाप्रसादके अधिकारी होते हैं। इस कारणसे भी दिव्यभोग-समूहोंका उनके सन्मुख उपस्थित होना सम्भव है। कर्म ब्रह्मस्वरूप है; क्योंकि कर्म ब्रह्मप्रकृतिसंजात है। वह कर्म यदि जीवकेन्द्रसे चालित हो, तो अविद्या-ग्रसित जीव संस्पर्श दोषसे दूषित हो जाता है। परन्तु यदि वह कर्म उस दोपसे रहित हो और ईश्वर-केन्द्रसे चालित हो, तो वह कर्म ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसे कर्मयोगसे युक्त मुक्तात्मा भुक्ति और मुक्ति दोनोंके अधिकारी हो सकते हैं। इस सूत्रमें जो वचनोंकी दुरुक्ति है, सो सिद्धान्तकी दृढ़ता और तत्त्वजिज्ञासुओंको शंकारहित करनेके अर्थ है। ब्रह्म, ब्रह्मप्रकृति, कर्मयोग और जीवन्मुक्त महापुरुषको नमस्कार है॥ २५० ॥

॥ कर्ममीमांसादर्शन चतुर्थपाद मोक्षपाद समाप्त ॥

सनातनधर्मके अद्वितीय विद्वान् ब्रह्मीभूत स्वामी दयानन्दजी महाराजद्वारा लिखित—

धर्म-विज्ञान

(तीन खंड)

यह सनातनधर्मका विश्वकोश है। इसमें धर्म और आधुनिक विज्ञानके समन्वयके साथ धर्मके विविध अङ्गोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सनातनधर्मको पूर्णरूपसे समझनेके लिये एकमात्र यही पुस्तक पर्याप्त है। इसमें आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म, देशसेवा और सनातनधर्म, स्वराज्य और सनातनधर्म, आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार, नित्यकर्म, षोडश-संस्कार, श्राद्ध-तर्पण, शक्ति-संचय और आश्रमधर्म, सतीधर्म-रहस्य, विवाहकाल-निर्णय आदिका महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रकाशित है।

मूल्य क्रमशः—५)-४)-४) मात्र।

गीतार्थचन्द्रिका

अधिकारीभेदसे कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी प्रधानता-युक्त विस्तारित हिन्दीव्याख्यासहित श्रीमद्भगवद्गीताका यह अपूर्व संस्करण है। मूल्य ३) है।

कार्याध्यक्ष—

भारतधर्ममहामंडल

जगतगंज, बनारस कैंट।

भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्री११०८स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज-प्रणीत

दर्शनादर्श

वैदिक महादर्शनविज्ञान समझनेके लिये आदर्शदर्पण स्वरूप है। इस विषयकी ऐसी उत्तम पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। जैसा नाम वैसा ही गुण। यह दर्शनशास्त्रके प्रेमियोंके लिये अवश्य संग्रहणीय अद्भुत ग्रन्थ है हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित—१) मात्र।

उपदेशक महाविद्यालय

श्रीभारतधर्म महामंडल प्रधान कार्यालय महामंडलभवन जो काशीके मध्यभागमें महामंडल नगरके समीप स्थापित है, उसमें बहुकालसे श्रीउपदेशक महाविद्यालय प्रतिष्ठित है। जिसमें सुयोग्य धर्मवक्ता एवं सुयोग्य धर्मसेवक यथायोग्य उचित शिक्षा देकर प्रस्तुत किये जाते हैं। उनसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता, बल्कि उनको योग्यतानुसार कई प्रकारकी छात्रवृत्ति दी जाती है। काशीके उच्चश्रेणीके छात्रवृन्द तथा भारतके विभिन्न विभिन्न प्रान्तोंके छात्रवृन्द इस संस्थासे लाभ उठावें।

पत्रव्यवहारका पता—

कार्याध्यक्ष

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

महामंडल भवन, जगतगंज, बनारस कैंट।

गो-व्रत-तीर्थ-महिमा

इस पुस्तकमें गोमहिमा, व्रतोत्सवमहिमा, और तीर्थमहिमा शास्त्रीय प्रमाण तथा वैज्ञानिक युक्तिके साथ विस्तृतरूपसे वर्णित है। इस पुस्तकसे सनातनधर्मके सबसे श्रेष्ठ, गोमहिमा, व्रतोत्सव-महिमा और तीर्थमहिमाका रहस्य जान सकते हैं। मूल्य ।॥)

व्रतोत्सव चन्द्रिका

अनेक प्रतीक्षाके बाद यह ग्रन्थ पुनः संशोधित और परिवर्तित होकर प्रकाशित हुआ है। इसमें वर्षभरके प्रत्येक मासके व्रतोत्सवोंके शास्त्रीय स्वरूपपर प्रकाश डालकर उनकी अनुष्ठानविधि उनका लौकिक स्वरूप प्रचलित कथादि और अन्तमें इन व्रतोत्सवोंसे हमें देश तथा जाति-हितकर कैसी शिक्षा मिलती है इसका सुन्दर विवेचन है। मूल्य ५)

श्रीमद्भागवतका एकादश स्कन्ध

(मूल और हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पूर्ण भागवतका सारभूत यही एकादश स्कन्ध ज्ञान और भक्तिसे ओतप्रोत है। सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि सभी गूढ़ विषयोंका सुन्दर सरस विवेचन इस एक स्कन्धमें सन्निहित। मूल्य ३॥)